राजपूतों की उत्पत्ति

"राजपूत या 'रजपूत' शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश अर्थात् लौकिक रूप है।" श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 41 पर राजपूतों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए यह वाक्य लिखा है। राजपुत्र शब्द का प्रयोग नया नहीं है। प्राचीन भारत के ग्रन्थों में इसका व्यापक प्रयोग मिलता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र, कालीदास के नाटकों व बाणभट्ट के हर्षचरित तथा कादंबरी में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। ह्वेनसांग चीनी यात्री ने भी, जो हर्षवर्धन के समय में आया था, राजाओं को कहीं क्षत्री और कहीं राजपूत लिखा है। इस बात से इस शब्द की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। वेद और उपनिषदों में भी 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ से लगाकर सोलहवीं शताब्दी में चन्द्रबरदायी द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' में 'राजपूत' शब्द का प्रयोग जाति के लिये न होकर योद्धा के लिये किया गया है। भारत के शासक लोग मुसलमानों के आक्रमण तक क्षत्रिय ही कहलाते थे। श्री जगदीशसिंह गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 8 पर लिखते हैं कि—"मुसलमानों के आक्रमण तक यहाँ के राजा क्षत्रिय ही कहलाते थे। बाद में इनका बल टूट गया और ये स्वतन्त्र राजा के स्थान पर सामन्त, नरेश हो गये। मुसलमानों के समय में ही धीरे धीरे इन शासक राजाओं की जाति के लिये राजपुत्र या राजपूत शब्द काम में आने लगा।" इस प्रकार राज्य खोकर राजपुत्र-राजपूत रह गये।

गौरीशंकर जी ओझा का भी यही मत है। वे अपनी पुस्तक राजपूताने का इतिहास की पहली जिल्द के पृष्ठ 42 पर लिखते हैं कि—"मुसलमानों के राजत्वकाल में क्षत्रियों के राज्य क्रमशः अस्त होते गये और जो बचे उनको मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अतएव वे स्वतंत्र राजा न रह कर सामन्त से बन गये। ऐसी दशा में मुसलमानों के समय राजवंशी होने के कारण उनके लिये 'राजपूत' नाम का प्रयोग होने लगा।"

डा० भार्गव अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 8 पर यह बताते हैं कि—"मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व राजपूत शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं था।" यह सच है कि यह जाति न होकर शासक वर्ग था और 'राजपूत' जाति के रूप में आठवीं शताब्दी के बाद में प्रयोग में आने

गया। इतिहासकार डा० स्मिथ ने अपनी पुस्तक (The Early History of India) के पृष्ठ 423 पर लिखा है कि "राजपूत जाति आठवीं या नवीं शताब्दी में यकायक प्रकट हुई।" जैन और बौद्ध ग्रन्थ भी नवीं शताब्दी तक राजपूत शब्द का प्रयोग नहीं करते। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि चाणक्य, कालीदास और बाणभट्ट का राजपुत्र मुसलमानों के समय राजपुत्र बिगड़कर राजपूत बन गया। यह कहना गलत नहीं है कि राजपूतों की उत्पत्ति आठवीं शताब्दी में हुई। राजपूत भारत की प्राचीन जातियों में से हैं। अतः राजपूतों की उत्पत्ति का पहला सिद्धान्त स्पष्ट है कि राजपूत शब्द राजपुत्र का ही अपभ्रंश है, जिसका व्यापक प्रयोग मुसलमानों के आगमन के साथ शुरू हुआ था। राजपूत शब्द राजपुत्र का ही रूप है जिसका प्रयोग मुसलमानों ने उस बहादुर जाति को सम्बोधन करने के लिये किया होगा। और 14 वीं शताब्दी में इसका प्रयोग राजपूत जाति के रूप में होने लगा। इससे लगता है कि राजपूत भारत के ही निवासी थे।

इस प्रकार राजपूतों की उत्पत्ति के बारे में पहला सिद्धान्त यह है कि वे आर्यों में क्षत्री ही थे और राज्य जाने के साथ राजपुत्र की जगह राजपूत रह गये जो बिगड़ी भाषा का उच्चारण था।

2. राजपूत विदेशी हैं—भारत में अधिकांश लोग विदेशों से आये। आर्यों से लेकर अंग्रेजों तक कोई एक दर्जन विदेशी शासकों ने भारत पर आक्रमण किया और फिर यहीं बसकर भारतीय धर्म व संस्कृति को अपना लिया। इसी आधार पर कुछ भारतीय व कुछ विदेशी लेखकों का मत है कि राजपूत भी विदेशी थे। कर्नल जेम्स टाड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 29 पर कहते हैं कि—"राजपूत शक अथवा सिथियन जाति के वंशधर हैं।" अपने इस कथन की पुष्टि के लिये टाड महोदय दो तर्क देते हैं। प्रथम तो यह कि विश्व के सभी प्रमुख धर्म चाहे वह बेबीलोन का हो या यूनान का, भारत का हो या मूसा का कथन, इसी बात पर जोर दिया है कि *मूलतः मानव सभ्यता का विकास मध्य ऐशिया में हुआ।* और पहले पुरुष को किसी ने 'सुमेर' कहा और किसी ने 'बकस' और किसी ने 'मनु'। इन सब बातों को लेकर टाड महोदय कहते हैं कि—"इन बातों से साबित होता है कि संसार के सभी मनुष्यों का मूल स्थान एक ही था और वहीं से ये लोग पूर्व की तरफ आये।" पृष्ठ 38 आर्य, यूनानी, शक, हूण, कुशान चों) सभी विदेशी जातियाँ मध्यभारत से आईं थीं अतः टाड महोदय का है कि राजपूत भी, मध्य एशिया अर्थात्, बाहर से आये थे और विदेशी थे।

दूसरा तर्क जो टाड महोदय प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि राजपूतों के रीति-रिवाज आदि शक सिथियन और हूणों से मिलते हैं। जैसे सूर्य की पूजा, सतीप्रथा, अश्वमेध यज्ञ, घोड़ों की पूजा आदि राजपूत भी करते थे और शक

व शिथियन लोग भी। ऐसी दशा में दोनों के एक होने का भ्रम स्वभाविक सा है। श्री टाड के शब्दों में—"राजपूतों के स्वभावों और उनकी आदतों से भी इस बात का साफ साफ पता चलता है कि वे और शक लोग किसी समय एक थे... ... शक लोगों की वीरता, उनकी आदतें और उनके विश्वास राजपूतों में पूर्ण रूप से देखने को मिलते हैं।" इन सब बातों का साफ अर्थ यह है कि आरम्भ में बहुत थोड़े से मनुष्य संसार में थे और वे बिना किसी भेद और विचार के एक ही स्थान पर रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे।" पृष्ठ 38-39 किन्तु टाड के इन दोनों सिद्धान्तों का खडन भारतीय लेखक करते हैं डा० भार्गव, डा० गोपीनाथ, डा० दशरथ शर्मा सभी राजपूतों को आर्यों की सन्तान और भारत का मूल निवासी मानते हैं। क्योंकि आर्य भी सतीप्रथा, अश्वमेध यज्ञ, सूर्य पूजा आदि करते थे। मनुस्मृतियों में प्रजा की रक्षा करने वाला क्षत्रिय माना गया है (मनुस्मृति 89) इस आधार पर राजपूत भी प्राचीन आर्य, क्षत्री थे। प्राचीन आर्यों में पाण्डु की दूसरी रानी माद्री सती हुई थी, राम व युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस आधार पर श्री गौरीशंकर ओझा राजपूतों को आर्य और क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ अपनी पुस्तक अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया में पृष्ठ 321-22 पर यही तर्क देते हैं कि 'राजपूत हूणों की सन्तान है।' उनका कहना है कि विदेशी गुर्जरों ने गुजरात को जीतकर उसका नाम अपने नाम पर गुजरात रख दिया। उसी प्रकार हूणों ने भी भारत की परम्पराओं को अपना कर राजस्थान को अपना घर बनाया। आज गुर्जर राज्य तो नहीं है पर गूजर जातिशेष है। इसी प्रकार हूणों ने भी राज्य समाप्त होने पर राजपूत नाम धारण कर रहना शुरू कर दिया होगा। स्मिथ निष्कर्ष निकालते हैं कि "हूण जाति ही विशेषकर राजपूताने और पंजाब में स्थायी रूप से आबाद हुई, जिसमें अधिकांश गुर्जर थे और गूजर कहलाये।" पृष्ठ 411 इस आधार पर राजपूत गुर्जर अथवा हूँण के जो राज्य खोने के बाद यहीं बस गये थे। इस तर्क का खडन करते हुए श्री गहलोत अपनी पुस्तक—'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 9 पर लिखते हैं कि—"विसेंट स्मिथ आदि का राजपूत जाति की उत्पत्ति को आठवीं शताब्दी के करीब मानना इस कारण से असत्य प्रतीत होता है कि उससे पहले ईसा की सातवीं सदी में ही राजपूताने के कई प्रदेशों में गुहिल, चावड़ा, यादव आदि राज्य वंशों के राज्य थे। जैसे विक्रमी स० 625 के आसपास में मेवाड़ में गुहिलों (गहलोतों) का और विक्रमी स० 685 में भीनमाल में (628 ई०) चावड़ा क्षत्रियों का राज्य पाया जाता है।" इन तर्कों के आधार पर डा० स्मिथ का यह कहना कि—"राजपूत जाति आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक प्रकट हुई।" सर्वथा

मिथ्या सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इस शताब्दी से पहले का राजपूत इतिहास
उपलब्ध है। अत राजपूत विदेशी नहीं थे।

3 दैविक शक्ति सिद्धान्त—हर शासक अपने आपको बड़ा बनाता
रहा है। विशेष तौर पर उसके दरबार के लोग शासक को देवता तुल्य ईश्वर
द्वारा भेजा गया या देवताओ की सन्तान बनाता है। यही परम्परा राजपूतों
पर भी लागू होती है। मनुस्मृति की नवीं जिल्द के 303 से 311 तक के
श्लोको मे क्षत्रियो की उत्पत्ति ब्रह्मा से बनाई है। ऋग्वेद के अनुसार ये ब्रह्मा
की बाहो से जन्मे थे और इन दोनो ग्रन्थो के आधार पर इनका काम निर्बल
लोगों की रक्षा करना बताया गया है। सातवी शताब्दी से क्षत्रियो ने अपना
महत्त्व खो दिया था और वे अन्य तीन वर्णों की रक्षा नही कर सके थे, किन्तु
राजपूतो के उत्थान के साथ इन ब्रह्मा की सन्तान का महत्त्व पुन बढने लगा
राजपूतो को चारण व भाटो ने इनकी खोई हुई महिमा को पुन दोहराने के
लिये उन्हें ब्रह्मा का पुत्र कह कर पुरानी दैविक शक्ति सिद्धान्त को दोहराया।
ब्रह्मा से क्षत्रियो की उत्पत्ति मानी गई तो साहित्यकारों ने राजपूतो का राजा
होने के नाते पुन दैविक शक्ति या (Divin Power) मान कर बढा चढा कहा है।
नद्धरहरण मे एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख मे रघुवश कीर्ति
शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द राजपूतो का महाकाव्य काल के राम
और कृष्ण से सम्बन्ध जोडने के लिए किया गया है। दसवी शताब्दी के राज-
पूतो को राम या लक्ष्मण का वशज माना गया है। इस प्रकार एक शिलालेख
व दसवी शताब्दी के साहित्य द्वारा राजपूतो की देव कुल या दैविक शक्ति द्वारा
उत्पत्ति बताई है। इस सिद्धान्त से भी स्पष्ट है कि राजपूत यदि रामायण और
महाभारत काल के राम कृष्ण के वशज हैं तो भारतवासी व आर्यों के
वशज ही हैं।

इस प्रकार एक सिद्धान्त उन्हे आर्य क्षत्री और राजपूत बनाता है, दूसरा
उन्हे शक या सिथियन और हूण या गुर्जर विदेशी बनाता है और तीसरा
सिद्धान्त उन्हें राम के वश का दैविक शक्ति वाला शासक बताता है। अब हम
अन्य सिद्धान्तो को भी देखें।

4. अग्नि कुण्ड-उत्पत्ति—चन्द बरदाई ने अपने प्रसिद्ध काव्य पृथ्वी-
राज रासो' के प्रथम भाग मे पृष्ठ 45 से 47 तक राजपूतो की उत्पत्ति 'अग्नि
कुण्ड' से बताई है। चन्द बरदाई के इस सिद्धान्त के अनुसार आबू पर्वत प
निवास करने वाले मुनि गौतम, अगस्त और विश्वामित्र आदि के यज्ञो क
राक्षस मांस, हड्डी और मल मूत्र डालकर अपवित्र कर देते थे। इन राक्षस
का अन्त करने के लिए वशिष्ठ मुनि ने एक श्रेष्ठ यज्ञ अग्नि मे से तीन योद्
उत्पन्न किये, जो परमार, चालुक्य और प्रतिहार कहलाये। जब ये तीनो

ऐसा नहीं कर सके तो वशिष्ठ ने चौथा हथियारों से सुसज्जित योद्धा उत्पन्न किया जिसका नाम चौहान रखा गया। इसी योद्धा ने राक्षसों का अन्त कर देश में शान्ति स्थापित की और इस प्रकार राजपूतों का जन्म हुआ। श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पहले भाग के पृष्ठ नौ पर अग्नि कुण्ड सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि—"यह सब पृथ्वी-राजरासो के रचयिता के दिमाग की उपज है। आधुनिक खोज के अनुसार अग्निवंशी कोई स्वतन्त्रवंश नहीं माना जा सकता।" इस सिद्धान्त के खण्डन में दो तर्क दिये जाते हैं। पहला तो यह कि अग्नि से उत्पन्न होने का अर्थ है धर्म परिवर्तित या छोटे लोगों की अग्नि यज्ञ द्वारा शुद्धि करना। कई विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में जो क्षत्री बौद्ध बन गये थे उन्हें अग्नि यज्ञ द्वारा पवित्र कर वापस क्षत्री बनाया गया होगा अत: ये लोग अग्निवंशी कहलाये। दूसरा मत अग्नि कुण्ड का यह है कि प्राचीन आदिवासी भील, मीने आदि लोगों को यज्ञ द्वारा शुद्धि कर उन्हें क्षत्री बनाया गया होगा तो उन लोगों ने अपने आपको अग्निवंशी कहा होगा। इसी अग्नि कुण्ड पर एक मत और है कि विदेशी शक, हूण, यूची आदि जो स्थाई रूप से भारत में बस गये थे उनकी यज्ञ द्वारा शुद्धि कर उन्हें क्षत्रियों में मिला लिया गया होगा क्योंकि ये विदेशी लड़ाकू जाति के थे और क्षत्रियों में ही मिल सकते थे। इस प्रकार अग्नि कुण्ड की सत्यता इतनी मात्र हो सकती है कि ऋषियों ने बौद्ध धर्म के अनुयायी क्षत्रियों को, या आदिवासी जातियों को, या शक, हूण, यूची आदि विदेशियों को यज्ञ द्वारा शुद्धि कर क्षत्री बनाया होगा। विदेशी विद्वान् विलियम कुक लिखते हैं कि—"अग्नि कुण्ड से तात्पर्य अग्नि द्वारा शुद्धि से है। "इस हवन कुण्ड के द्वारा क्षत्रियों को शुद्ध किया गया ताकि वे पुन: हिन्दू जाति व्यवस्था में प्रविष्ठ हो सकें।" अत: यह कथा कि वशिष्ठ ने अग्नि से चार योद्धा उत्पन्न किये जिन्होंने 400 वर्ष तक राज्य किया सर्वथा निर्मूल बात है जिसे इस वैज्ञानिक युग में नहीं माना जा सकता। आबू या पुष्कर में जो यज्ञ हुये वे शुद्धि के लिये थे न कि जन्म के लिये।

5. ब्राह्मणों से उत्पत्ति—डॉ० भण्डारकर प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने चौहानों की उत्पत्ति किसी विदेशी (खज्जर) ब्राह्मण से बताई है। फिर तो कई विद्वानों व लेखकों ने राजपूतों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बता दी। मंडोर के प्रतिहार ब्राह्मण के वंश के थे। इनके पूर्वज ब्राह्मण हरिश्चन्द्र तथा उनकी पत्नी भादरा की सन्तान थीं। इसी प्रकार आबू के प्रतिहार वशिष्ठ ऋषि की सन्तान थे। ऐसा भी होता था कि राजपूत अपने पुरोहित को गोत्र अपना लेते थे। इस विचार का प्रचार या प्रभाव यों होता है कि ब्राह्मण पहले राजा भी हुआ करते थे। टाड महोदय इस मत पर जोर देते हैं। वे अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 40-41 पर कहते हैं कि—"भारत के शासकों

मे ब्राह्मणो का स्थान कम नहीं रहा। जमदग्नि से लेकर महाराष्ट्र के पेशवा तक मे इस बात के प्रमाण मिलते हैं.............रावण ब्राह्मण था और लका मे राज्य करता था।" ब्राह्मण कही कही राजा से भी बड़े थे। मिथिला का राजा जनक और अयोध्या का राजा दशरथ ब्राह्मण राजर्षि विश्वामित्र मे हाथ जोड़कर प्रार्थना करते थे। अत. कुछ लेखों में, जिनमे पांचवी शताब्दी का 'पिंगल सूत्र कृति' भी सम्मिलित है राजपूतों को बड़ा बताने के लिये उन्हें ब्राह्मणों की सन्तान बताया है। आधुनिक इतिहासकार डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने इस बात को स्वीकार किया है कि मेवाड के गुहिलोत नागर जाति के ब्राह्मण गुहेदत्त के वशज हैं। श्री ओझा ने भी इस सिद्धान्त को माना है। मेवाड के महाराणा कुम्भा ने जयदेव के 'गीत गोविन्द' पर टीका लिखते समय स्वय स्वीकार किया है गुहिलोतों की उत्पत्ति गुहेदत्त से हुई है। किन्तु अधिकांश राजपूत इसे स्वीकार नही करते।

6 सूर्य व चन्द्र वन्शी—10 वी शताब्दी मे राजपूतों का इतिहास लिखने वाले चारणों की यह धारणा थी राजपूत सूर्य व चन्द्र वशी है। पौराणिक साहित्य मे राम व लक्ष्मण को विभिन्न देवताओं का अवतार बताया है। जब दूसरे लोग अपनी उत्पत्ति देवताओ से बताने लगे तो क्षत्रियो ने भी अपने आपको रघुवशी अर्थात् राम के वश का कहना शुरू कर दिया। दो शिला लेख भी ऐसे मिले जिनम राजपूतो को सूर्य व चन्द्र वशी कहा गया है। इसी आधार पर टाड महोदय ने भी राजपूतों की परम्परा के अनुसार उन्हे सूर्य व चन्द्र वशी मान लिया। मुगल दरबारी लेखक अबुल फजल ने भी इसी बात का विश्वास कर राजपूतो को अपनी पुस्तको में सूर्य व चन्द्र वशी कहा है। इस सम्बन्ध मे प्रथम शिलालेख एक चित्तौड मे 1274 ई० का मिला है और दूसरा अन्कलेश्वर मे 1285 ई० का है। टाड के अनुसार, पृष्ठ 42 पर—"व्यास ने सूर्य पुत्र वैवस्वत मनु से लेकर रामचन्द्र तक सूर्य वश के सत्तावन राजाओ के नामो का उल्लेख किया है।" " " ययाति से चन्द्र वश आरम्भ होता है।......युधिष्ठिर, जरासन्ध और बहुरथ तक जो कृष्ण और कस के समकालीन थे.......चन्द्र वशी थे।" इस प्रकार टाड महोदय वेद व्यास के कथनानुसार राजपूतों को सूर्य व चन्द्र वशी मानते हैं और पुराणो के आधार पर और विशेष तौर पर अग्निपुराण के अनुसार—"चन्द्र वशी कृष्ण और अर्जुन तथा सूर्य वशी राम और लव कुश के वशज राजपूत थे।" यह धारणा राजपूतो मे बहुत लोकप्रिय भी है। श्री गहलोत पृष्ठ 11 पर कहते है कि—"सारांश यह है कि वर्तमान राजपूतों के राजवश वैदिक और पौराणिक काल मे राजन्य, उग्र, क्षत्रिय आदि नाम से प्रसिद्ध सूर्य व चन्द्र वशी क्षत्रियों ही की सन्तान हैं।"ये न तो विदेशी ही हैं और न विधर्मियो (अनार्यों)

ह वशज हो, जैसा कि कुछ यूरोपियन लेखको ने अनुमान किया है।—'गहलोत राजपूताने का इतिहास'—पृष्ठ 11।

पृथ्वीराज रासो मे भी चन्द्र बरदाई ने एक पंक्ति मे क्षत्रियो के तीन वशो का वर्णन किया है। वह रवि-शशि और यादव इन तीन वशो का जिकर करता है। इसके अतिरिक्त अनेक शिलालेख भी इस प्रकार के मिले हैं जो राजपूतों को सूर्य व चन्द्र वशी बताते हैं। अत वेद व्यास जी व पुराणों के आधार पर, टाड द्वारा, मर्यादित वशावली व गहलोत के कथनानुसार राजपूत लेखकों के एक मत न होने पर भी सूर्य वशी व चन्द्रवशी ही माने जाते हैं।

7. शिलालेख—लिखित साहित्य के अतिरिक्त अनेक ऐसे शिलालेख भी प्राप्त हो चुके हैं जो राजपूतो को सूर्य व चन्द्र वशो बताते हैं। इन शिला लेखो का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

(1) उदयगिरी का शिलालेख जो प्रथम शताब्दी मे मिला था। इसमे वर्णन किया है कि क्षत्री एकदम नष्ट नही हुए थे।

(2) तेजपाल मन्दिर से 1230 मे प्राप्त शिलालेख जिसमे लिखा है कि धुम्रपाल, परमाल राजा सूर्यवशी थे।

(3) सीकर जिले मे हर्षनाथ के मन्दिर से प्राप्त शिलालेख के अनुसार चौहानो के पूर्वज सूर्य वंशी थे।

(4) अजमेर मे श्री गौरीशकर ओझा द्वारा प्राप्त शिलालेख मे सूर्य वंश की भारत में प्रस्तुति का वर्णन किया गया है।

(5) चित्तौड़ की जयदेवी के मन्दिर से प्राप्त 14 वी शताब्दी का शिलालेख। इसमे सूर्य वश का वर्णन है।

(6) चिड़ावा में प्राप्त 15 वीं शताब्दी का शिलालेख वन्शावली देता है।

(7) जालौर व नाडौल में प्राप्त 13 वी शताब्दी के शिलालेख जिनमे राठौरों को सूर्य वशी क्षत्री कहा गया है।

श्री दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक 'अर्ली चौहान डाइनेस्टीड' में लिखते हैं कि—"अग्निकुण्ड का सिद्धान्त राजपूत चारण व भाटो की मानसिक कल्पना थी जिसका एक मात्र आधार अपने सरक्षकों के लिए उच्च कुल तलाश करना था। राजपूत सूर्य व चन्द्रवशी थे।"

8. निष्कर्ष—राजपूतो को बडा बनाने के लिए उस समय के लेखको, धार्मिक ग्रन्थों, और शिलालेखों मे कभी उन्हे दैविक शक्ति से उत्पन्न किया, इन्द्र और ब्रह्मा का पुत्र बताया, मनु की सतान कहा और कभी उन्हें ब्राह्मणो की

सन्तान बताकर सम्मानित किया। अग्निकुण्ड का सिद्धान्त बनाकर उन्हें देव ताओ की कृति बनाना चाहा। यहाँ इतने समर्थक और अच्छा बताने वाले हैं वहाँ उन्हें विदेशी, धर्म परिवर्तित और आदिवासी अनार्य कहने वालो की भी कमी नही। स्मिथ ने उन्हें हूण कहा, भण्डारकर ने उन्हे नागर ब्राह्मण की सतान कहा। वेद व्यास जी ने उन्हें सूर्य व चन्द्र वशी कहा और इस प्रकार अनुसधान के लिए प्रचुर जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। राजपूत क्या हैं? यह अभी भी अनुसधान का विषय है। किन्तु इन देश भक्त वीरो को विदेशी या दलित वर्ग का बनाकर तो उनका ही नही राष्ट्रीयता का व देश के गौरव का अपमान करता है अत अन्त मे डॉ॰ कानूनगो के शब्दो मे इस विवाद को समाप्त करे जो उन्होने अपनी पुस्तक 'Studies in Rajput History' मे कहे हैं कि—"अग्निकुण्ड की कहानी इस प्रगति के युग मे नहीं चल सकती, उनकी सूर्य अथवा चन्द्र से उत्पत्ति एक काल्पनिक सत्य हो सकती है। राजपूत चाहे किसी भी रूप मे जन्मे हो लेकिन यह सत्य है कि इतिहास मे उन्होने महाकाव्य काल के क्षत्रियो की परम्पराओ को बनाये रक्खा है।"

-

अध्याय 2

इतिहास के साधन

इतिहास के साधन

राजस्थान अपनी वीरता, शौर्य और देश भक्ति के लिये विश्व में अमर है। ससार का कदाचित-ही कोई भाग ऐसा हो जिसका शौर्य इतना गौरवपूर्ण हो जितना राजस्थान का। कर्नल टाड ने भी कहा है कि—"राजस्थान की तुलना में यूनान के स्पार्टा का शौर्य भी हलका रह जाता है।" आधुनिक अनुसंधानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सिन्ध घाटी के सभ्य लोगो में राजस्थान की गणना थी। महाकाव्य काल के भग्नावशेष जयपुर के पास वैराठ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यही वैराट मे पाण्डवों ने द्रोपदी के साथ अज्ञातवास किया था। इसी प्रदेश की बीजक पहाड़ी में अशोक महान् का शिलालेख पाया गया है। स्पष्ट है कि विश्वविख्यात सम्राट अशोक से भी इस प्रदेश का आर्थिक सम्बन्ध था। बयाना, (भरतपुर के पास) बागड लैण्ड (बाँसवाड़ा) और रौठ (जयपुर मे) में प्राप्त सैंकड़ों प्राचीन व मध्यकालीन सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन से आज तक राजस्थान भारत के इतिहास मे महत्वपूर्ण अंग रहा है। इतना अवश्य अन्तर है कि स्थानो के नाम भिन्न थे। ऐसी दशा में इस महत्वपूर्ण प्रदेश का इतिहास जानने की इच्छा प्रबल हो जाती है। किन्तु इस वीर देश की ऐतिहासिक सामग्री को अनेको तूफानो का सामना करना पड़ा है। निरन्तर होने वाले विदेशी आक्रमण यहाँ के स्मारकों, इमारतों और भवनो को नष्ट कर गये। और आक्रमणकारियो के धार्मिक मतभेदो ने यहाँ की अमूल्य लिखित सामग्री को ईर्षा वश जलाकर हमारे गौरव को बडा आघात पहुँचाया है फिर भी जो सामग्री प्राप्त हो चुकी है और अनुसधानो द्वारा जो साधन जुटाये जा रहे हैं उनसे राजस्थान का गौरवमय इतिहास फिर चमक उठा है।

श्री रामवल्लभ सोमानी, अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के पृष्ठ 329 पर कहते हैं कि—"शिलालेख, दानपत्र और पुस्तक प्रशस्तियाँ इतिहास के सबसे अधिक प्रमाणिक साधन माने जाते हैं।" उन्होने केवल कुम्भा के अध्ययन के लिये सौ से अधिक लेखो का अध्ययन किया जिनमे उस समय की राजनैतिक, साहित्यिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो का ज्ञान होता है। यह सत्य है कि शिलालेख, दानपत्र और पुस्तक प्रशस्तियाँ इतिहास के साधन हैं किन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनेक साधन हैं जिनकी ओर कदाचित सोमानी जी का ध्यान आकर्षित नहीं हो सका।

सुप्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकार अलबरुनी ने अपनी पुस्तक 'तहकीके हिन्द' में लिखा है—"दुर्भाग्य है कि हिन्दू लोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर ध्यान नहीं देते।" अलबरुनी ने आगे यह स्वीकार किया कि राजवंशों का क्रमबद्ध इतिहास भी था किन्तु जनसाधारण को उपलब्ध न था। विदेशी आक्रमणकारियों ने काफी सामग्री को नष्ट कर दिया फिर भी जो सामग्री प्राप्त हुई है वह पर्याप्त है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' की जिल्द पहली के पृष्ठ ८ पर कहते हैं कि—"मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बच रही और जो अब तक उपलब्ध हो चुकी है, वह भी इतनी प्रचुर है कि उसकी सहायता से एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

1. हमारे यहाँ की प्राचीन पुस्तकें।

2. विदेशियों के यात्रा विवरण और इस देश के वर्णन सम्बन्धी ग्रन्थ।

3. प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।

4. प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।

इस प्रकार ओझा जी राजस्थान के इतिहास के साधनों को चार भागों में बाँटते हैं और सोमानी जी के शिलालेख, दानपत्र और प्रशस्तियों के साथ सिक्के, मुद्रा, शिल्प जोड़ कर विदेशियों के विवरणों को भी महत्व देते हैं।

इसके विपरीत श्री सुमनवीर सिंह गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 13 पर साधनों को सिर्फ दो भागों में बाँटते हैं। उनके निजी शब्दों में—"राजस्थान का इतिहास जानने के मुख्य साधन हैं—पुरातत्व की सामग्री व साहित्यिक सामग्री।" पुरातत्व सामग्री में शिलालेख, सिक्के, स्मारक, शिलापट्ट, पत्थर के औजार, मिट्टी के बर्तन, मृण मूर्तियाँ आते हैं और साहित्यिक सामग्री में ऐतिहासिक महा-काव्य, संस्कृत, हिन्दी, फारसी, राजस्थानी व अंग्रेजी में लिखे गये इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ आते हैं। श्री गहलोत साहित्यिक सामग्री पर बहुत जोर देते हैं। भिन्न भिन्न भाषाओं में प्राप्त विवरण यहाँ के जीवन पर काफी प्रकाश डालता है। इसके अलावा राजस्थान के पुरालेखागार में कई फरमान, निशान, मन्शूर और हस्बुल हुक्म संग्रहित हैं जिनसे इतिहास की काफी जानकारी मिलती है।

डा० वी० एस० भार्गव अपनी पुस्तक 'मध्य कालीन राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 13 पर राजस्थान का इतिहास जानने के आठ साधन बताते हैं। उनका विचार है कि—"यदि इतिहास वास्तव में सत्य का प्रकाशक और जीवन का शिक्षक है तो किसी भी देश और जाति का सच्चा इतिहास लिखने

मे बडी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।" यह सामग्री बहुत जगह बिखरी है और बहुत सी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट हो चुकी है फिर भी राजस्थान का इतिहास निम्नलिखित आधारों पर लिखा जा सकता है— (1) शिलालेख, (2) सिक्के, (3) स्मारक, (4) ऐतिहासिक महाकाव्य, (5) रासो, (6) हिन्दी और राजस्थानी साहित्य, (7) जैन पट्टावली तथा (8) मुस्लिम तवारीखें। इस प्रकार डा० भार्गव, श्री ओमा, श्री गहलोत और श्री सोमानी सब मिलकर अलग अलग शब्दों में एक ही बात कहते हैं कि साहित्य, शिलालेख व स्मारक इतिहास के साधन हैं।

डा० के० एस० गुप्ता और डा० एल० पी० माथुर अपनी पुस्तक 'बनेड़ा संग्रहालय के अभिलेख' के प्रीफेस में बताते हैं कि बहुतसा महत्वपूर्ण इतिहास राजस्थान के ठिकाणों मे छिपा पड़ा है जिसे वे लोग प्रकाशित नहीं करना चाहते। यदि उसे प्रकाश में लाया जाय तो विस्तृत सच्चे इतिहास का पता चलेगा जो टाड के इतिहास से भिन्न है और मूल्यवान होगा। डा० गुप्ता व माथुर के शब्दों में—"इतिहास के पृष्ठों में अमर राजस्थान का अभी कोई विधिवत इतिहास नहीं है।" 20 वीं शताब्दी तक इतिहास का पता लगाने के लिये सिर्फ टाड का अनुकरण किया जाता था। वास्तव मे राज्यों के संग्रहालय में प्रचुरता से सामग्री उपलब्ध है। इन सब विद्वानों के भिन्न भिन्न विचारों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजस्थान का इतिहास हम निम्नांकित साधनों द्वारा जान सकते हैं—

1. शिलालेख और सिक्के।
2. पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री और
3. साहित्यिक साधन।

1 शिलालेख व सिक्के आदि:—

As you Like it

अंग्रेजी के महान् कवि शेक्सपीयर ने अपनी पुस्तक 'एज यू लाइक इट' में कहा कि—'जंगल की एक सूखी लकड़ी हमें मनुष्य का अनन्त ज्ञान दे सकती है और झरनों में किताबें भरी हैं, पत्थरों में इतिहास हँस रहा है।" कवि का आशय कदाचित् प्रकृति से था, किन्तु आधुनिक काल के अनुसंधानों ने प्रमाणित कर दिया है कि पहाड़ों की चोटियाँ, घने जंगल और बड़ी बड़ी चट्टानों को तराश कर मानव ने अपनी भावनाओं को पत्थर के हृदय पर उतार दिया था। वही आज हमारे इतिहास का प्रमाण बन गया है।

राजस्थान में एक कहावत प्रसिद्ध है कि—'नांव गीतड़ा ने भीतड़ा सुं रहवे' अर्थात् मनुष्य की कीर्ति को स्थाई बनाने वाली वस्तु या तो उसका इतिहास है या उसके कीर्ति स्तम्भ। अर्थात् साहित्य और स्मारक दोनों ही

मे बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है।" यह सामग्री बहुत जगह बिखरी है और बहुत सी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट हो चुकी है फिर भी राजस्थान का इतिहास निम्नलिखित आधारो पर लिखा जा सकता है—(1) शिलालेख, (2) सिक्के, (3) स्मारक, (4) ऐतिहासिक महाकाव्य, (5) रासो, (6) हिन्दी और राजस्थानी साहित्य, (7) जैन पट्टावली तथा (8) मुस्लिम तवारीखें। इस प्रकार डा० भार्गव, श्री ओभा, श्री गहलोत और श्री सोमानी सब मिलकर अलग अलग शब्दो में एक ही बात कहते हैं कि साहित्य, शिलालेख व स्मारक इतिहास के साधन हैं।

डा० के० एम० गुप्ता और डा० एल० पी० माथुर अपनी पुस्तक 'बनेड़ा संग्रहालय के अभिलेख' के प्रीफेस मे बताते हैं कि बहुतसा महत्वपूर्ण इतिहास राजस्थान के ठिकाणों मे छिपा पड़ा है जिसे वे लोग प्रकाशित नहीं करना चाहते। यदि उसे प्रकाश मे लाया जाय तो विस्तृत सच्चे इतिहास का पता चलेगा जो टाड के इतिहास से भिन्न है और मूल्यवान होगा। डा० गुप्ता व माथुर के शब्दो में—"इतिहास के पृष्ठो में अमर राजस्थान का अभी कोई विधिवत इतिहास नहीं है।" 20 वीं शताब्दी तक इतिहास का पता लगाने के लिये सिर्फ टाड का अनुकरण किया जाता था। वास्तव में राज्यो के संग्रहालय में प्रचुरता से सामग्री उपलब्ध है। इन सब विद्वानो के भिन्न भिन्न विचारो का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजस्थान का इतिहास हम निम्नांकित साधनों द्वारा जान सकते हैं—

1. शिलालेख और सिक्के।
2. पुरात्व सम्बन्धी सामग्री और
3. साहित्यिक साधन।

1 शिलालेख व सिक्के आदि:—

As you like it

अंग्रेजी के महान् कवि शेक्सपीयर ने अपनी पुस्तक 'एज यू लाइक इट' मे कहा कि—'जंगल की एक सूखी लकड़ी हमें मनुष्य का अनन्त ज्ञान दे सकती है और झरनों मे किताबें भरी हैं, पत्थरो में इतिहास हँस रहा है।" कवि का आशय कदाचित प्रकृति मे था, किन्तु आधुनिक काल के अनुसंधानो ने प्रमाणित कर दिया है कि पहाड़ो की चोटियाँ, घने जंगल और बड़ी बड़ी चट्टानो को तराश कर मानव ने अपनी प्रशस्तियों को पत्थर के हृदय पर उतार दिया था। वही आज हमारे इतिहास का प्रमाण बन गया है।

राजस्थान मे एक कहावत प्रसिद्ध है कि—'नांव गीतड़ा ने भीतड़ा सु रहवे' अर्थात् मनुष्य की कीर्ति को स्थाई बनाने वाली वस्तु या तो उसका इतिहास है या उसके कीर्ति स्तम्भ। अर्थात् साहित्य और स्मारक दोनो ही

राजस्थान मे सोना चाँदी और ताँबे के सिक्के बनते थे । ये सिक्के मूल रूप से निम्न स्थानों पर अधिक पाये गये हैं:—

1. **बाँसवाड़ा के सरवानिया गाँव में**—क्षत्रियों के सिक्के मिले हैं। यह गाँव बाँसवाड़ा से 13-14 मील दूर है । इन सिक्कों के आधार पर मेवाड़ और बागड़ के प्रारम्भिक शासकों का इतिहास लिखा जा सकता है।

2 **बयाना के सिक्के**—आधुनिक भरतपुर के पास बयाना में 500 सोने की मोहरें मिली हैं जो गुप्त शासकों के समय की है । स्पष्ट है कि गुप्त युग में राजस्थान भी समृद्ध था। भरतपुर से ही शहर से चार मील दूर उत्तर पूर्व मे नोह नामक गाँव में भी राजस्थान सरकार के खुदाई विभाग द्वारा अनेक सीलें व सिक्के प्राप्त हुए हैं जो सिन्धु घाटी सभ्यता से राजस्थान का पल्ला बाँध देते हैं और हमारे लिये यह गौरव की बात हो जाती है कि ईसा से 3500 वर्ष पहले भी राजस्थान भारतीय संस्कृति के उपवनों मे से एक था।

3. **कालीबंगा की मोहरें**—बीकानेर जिले मे मादरा नामक कस्बे से 14 मील दक्षिण मे कालीबंगा कस्बा है, जो लगभग 5000 वर्ष पहले की सम्कृति का केन्द्र था । यहाँ भी सिन्धु घाटी समकालीन सभ्यता की सीलें व मोहरें प्राप्त हुई हैं। ये मोहरें मिट्टी की हैं जिनके एक तरफ कुछ लिखा है। दूसरी तरफ जानवरों के चित्र हैं जो कुछ पालतू और कुछ जंगली हैं। इन मोहरों से उस समय के पालतू जानवर, और सामाजिक व्यवस्था, शिकार आदि का पता चलता है । इसी प्रकार उदयपुर में भी डा० अग्रवाल की अधीनता में खुदाई कार्य किया गया और यहाँ भी मिट्टी के बरतन और सीलें प्राप्त हुई जिनसे यह कहा जा सकता है कि उदयपुर में आहड़ तक सिन्धु सभ्यता फैली हुई थी।

इस प्रकार राजस्थान में प्राप्त पुरानी सीलें व सिक्के हमारी सम्कृति के आधार बन गये। ये सिक्के तिथियाँ निश्चित करने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। इनसे राज्य सीमा का भी पता चलता है। इनसे प्राचीन राजाओं के आपसी राजनीति सम्बन्धों का भी पता चलता है । उदाहरण के लिये हम पृथ्वीराज का एक सिक्का लें जो 19 वीं शताब्दी में तारागढ़ (अजमेर) मे प्राप्त हुए। इस सिक्के में एक तरफ मुहम्मद गौरी का चित्र अंकित है और दूसरी तरफ पृथ्वीराज चौहान का । उन मूर्तियों के नीचे दोनों के नाम लिखे हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज तराइन की लड़ाई में मारा नहीं गया था। संस्कृत और फारसी के लेखकों का यह कहना कदाचित सही है कि तराइन के युद्ध के बाद दोनो में थोड़े समय के लिए मित्रता हो गई थी। इसी बात का समर्थन 'चिंतामणि कोष' भी करता है । साधारणतः लोग यह मानते हैं कि पृथ्वीराज पकड़कर मार डाला गया था। इस

राजस्थान में जैन धर्म भी प्रचलित था । डा० कैलाश चन्द्र जैन ने अपने अनुसंधान ग्रन्थ में मंदिरों का आधार देकर यह बताया है कि राजस्थान में जैन धर्म लोक प्रिय था और इस धर्म के आधार पर शिल्प कला बहुत उन्नति पर थी । इसका जीता जागता उदाहरण आबू के पास दिलवाड़ा का जैन मन्दिर है जो मध्य कालीन जैन कला का सोम हर्षक वैभव है ।

राजस्थान में सूर्य मंदिर भी प्राप्त हुए हैं । इन मन्दिरों के भग्नावशेष बडोद आम्बा मडारे, नागदा, किराडू, आमानेरी और ओसिया में प्राप्त हुए हैं । नागदा और ओसिया के सूर्य मंदिर इस बात के प्रमाण हैं कि स्थापत्य कला राजस्थान में पूर्ण विकसित थी । इस प्रकार मंदिर हमें धर्म और कला का विकास बताते हैं । धार्मिक सहिष्णुता का भी पता चलता है । मुसलमानों के आगमन से पहले हमारी स्थापत्य कला काफी विकसित थी और इन भग्नावशेषों की सूचना का इतिहास प्रथम श्रेणी के साधनों में रखा जा सकता है ।

2 मंदिरों के बाद मूर्तियाँ कला के उच्च नमूने प्रस्तुत करती है। प्लास्टिक कला का प्रथम नमूना भरतपुर के पास नोह में प्राप्त हुआ है यहाँ से यक्ष की मूर्ति मिली है जो सात फिट लम्बी है । इसके काल और आकार को देख कर साफ पता चलता है कि प्राचीन काल में आर्यों के आगमन के बाद यहाँ देवी देवताओं की पूजा होती थी । अर्थात् प्राचीन काल में मूर्ति पूजा होती थी ।

इसी प्रकार सांभर में एक स्त्री की मूर्ति मिली है जो सिर पर साफा बाँधे है और उसका आधा शरीर कपड़ों से ढका और आधा नंगा है । नग्नता के आधार पर कला पारखियों ने इसे यूनान का प्रभाव बताया है और इस प्रकार कला का विदेशों से समन्वय भी राजस्थान में हो चुका था ।

घरेलू चीजें —पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री का तीसरा अंग है खुदाई में प्राप्त वे वस्तुएँ जो घर में काम में आती है और उस समय के रहन सहन पर प्रकाश डालती हैं । इस प्रकार का बहुतसा सामान नगरी, आहड़, और नोह में प्राप्त हुए हैं । इन स्थानों में पत्थर की बनी छोटी छोटी मूर्तियाँ और पालिश किये हुए लाल पत्थर की घरेलू वस्तुओं के अवशेष मिले हैं । नोह की खुदाई में कटोरा प्राप्त हुआ है, मिट्टी के बर्तन मिले हैं जो तीन हजार वर्ष पुराने हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान के अनेकों भागों में सिन्धु घाटी की समृद्ध सभ्यता फैली हुई थी । राज्य और केन्द्र की तरफ से अभी कई स्थानों की खोज व खुदाई होती रहेगी और हाल ही में बागोर में खुदाई के बाद सिन्धु सभ्यता के प्रमाण प्राप्त हुए है । यह खुदाई डा० मिश्रा की अधीनता में पूना विश्वविद्यालय कर रहा था । समय समय पर खुदाई से जो वस्तुएँ प्राप्त

गुप्त, काण्व, आन्ध्र आदि वंशों के राजाओं की पूरी नामावलियाँ तथा पिछले चार वंशों के प्रत्येक राजा के राज्य काल के वर्षों की संख्या तक दी है। वेद और पुराण दोनों साहित्य की रचना मूलतः ब्राह्मणों ने की थी अतः उनमें ब्राह्मण धर्म के विकास का काफी वर्णन मिलता है। पुराणों की भाँति रामायण और महाभारत भी हमारे इतिहास के साधन हैं। पाण्डवों ने ने बैराट (जयपुर के पास) अपना अज्ञातवास बिताया था। रामायण में वर्णित चित्रकूट-चित्तौड़ गढ़ के पास ही है। अहिल्या को गौतम ने आबू पहाड़ में चट्टान बनाया था जिसका उद्धार श्री राम के चरण कमलों के स्पर्श से हुआ था। इसी प्रकार बाण भट्ट द्वारा रचित 'हर्ष चरित्र' में भी हर्ष कालीन राजस्थान का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णुगुप्त चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा रचित 'अर्थ शास्त्र' भी प्राचीन मूल्यवान ऐतिहासिक ग्रन्थ है। रामायण में रघुवंश का और महाभारत में कुरु वंश का विस्तृत इतिहास है और अन्य ग्रन्थों में देश की धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परम्पराओं का वर्णन मिलता है। संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में भी कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं जो हमारे इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। पंडित जीवधर का 'अमर सार' मेवाड़ का मूल्यवान ग्रन्थ है। मोहन भट्ट का 'जगतसिंह शास्त्र' भी स्मरणीय है। इसी प्रकार पातंजलि के महाभाष्य में साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (चित्तौड़ से सात मील दूर) पर यवनों के आक्रमणों का पता चलता है। कालीदास के नाटक भी ऐतिहासिक तथ्यों से भरपूर हैं। इस प्रकार के सैकड़ों ग्रन्थ हैं जिनसे उस समय का इतिहास जाना जा सकता है।

3. बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य भारत में बौद्ध धर्म के विकास पर प्रकाश डालता है। जहाँ वह महात्मा बुद्ध के विकास पर प्रकाश डालता है। जहाँ वह महात्मा बुद्ध के जीवन व उपदेशों का वर्णन करता है वहाँ राजस्थान में किस प्रकार और कितना इस धर्म का प्रचार हुआ, यह भी ज्ञात होता है। इस साहित्य में कुछ पुस्तकें काफी सामग्री रखती हैं जिनमें—मज्झिम निकाय, कथा सरित सार आदि तो राजस्थान में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता व प्रचार पर प्रकाश डालती है और कनिष्क के समय का बौद्ध साहित्य यह बताता है कि बौद्ध धर्म दो भागों में विभक्त हो गया, हीनयान और महायान। कुषाण वंश के समय का सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ 'दिव्यवदान' है जिसके आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि महायान शाखा का प्रचार बैराट के आस पास बहुत था। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में मज्झिम निकाय कथा सरित सार और दिव्यवदान ग्रन्थ हमारे इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

4. जैन साहित्य—न्याय चंद सूरी, सिद्धर्षि और हेमचन्द्र सूरी ने जो जैन साहित्य लिखा है वह राजस्थान के प्राचीन इतिहास पर परियाप्त प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त जैन साधुओं द्वारा लिखी पट्टावलियाँ भी

इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 'मूता का टीका' [illegible] इस
पूर्ण ग्रन्थ है जिसमें देश के बड़े बड़े शासकों और राज वंशों का वर्णन मिल
है। जैन धर्म के साहित्य का अध्ययन करने से राजस्थान के लोगों का रह
सहन, रीति रिवाज आदि का भी पता चलता है। यह भी स्पष्ट हो जाता
कि राजस्थान के [illegible] लोगों ने इस धर्म को स्वीकार कर राजस्थान के
इस प्रकार के लिए पूरी चेष्टा की थी।

2 चारण-भाटों का साहित्य—यूनानी और मुसलमान आक्रमणकारी
अपने स्वभाव से विद्वान रखने के आदी थे। शासकों की विजय गाथा का वर्णन
लिखा करते थे। इन्हीं से प्रभावित होकर मध्यकालीन राजपूत राजाओं ने
विद्वानों और कवियों को अपने दरबार में सम्मान देना शुरू किया। वे
कवि राजाओं की प्रशंसा में महाकाव्यों की रचना करने और राजवंशों
का पूरा वर्णन लिखने लगे, ऐसे कवियों को समय की बोली और भाषा में
भाट या चारण कहा गया। धीरे धीरे यह एक जाति बन गई जिसका
काम, बड़े लोगों की प्रशंसा का काव्य में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करना मात्र
रह गया। इन भाटों और चारणों के काव्य में भी इतिहास की सामग्री भरी
पड़ी है। आवश्यकता है उनकी रचनाओं का बिना आवेश के समालोचनात्मक
अध्ययन कर सत्य निकाल लेने की। इसी प्रकार के साहित्य में 'पृथ्वीराज
रासो' और नेणसी की ख्यात व अन्य ख्यातें आ जाती है। यह सारा साहित्य
राजस्थानी भाषा में लिखा गया है और अब तो इनके प्रकाशन भी हो चुके
है। इन विवरणों में से मुख्य निम्नांकित है—(1) पृथ्वीराज रासो (2) नेणसी
की ख्यात (3) अन्य ख्यातें जिनमे मडोमार ख्यात, कविराज ख्यात, जोधपुर
ख्यात, और दयालदास की ख्यात विशेष उल्लेखनीय है। (4) वीर विनोद
(5) अन्य महाकाव्य जिनमें 'वंश भास्कर,' जयरथ नामक कश्मीरी का 'पृथ्वी
राज (तृतीय) विजय' महाकाव्य, चन्द्रशेखर द्वारा अकबर के दरबार में रचित
सुरजन चरित्र' महाकाव्य आदि उल्लेखनीय है अब इनमें से महत्वपूर्ण रचनाओं
का संक्षिप्त विवरण कर लें।

पृथ्वीराज रासो—इस रासो की चार प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। नागरी
प्रचारणी सभा बनारस द्वारा प्रकाशित इस रासो में 40,000 श्लोक हैं। इसी
प्रति को इतिहास का आधार व साधन माना है। दूसरी प्रति में 10,000
श्लोक है तीसरी में 4000, और चौथी में केवल 1500 श्लोक हैं। पृथ्वीराज
रासो की भाषा, ऐतिहासिक घटनाएँ और संवत आदि की प्राचीन शोध की
कसौटी पर जांच की जाती है तो यही सिद्ध होता है कि यह पुस्तक वर्तमान
रूप में न तो पृथ्वीराज की समकालीन है और न किसी समकालीन कवि की
कृति।" ओझा पृष्ठ 28. इस चौथी प्रति का सम्पादन प्रो. नरोत्तमदास जी
स्वामी, ने कर राजस्थान भारती से प्रकाशित करवाया है। किन्तु इसे पृथ्वीराज
रासो की सूक्ष्म प्रति नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीराज रासो की सत्यता और

ऐतिहासिकता पर डा० दशरथ शर्मा के लगभग 12 लेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि "यह रोमांचकारी कहानी सत्य है।" उन्होंने पृथ्वीराज संयोगिता की कहानी को भी सच माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पृथ्वीराज रासो रोमांचकारी कथाओं का जन्मदाता होते हुए भी ऐतिहासिक सूचना का एक बड़ा केन्द्र है। विद्वान अभी तक इस बात पर एक मत नहीं हो पाये हैं कि इन चारों ग्रन्थों में कौनसा पूर्ण और कौनसा उसका सूक्ष्म है। इस रासो पर अनेक अनुसंधान लेख डा. माता प्रसाद गुप्त के भी प्रकाशित हो चुके हैं। रासो साहित्य चौहानों के साथ प्रारम्भ हुआ। वैसे चन्द्रवरदाई का पृथ्वीराज रासो इसमें दस प्रतिशत फारसी शब्द हैं। यह काव्य 1543 ई० के आस पास का है। "प्राचीन शोध के प्रारम्भ से पूर्व यह 'राजपूताने का महाभारत' और इतिहास का अमूल्य कोष समझा जाता था।" (ओझा पृष्ठ 27) वैसे पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता को अनेक विद्वान चुनौती दे चुके हैं किन्तु डा० दशरथ शर्मा के प्रयासों ने इसकी सत्यता प्रमाणित कर दी है। चन्द्रवरदाई को इसका रचयिता मान लिया गया है। रासो साहित्य में और भी ग्रन्थ आते हैं। बिजोलिया में प्राप्त 1224 वि. स. का स्तम्भ लेख भी रासो साहित्य में आता है जिसमे 92 श्लोक है। यह स्तम्भ लेख चौहानो की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बताता है चारण और भाट साहित्य पर सबसे पहले एल. पी टैसीटेरी ने डाला था। उसके बाद इस प्रकार का साहित्य सर्वे रिपोर्ट (A. S. R.) के वार्षिक अंकों में प्रकाशित हो चुका है। इन चारणो के साहित्य का प्रयोग बडी सावधानी और निष्पक्षता से करना चाहिये क्योंकि इसमे घटनाओ का वर्णन बहुत बढ़ा चढा कर किया जाता था।

नैणसी की ख्यात—भाषा की पुस्तकों मे ख्यातों का स्थान भी है। *हर राज्य की, सरदारों के ठिकानों की तथा भिन्न भिन्न जाति की ख्यातें* मिलती हैं। "लगभग सौ वर्ष पूर्व से ही ख्यातें राजपूताने के इतिहास के मुख्य साधन मानी जाती थी।" ओझा—'राजपूताने का इतिहास' जिल्द पहली—पृष्ठ 24. पर कहते हैं किन्तु ज्यो ज्यो शिला लेख, सिक्के और अन्य लिखित सामग्री मिलती गई, इन ख्यातों की असत्यता प्रमाणित होती गयी। बूँदी मे प्राप्त चौहानों की ख्यात और सिरोही मे प्राप्त बडवो की ख्यातो का ओझा जी ने मिलान किया तो चौहानो के प्रसिद्ध पृथ्वीराज तक बूँदी की ख्यात मे 177 और सिरोही की ख्यात मे 227 और निमराणे की ख्यात मे चौहान राजाओं के 400 से अधिक नाम मिले। इस प्रकार का नामावली या वंशावली का अन्तर इन ख्यातो की सत्यता पर शंका उत्पन्न करता है। फिर भी ये हमारे ज्ञान के साधन हैं। भिन्न भिन्न राजा अपने राज्यों मे ख्यातें लिखवाते थे। यह हिन्दी के ख्याति शब्द का अपभ्रंश लगता है। इसमे राजाओ की ख्याति का वर्णन होता है। इन ख्यातो में 15 वी शताब्दी के पहले के नाम तो भाटों ने

ही लिखे थे। वि॰ सं॰ 17 वीं शताब्दी के बाद राजाओं की तरफ से इन्हें लिखी जाने लगीं। जोधपुर और बीकानेर राज्य की ख्यातें विशद रूप से लिखी हैं। आज तक लिखी ख्यातों में मुहणोत नैणसी की ख्यात सबसे पुरानी है। ओझाजी पृष्ठ 25 पर मुहणोत नैणसी का जन्म चार नवम्बर 1610 ई॰ में हुआ था और 60 साल की अवस्था में तीन अगस्त 1670 ई॰ इनका देहान्त जोधपुर में हुआ था। ये जोधपुर महाराजा जसवन्तसिंह (प्रथम) के दीवान पद पर काम करते थे। यह वीर तथा कुशल शासक होने के अतिरिक्त इतिहास का बड़ा प्रेमी था। जोधपुर का दीवान होने के कारण सब राज्यों में बड़े लोगों से इसका पत्र व्यवहार स्थापित था। अतः मित्रों, कार्यकर्ताओं और चारण भाटों की सहायता से इसने 1650 से 1665 ई॰ के बीच 15 सालों में अपनी ख्यात का संग्रह किया। अपनी ख्यात में इन्होंने जिनके द्वारा जिस वृत्त का वृत्तान्त मिला, उसका भी वर्णन किया है। डा॰ शर्मा के अनुसार नैणसी 1638 से 1678 तक जोधपुर का दीवान था (मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 21) और ओझाजी के अनुसार उसका देहान्त 3 अगस्त 1670 ई॰ को ही हो गया था (पृष्ठ 25, राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द) ये दोनों ही इतिहासकार नैणसी की तिथियों और घटनाओं को संशोधन के साथ नहीं मानते हैं। वास्तव में प्राचीन इतिहास की तिथियां पूर्ण रूप से विश्वास के योग्य नहीं हैं।

नैणसी ने अकबर बादशाह के प्रधानमंत्री अबुलफजल (नागौरी) के आईना एक अकबरी की भांति अपने राज्य का इतिहास ख्यातों में लिखा। उसने दो ग्रन्थ लिखे एक 'ख्यात' और दूसरा 'मारवाड़ री विगत'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का प्रकाशन तो तीन जिल्दों में राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जोधपुर द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी मेवाड़ के विद्वान् स्वर्गीय रामनारायणजी दुगड़ ने नागरी प्रचारणी सभा काशी द्वारा कई वर्षों पूर्व प्रकाशित करवा दिया था। यदि कर्नल टाड को नैणसी की ख्यात मिल जाती तो उनका इतिहास भी और समृद्ध हो जाता। नैणसी की ख्यात में वंशावलियाँ कुछ शुद्ध है और कुछ अशुद्ध भी। कहीं कहीं सवतों की भी त्रुटियाँ हो गई हैं। इस पर भी ख्यात विक्रम की 15 वीं से 17 वीं सदी तक लिखी गई ख्यातों की अपेक्षा विशेष उपयोगी है। इस ख्यात में उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के सीसोदिया (गुहिलोतों); जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ के राठोरों; जयपुर के कछवाहों; सिरोही के चौहान, बूंदी के हाडा, जैसलमेर के भाटियों, यादवों, झालों, सांखला आदि सभी महत्वपूर्ण राजवंशों का पता चलता है। इसी में गौडों और कयामखानियों का इतिहास भी दिया गया है। वंशों के अतिरिक्त इस ख्यात में किलों, पहाड़ों, नदियों और जिलों का वर्णन भी दिया गया है। यह ख्यात चौहानों, राठौरों, कछवाहों,

और भाटियो के इतिहास के लिये विख्यात है। इन वंशों का वर्णन सविस्तार किया गया है जो अन्यत्र कहीं मिलना सर्वथा असम्भव है। मूल पुस्तक में एक वंश का इतिहास एक ही स्थान पर नहीं है परन्तु हिन्दी अनुवाद में क्रमबद्ध संग्रह किया गया है।" जोधपुर के स्वर्गीय सुप्रसिद्ध इतिहास वेत्ता मुंशी देवीप्रसाद ने तो नेणसी को राजस्थान का अबुलफ़जल माना था।" इस मत का प्रतिपादन श्री ओझा अपनी पुस्तक के पृष्ठ 26-27 पर करते हैं। इस ग्रन्थ को प्रसिद्धि दिलाने का श्रेय जोधपुर राज्य के स्वर्गीय कविराज मुरारीदान को है।

क्या नेणसी वास्तव में राजपूतों का अबुलफ़जल था? मुंशी देवीप्रसाद के मत का समर्थन श्री ओझा ने किया है। इसी मत की पुष्टि डा० भार्गव और डा० कानूनगो भी अपनी पुस्तकों में करते हैं। अतः राजपूताने के इन इतिहासकारों की राय में नेणसी को अबुलफ़जल कहना उचित ही है क्योंकि उसकी ख्यात अकबरनामे से किसी क्षेत्र में कम नहीं थी। राजपूताने के गाँवों का वर्णन —'गावारी ख्यात' में जितना अच्छा है उतना तो आइना-ए-अकबरी में भी नहीं है। नेणसी की ख्यात में राजाओं के समय की हर घटना का, तारीखों सहित वर्णन मिलता है। युद्धों के वर्णन में कुछ नहीं छिपाया गया है और लड़ाई में घायल या मारे गये सैनिकों के नाम व पते भी लिखे गये हैं। उसकी ख्यात में सबसे बड़ी कमी यह है कि गरीबों का वर्णन नहीं मिलता। इसके लिये नेणसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखक केवल शासक वर्ग पर ही अधिक ध्यान देते थे। वर्णन के दृष्टिकोण से उसे अबुलफ़जल और उसकी ख्यात को अकबर नामा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वैसे नेणसी, अबुलफ़जल की तरह विद्वान् तो नहीं था और न ही उसके पास इतना समय ही था फिर भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसका ग्रन्थ अबुलफ़जल की अपेक्षा अधिक विधिवत्, प्रमाणशाली और महत्वपूर्ण है। अबुलफ़जल ने कहीं भी अपने साधनों व सूचना के केन्द्रों का वर्णन नहीं किया लेकिन नेणसी ने अपने साधनों का वर्णन अपनी ख्यात में किया है। दूसरी विशेषता जो ख्यात में है और अकबरनामा या आइना-ए-अकबरी में नहीं है वह यह है कि अबुलफ़जल ने दरबार में रहकर अकबर के संरक्षण में अपना ग्रन्थ लिखा था किन्तु नेणसी ने दरबार के प्रभाव से दूर रहकर अपने स्वामी के गुण व दोषों का स्पष्ट वर्णन किया है जो इतिहास के दृष्टिकोण से उसके ग्रन्थ का महत्व बढ़ा देता है। अतः कम समय और कम ज्ञान होते हुए भी नेणसी का ख्यात अबुलफ़जल के अकबरनामे से अधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इतिहासकार डा० कानूनगो ने अपनी पुस्तक (Studies in Rajput History) में ठीक ही लिखा है कि—"पुस्तकालय और शाही

वीर विनोद—जोधपुर का इतिहास तो ख्यातों में मिल गया। सूर्यमल मिश्रण ने 'वंशभास्कर' लिखकर बूंदी का इतिहास भी लिख दिया। फिर भरतपुर के मुंशी बाबू ज्वाला सहाय माथुर ने 'वकाये राजपूताना' उर्दू में लिखा जो टाड और अंग्रेजी सामग्री पर आधारित तीन जिल्दों में है। उदयपुर का इतिहास विद्यानुरागी महाराणा सज्जनसिंह जी के समय में उनके राजकवि श्यामलदासजी ने 12 वर्ष की मेहनत से, एक लाख रुपया खर्चकर लिखा। यह लगभग तीन हजार पृष्ठों का पांच भागों में विभक्त ग्रन्थ है जिसे 'वीर विनोद' के नाम से पुकारा जाता है। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ उदयपुर के राजघरानों में सीमित हैं जो अब केवल 70 रु० मात्र में महाराणा की कृपा से जनता के लिये उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1943 में हो गया था। उदयपुर के इतिहास पर श्री रामनारायण दूगड़ ने नवीन खोजों के आधार पर 'राजस्थान रत्नाकर' दो भागों में प्रकाशित की, फिर रायबहादुर गौरीशंकर हीरा चन्द्र ओझा ने अत्यन्त परिश्रम के साथ राजपूताने का इतिहास लिखा। फिर श्री जगदीशसिंह गहलोत ने भी दो भागों में राजस्थान का इतिहास लिखा ये सभी ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो कर्नल टाड के अधूरे अध्ययन को पूरा करते हैं। ये सब तो हैं स्वदेशी प्रयास अब विदेशियों का योगदान देखें।

3. फारसी रचनाएँ—चौहानों को हराकर मुसलमानों ने उत्तरी भारत में अपना राज्य स्थापित किया। उनके साथ फारसी के लेखकों ने अपने राजाओं की विजय का वर्णन करना शुरू किया। राजस्थान दिल्ली और दक्षिण के बीच में पड़ता था अतः मुसलमान शासकों की आँख में खटकता था। अतः 12 वीं शताब्दी से राजस्थान का इतिहास फारसी ग्रन्थों में भी मिलता है। इस युग में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।

1. ताजुल-मासीर—हसन निजामी द्वारा जिसमें अजमेर और दिल्ली के शासक पृथ्वीराज के अन्तिम दिनों का वर्णन है।

2. जमीउल-हकीकत—इसमें मुहम्मदऊफी ने तराइन की लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान की हार का वर्णन किया है। इसका संकलन लगभग 1211 ई० में हुआ था।

3. तारीखे-मुबारक—15 वीं शताब्दी में लिखी गई जिसमें मुहम्मद-गौरी और कुतुबुद्दीन की विजय का वर्णन सही मिलता है।

4. तहकीके-हिन्द—अलबरुनी द्वारा लिखी गयी थी यह महमूद

गजनवी के साथ भारत आया था। इसने राजस्थान के दर्शन, सामाजिक आर्थिक जीवन पर काफी कुछ लिखा है।

५ किताब जैमुल—महमूद गिर्दी ने लिखी जिसमे विदेशी मुस्लिम आक्रमणो का पूरा विवरण है। भारत की दशा पर भी यह का प्रकाश डालता है।

6 **तारीखे यामिनी**—अलयूतबि द्वारा यह भी विदेशी आक्रमण व मुसलमानो के यहाँ आकर बसने का वर्णन करता है।

7 इसके अलावा अलाउद्दीन के दरबारी कवि अमीर खुसरो द्वारा उसकी विजयों का आँखो देखा हाल **'खजाइनुल फुतूह'** नामक पुस्तक मिलता है।

8 जियाउद्दीन बरनी द्वारा रचित—**'तारीखे फीरोजशाही'** खिलजी और तुगलक वश के शासको पर प्रकाश डालती है।

9. अफीफ ने खिलजी और तुगलक वश पर अत्यन्त महत्वपूर्ण 'तारीखे मुबारकशाही' लिखकर सुल्तानियत काल तक का मुसलमानों इतिहास पूर्ण कर दिया। इसका अनुवाद इलियट और डोसन ने अंग्रेजी किया और अलीगढ़ के प्रो० रिजवी ने इनका हिन्दी अनुवाद कर राजस्थान सुल्तानियत काल का इतिहास और स्पष्ट कर दिया है।

मुगलकाल मे तो हर बादशाह के दरबार मे इतिहासकार रहते जिनमे मे मूल ग्रन्थों मे मुगलकाल के इतिहास के साथ साथ उनका राजपूतों से संघर्ष व सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। इस निमित—

1. बाबरनामा—जो स्वयं बाबर ने लिखा था राणा सांगा व मुगलों के सम्बन्ध बतलाता है।

2 हुमायूँनामा—मे हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम ने मारवाड़ मालदेव तथा जैसलमेर के भाटी मालदेव का वर्णन मिलता है।

3 तारीखे शेरशाही—मे इतिहासकार अब्बास सरवानी ने शेरशाह के राजस्थान अभियान का रोचक वर्णन किया है।

4. अकबरनामा—के अतिरिक्त अबुल फजल ने और भी आधी दर्जन पुस्तकें ऐसी लिखी है जिनमे राजस्थान का इतिहास भी स्पष्ट झलकता है।

5. इसके अतिरिक्त तुजुके जहाँगीरी यानी जहाँगीर की आत्म कथा और औरंगजेब के प्रथम दस वर्षों के शासन मे 'आलमगीरनामा' इतिहास के दूसरे ग्रन्थ हैं जो फारसी मे राजस्थान का इतिहास बताते हैं।

फरमान व हुक्म—इतनी पुस्तकों के अतिरिक्त अनेक शाही फरमान, हुक्म, निशान और मन्शूर हमारे इतिहास के केन्द्र हैं। इस प्रकार के सैकड़ों पत्र और फरमान राजस्थान के हर राजघराने में उपलब्ध हैं। ये पत्र या फरमान मुगल शासकों ने अपने समय के राजपूत राजाओं को लिखे थे। जिनका संग्रह आजकल राज्य के पुरातत्व विभाग में सुरक्षित है। सैकड़ों ज्ञान के भूखे अनुसंधान करने इन फरमानों का अध्ययन करते हैं और उन्हें अनुवाद कर प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार के फरमान और शाही हुक्मों से राजपूत मुगल सम्बन्धों व राजपूत मराठा सम्बन्धों पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। फरमानों की एक लिस्ट राजस्थान सरकार के पुरालेख विभाग बीकानेर से 1962 में प्रकाशित हो चुकी है। यह सूचि भी राजस्थान के इतिहास का एक साधन है। जिसके द्वारा मध्यकालीन राजस्थान के बारे में काफी ज्ञान मिलता है।

आधुनिक साधन—पिछले 40 साल से एक लहर सी दौड़ गई है राजस्थान के विद्वानों और इतिहासकारों के बीच में कि इस वीर भूमि के इतिहास को प्रकाश में लाया जाय। फलस्वरूप दर्जनों नई किताबें राजस्थान के इतिहास पर लिखी जा चुकी हैं। ये ग्रन्थ हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में मिलते हैं। सारे ग्रन्थों का यहाँ वर्णन करना तो छात्रों को डराना मात्र होगा किन्तु कुछ एक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख किये बिना भी साधनों का ज्ञान पूरा नहीं होगा। हिन्दी के ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

1. वीर विनोद—कविराज श्यामलदास
2. राजपूताने का इतिहास—(पाँच व दो भागों में) गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।
3. कोटा राज्य का इतिहास—दो भागों में—डा० मथुरालाल शर्मा
4. राजपूताने का इतिहास—टाड अनुवाद डा० ईश्वरी प्रसाद।
5. राजपूताने का इतिहास—जगदीशसिंह गहलोत।
6. पूर्व आधुनिक राजस्थान—डा० रघुवीरसिंह सीतामऊ।
7. मारवाड़ का इतिहास—प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ।
8. मारवाड़ का मूल इतिहास—रामकरण आसोपा।
9. महाराणा कुम्भा—रामवल्लभ सोमाणी, हरविलास शारदा।
10. महाराणा साँगा—हरविलास शारदा।

वैसे तो अंग्रेजी में दो दर्जन से भी अधिक पुस्तकें हैं लेकिन यहाँ कुछ एक का वर्णन आवश्यक है—

1. Early Chauhan Dynasties—Dr. Dashrath Sharma
2 Studies in Rajput History—Dr K. R. Qanungo
3. Mewar and the Mughal Emperors—Dr. Gopi Nath Sharma
4. Marwar and the Mughal Emperors—Dr. V S Bhargava.
5. *History of Mewar—Dr. Ray Chaudhary*

वैसे अब अध्ययन के साधन नई नई खोजों के साथ बैठते ही जा रहे हैं और निश्चय ही एक दिन इस वीर भूमि का सही इतिहास पूरा पूरा लिखा जा सकेगा।

अध्याय 3

बापा रावल

बापा रावल

मेवाड़ का राजवंश भारत के श्रेष्ठ शासक घरानों में से एक है। बड़े बड़े साम्राज्य बने और बिगड़ गये। जूलियस सीजर, नैपोलियन, सिकन्दर आदि विजेताओं के साम्राज्य भी इतिहास में अपना नाम छोड़ कर पलायन कर गये। संसार के इतिहास में एक भी वंश ऐसा नहीं जो साम्राज्य की स्वाधीनता, एकता और राजवंश की अमरता के लिये मेवाड़ के गहलोत या सूर्यवंशी शासकों की समानता कर सके। भारत के इतिहास में भी बड़े बड़े राजवंश चमके और अस्त हो गये किन्तु मेवाड़ के शासकों को कोई नहीं मिटा सका। विक्रमादित्य के समय से लगाकर 1947 तक अपनी आजादी के लिये संघर्ष करने वाला और अपने राज्य को स्वतन्त्र बनाये रखने वाला भारत का सिर्फ एक ही राज्य है और वह है मेवाड़। सन् 565 में लेकर आजतक लगभग 1600 वर्ष से भी अधिक समय तक मेवाड़ पर राज करने वाले इस वंश का पहला पराक्रमी राजा कालभोज या (बापा) था जो आगे चल कर बापा रावल के नाम से विख्यात हुआ। उदयपुर के इस राजवंश को 'हिन्दुआ-सूरज' कहा जाता है जो उचित ही है। समकालीन विरोधी विदेशी भारत के शासकों ने भी मेवाड़ के इस वंश की प्रशंसा की है। मुसलमान और ईसाई शासकों के समय के इतिहासकारों ने बापा रावल द्वारा स्थापित मेवाड़ के राज्य की हर तरह से प्रशंसा की है। मेवाड़ के गौरव-वर्णन पर यहाँ कुछ विद्वानों की राय देना अनुचित नहीं होगा।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन के समय भारत की यात्रा की थी। वह अपनी पुस्तक की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 266-67 पर मेवाड़ की समृद्धि का वर्णन करता है कि—"यह देश घेरे में 6000 ली है (छः ली बराबर एक मील), राजधानी का घेरा करीब 30 ली है, लगभग 100 नागरिक करोड़पति हैं; दूर दूर के देशों की कीमती वस्तुएँ यहाँ बहुतायत से मिलती हैं, यहाँ कई सौ देवताओं के मन्दिर हैं।" स्पष्ट है कि गुप्तकाल के बाद ही मेवाड़ का वैभव स्मरणी हो गया था।

इसी प्रकार फरिश्ता अपनी तवारीख में पृष्ठ 54 पर लिखता है—"वीर राजा विक्रमादित्य के समय से जहाँगीर के समय तक ऐसा कोई न रहा जिसका नाम लिया जावे, अलबत्ता एक राजा राणा राजपूत है जिसके घराने में मुसलमानी जमाने के पहले से राज्य चला आता है।"

[illegible] ने भी [illegible] की पहली जिल्द के पृष्ठ 232-3 पर लिखा है कि—"[illegible] में देखें [illegible] से अधिक राजा है जो [illegible] है। इन राजाओं में 15 या 16 [illegible] और अधिकारी हैं, [illegible] राणा जो कि राजाओं का सम्राट समझा जाता है, [illegible] लिया जाता है।"

मिल महोदय अपने भारत के इतिहास की पांचवीं जिल्द के पृष्ठ 37[illegible] पर लिखते हैं कि "उदयपुर के राणा को राम के पुत्र लव का वंशज बताते हैं, वे सूर्यवंशी समझे जाते हैं और राजपूतों में गुहिलोत खानदान की सीसोदिया शाखा में से हैं। सब राजपूत राजाओं में बड़े माने जाते हैं।"

विलियम रॉबर्टसन् अपनी पुस्तक भारत के इतिहास में पृष्ठ 302 पर लिखता है कि—"चित्तौड़ के राजा, जो हिन्दू राजाओं में सबसे प्राचीन समझे जाते हैं, और राजपूत कौमों में सबसे बड़े हैं, अपनी उत्पत्ति पोरस के वंश से बताते हैं।"

इसी प्रकार एचिसन अपनी पुस्तक की तीसरी जिल्द के पृष्ठ 3 पर लिखते हैं कि—"उदयपुर का खानदान भारत के राजपूत राजाओं में सबसे बड़ा स्थान और इज्जत रखता है, यहाँ के राजा को हिन्दू लोग अयोध्या के प्राचीन राजा राम का प्रतिनिधि समझते हैं।" इनका मत है कि सन् 144 ई० में इस वंश की स्थापना हुई और डूंगरपुर, सिरोही, प्रतापगढ़ तथा मराठों का भोंसला खानदान भी उदयपुर घराने से निकला है।

टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान के इतिहास की पहली जिल्द के पृष्ठ 211 पर कहते हैं कि—"मेवाड़ के महाराजा राणा कहलाते हैं, ये सूर्यवंशी हैं और इनकी दूसरी उपाधि रघुवंशी है, मेवाड़ के महाराणा वास्तव में राम की गद्दी के वारिस हैं। राजपूतों की 36 कौमों में से इन्हें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है।"

इन सब विद्वानों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ के शासक श्रेष्ठ वंश के ही नहीं सर्व श्रेष्ठ शासक भी थे जिन्हें शत्रुओं ने भी मान्यता प्रदान की है। ऐसे प्रतापी सूर्यवंशी मेवाड़ राज्य का संस्थापक बापा रावल था। अब हम बापा रावल के जन्म, वंश और उत्पत्ति की ओर ध्यान दें। बापा रावल गुहिल वंश के थे अत सबसे पहले उनके पूर्वजों पर प्रकाश डाला जाय तो उचित होगा।

गुहिल वंश —गुहिल वंश की उत्पत्ति पर विद्वान एक मत नहीं हैं। लेखकों में अबुल फजल की धारणा है कि गुहिल ईरान के बादशाह

नौशेरवाँ आदिल के वंशज हैं। कथा इस प्रकार मानी जाती है कि नौशेरवाँ के जीवन काल में उसके पुत्र नौशेजाद ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था और एक बड़ी सेना लेकर भारत आया। यहाँ से उसने अपने पिता नौशेरवाँ आदिल पर आक्रमण किया जिसमें मारा गया। उसकी सन्तान भारत में ही बस गयी और ये ही लोग गुहिल कहलाये। इस प्रकार का वृत्तान्त ओझा जी अपने उदयपुर राज्य का इतिहास के भाग 1, पृष्ठ 71-72 पर देते हैं।

जैन ग्रन्थों के आधार पर कर्नल टाड दूसरा वर्णन देते हैं। वे भी गुहिलों को विदेशी मानते हैं। टाड महोदय राजस्थान के इतिहास की जिल्द एक के पृष्ठ 247-51-60 पर इस प्रकार वर्णन करते हैं कि विदेशियों ने 524 ई० में वल्लभी पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। वल्लभी का राजा शिलादित्य मारा गया। उस समय उसकी रानी पुष्पावती, अम्बाभवानी की तीर्थयात्रा पर गयी हुई थी, वह बच गयी। उसी रानी ने गोह (गुहदत्त) को जन्म दिया जो आगे चल कर मेवाड़ का स्वामी बना। इतिहासकार स्मिथ भी अपनी पुस्तक आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया के पृष्ठ 190 पर राजपूतों की उत्पत्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए राजपूतों को हूणों से सम्बन्धित बताते हैं जो पाँचवीं और छठी शताब्दी में भारत में आकर यहाँ के क्षत्रियों से मिल गये थे। किन्तु भारतीय इतिहासकार ओझा, कवि श्यामलदास, गहलोत और डा० गोपीनाथ शर्मा आदि मेवाड़ के राजवंश व बापा रावल के पूर्वजों को विदेशी नहीं मानते।

वास्तव में अबुलफजल, टाड और स्मिथ की तीनों धारणाएँ निराधार हैं। अबुलफजल का यह तर्क कि नौशेरवाँ का पुत्र नौशेजाद भारत आया और फिर उसने वापस ईरान पर चढ़ाई की, आधार रहित है। इसके पक्ष में कोई फारसी साहित्य नहीं मिलता। उपलब्ध साधनों के आधार पर यह साफ पता चलता है कि विद्रोही नौशेजाद ईरान में ही मारा गया था। अतः गुहिलों के ईरानी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अब यदि टाड महोदय की कहानी को कसौटी पर कसें तो टाड का कहना है कि 524 ई० में शिलादित्य यवनों के हाथ मारा गया, जबकि मारने वाले का पिता नौशेरवाँ ही 531 ई० में ईरान के सिंहासन पर बैठा था तो फिर 524 ई० में शिलादित्य को मारने वाला नौशेरवाँ का पुत्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्मिथ की यह धारणा कि गुहिल विदेशी हूण थे, सर्वथा आधार रहित है। राजपूतों को हूण राजा मिहिर कुल का मानना या उसके

बाद में स्वतन्त्र राज्य का गठन करने वाला बताकर इन राजपूतों और गुहिलों के साथ अन्याय करेंगे।

वास्तव में गुहिल सूर्यवंशी, अयोध्या के राजा राम के वंशज हैं। वाप्पा के सिक्कों पर सूर्य का चिन्ह इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि वे सूर्यवंशी क्षत्री थे। विक्रम संवत 1028 और 1034 के शिला लेखों में उन्हें सूर्यवंशी, क्षत्रियों का उत्पत्ति स्थान कहा है। अन्य तीन लेख जो 1342, 1485 और 1557 में लिखे गये, वे भी गुहिलों को सूर्यवंशी क्षत्री मानते हैं। इन्हीं पांच लेखों के आधार पर ओझा जी उदयपुर के राजवंश को क्षत्री मानते हैं लेकिन यह धारणा भी पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है। डा० गोपीनाथ अपनी पुस्तक राजस्थान के इतिहास के पहले भाग में पृष्ठ 39 पर कहते हैं कि—"सूर्यवंशी या क्षत्रीय लिखने की परिपाटी चित्तौड़ के 1278 के लेख के आस पास अपनायी गयी प्रतीत होती है। ...... 977 ई० के आटपुर लेख में बाल नोज को 'अर्कसम' अर्थात 'सूर्य की भाँति' लिखा है न कि सूर्यवंशीय।"

मेवाड़ के राणा गुहिल वंश के हैं। इनके बारे में प्रचलित कथा इस प्रकार है कि अयोध्या के राजा राम का पुत्र कुश सूर्यवंश का संस्थापक था। राम और बुद्ध की भाँति मेवाड़ के राणा भी सूर्यवंशी है कुश से लेकर सुमित्र तक 61 राजा हुए जिनकी राजधानी अयोध्या थी। इसी वंश के भटार्क नामक गुप्त सेनापति ने, गुप्त राज्य का पतन होते देख कर काठियावाड़ पर अपना अधिकार जमा लिया और वल्लभीपुर को अपनी राजधानी बनाया। यह भटार्क भी सूर्यवंशी था। उसके दानपत्रों में उसे मैत्रक या सूर्य (मित्र) कहा गया है। इन मैत्रक राजाओं ने वल्लभीपुर में 19 पीढ़ी तक राज्य किया और इनका अन्तिम राजा शिलादित्य छठा था। उसके समय में काठियावाड़ पर सिन्ध की तरफ से अरब लोगों ने आक्रमण किया और इस राज्य को नष्ट कर दिया मैत्रक ने अपना राज्य लगभग 318-19 ई० में स्थापित किया था। इनके राज्य का विस्तार दूर दूर तक था और मालवा पर भी इनका अधिकार था। मुहणोत नैणसी अपनी ख्यात के प्रारम्भ में गुहिलोत वंश की उत्पत्ति का रोचक वर्णन करते हैं कि सीसोदिया प्रारम्भ में गहिलोत कहलाते थे। इनके पूर्वज सूर्य की उपासना करते थे जिससे कोई योद्धा उन्हें जीत नहीं सकता था। इनका राज्य दक्षिण तक फैला हुआ था। इनका अन्तिम राजा शिलादित्य था उसके कोई पुत्र न था अत उसकी रानी अम्बा देवी की उपासना करने लगी और सूर्य की कृपा से गर्भ से पुत्र रत्न प्राप्त हुआ किन्तु जब यह देवी की जात करने गयी तो पीछे से शत्रुओं ने आक्रमण कर राजा को मार डाला। रानी वापस वल्लभीपुर नहीं गयी और मार्ग के गांव में ठहर गयी। पुत्र का जन्म होने

पर उसने अपना पुत्र विजयादित्य नामक ब्राह्मण को दान दे दिया और इसी ब्राह्मण विजयादित्य के कारण दस पीढ़ी तक ये सूर्यवंशी राजा ब्राह्मण (नागर) कहलाये। नैणसी की ख्यात में यही पाया जाता है कि शिलादित्य का पुत्र गुहादित्य (गुहिल) ही ब्राह्मण विजयादित्य के बेटे के नाम से मेवाड़ में आकर गुहिल या गहलोत वंश की स्थापना की। किन्तु कवि श्यामलदास, ओझा जी और डा० गोपीनाथ इस कथा को मान्य नहीं मानते क्योंकि राजाओं का समय व राज्य काल देखते हुए यह सम्भव नहीं लगता। इसी धारणा पर गुहिल राजाओं को ब्राह्मण भी माना गया है। बापा रावल के लिये शिलालेखों में जिस 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया गया है वह इस बात का द्योतक है कि उनके पूर्वज ब्राह्मण धर्म को मानते थे किन्तु इससे यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि वे ब्राह्मण थे। गुहिलों के ब्राह्मण या क्षत्री होने पर भी मतभेद है नैणसी इन्हें नागर ब्राह्मण मानते हैं। ओझा जी नहीं मानते और कहते हैं कि उनमे ब्राह्मणों के गुण रहे होंगे अतः उन्हें ब्राह्मण समान समझा जाता है। डा० गोपीनाथ अपनी पुस्तक 'राजस्थान के इतिहास' के पृष्ठ 39 पर यह मानते हैं कि— "गुहिलों का ब्राह्मण वंशीय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

हम इस विवाद में न पड़ें और यह मानलें कि अन्य ब्राह्मण राजाओं की तरह गुहिल भी ब्राह्मण रहे होंगे। जैसे कण्व, शुंग आदि वंश भी ब्राह्मण थे। अतः बापा के पूर्वजों के बारे में दो धारणाएँ हैं कि वे सूर्यवंशी क्षत्री थे या नागदा के नागर ब्राह्मण थे।

दूसरी मतभेद की बात यह है कि बापा के पिता कौन थे ? गुहिल और बापा के बीच की वंशावली सही तौर पर नहीं मिलती। कवि श्यामलाल दास वीर विनोद के पहले भाग में पृष्ठ 250 पर बापा को शील के पुत्र अपराजित का बेटा मानते हैं। उन्हीं के आधार पर बापा का असली नाम महेन्द्र था और बापा उनकी उपाधि। लेकिन गोपीनाथ जी उसे पृष्ठ 43 पर गुहिल का निकट-तम उत्तराधिकारी मानते हैं। अतः बापा के माता-पिता व वंश जाति अभी तक अनुसंधान का विषय है। अनेक शिला लेख अलग अलग बात कहते हैं। राणा कुम्भा ने भी बहुत छानबीन के बाद अपने आपको ब्राह्मण लिखवाया था। बापा ने भी 810 ई० में सन्यास ले लिया था। साधारणतः ब्राह्मण ही सन्यास लेते हैं अतः बापा के वंश व पूर्वजों को हम निश्चित रूप से ब्राह्मण या क्षत्री नहीं कह सकते। उसके पिता भी गुहिल थे या अपराजित, कहना कठिन है। वैसे गुहिलों का राज्य आगरा, चाटसू (जयपुर) मालवा, डूंगरपुर, बागड़ आदि अनेक स्थानों पर रहा था। आगरे में गुहिल के हजारों सिक्के भी मिले हैं जो इस वंश की समृद्धि और व्यापकता का प्रमाण है। यह वंश पहले मेवाड़ में जमा फिर इसकी शाखाएँ राजस्थान के अन्य भागों में फैल गयी।

बापा का बचपन —मेवाड़ राज्य के संस्थापकों में बापा रावल का स्थान सर्वोच्च है। बापा का आरम्भिक जीवन कठिनाइयों से भरपूर था लेकिन इस वीर बालक ने सारी कठिनाइयों का सामना बड़ी दृढ़ता और वीरता से किया। श्री मनोहर प्रभाकर, भाषा अधिकारी, राजस्थान जयपुर, अपनी पुस्तक 'राजस्थान की ऐतिहासिक विभूतियाँ' के पहले पृष्ठ पर—नागा-दित्य को बापा का पिता और गुहिलोत वंश का आठवाँ शासक बताते हैं उनका कहना है कि—"मेवाड़ के सिंहासन पर बैठने वाले गुहिलोत वंश की आठवीं पीढ़ी में नागादित्य नाम का एक राजा हुआ। उसके दुर्व्यवहार से बहुत से भील अप्रसन्न थे। अतः एक दिन उन्होंने नागादित्य को जंगल में घेरकर मार डाला। इसी नागादित्य का तीन वर्षीय बालक बापा अकेला रह गया। "जिस ब्राह्मण वंश ने गुहिल की रक्षा की थी। उसी की एक ब्राह्मणी बापा को भांडेर नामक किले में ले गयी जहाँ भीलों ने भी बापा की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया किन्तु इस स्थान को सुरक्षित न पाकर ब्राह्मण उसे नागदा ले गये। यह गाँव उदयपुर से दस मील उत्तर में है। यहीं बापा ने अपना बचपन भील बालकों के बीच में बिताया।

बापा के समय का कोई लेख नहीं मिला है जिससे बापा के जीवन पर इनको कपोल कल्पित कथाएँ लिख दी गयी हैं। समय के साथ ये कथाएँ जोड़ दिए हो गयीं और उन्हें गलत साबित करना भी एक समस्या बन गयी। टाड महोदय ऐसी कथाएँ देते हैं। नैणसी का कहना है कि बापा अपने बचपन में हारीत ऋषि की गायें चराता था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर हारीत ऋषि ने राष्ट्र सेनी देवी से बापा के लिये राज्य माँगा। देवी ने 'ऐसा ही' वरदान दिया। फिर हारीत ने महादेवजी की उपासना की और महादेवजी ने प्रसन्न होकर हारीत को दर्शन दिये व एकलिंगजी का लिंग प्रकट हुआ। हारीत ऋषि ने महादेवजी से भी बापा के लिये मेवाड़ का राज्य माँगा। इसके बाद हारीत ने बापा को मिलने बुलाया। बापा कुछ देरी से पहुँचा तब तक हारीत का विमान स्वर्ग को उड़ चला था। हारीत ने मोक्ष पाने से पहले बापा को मेवाड़ का राज्य वरदान में दिया और मोरी से चित्तौड़ छीन लेने का आदेश दिया। ऊपर जाते वे एक पान बापा के लिये विमान से गिरा गये। वह पान बापा के पैरों पर गिरा यदि वह मुँह में गिर जाता तो बापा अमर हो जाता। ऋषि हारीत ने यह भी कहा था कि जमीन में पन्द्रह करोड़ मुहरें [illegible] सेना संगठित करो व राज्य बनाओ। बापा ने ऐसा ही किया और हारीत के आदेशानुसार धन निकाल कर चित्तौड़ जीता। हारीत के वरदान से बापा का वंश अमर हो गया और 1400 वर्ष बाद भी आज मेवाड़ पर [illegible] है। इतने लम्बे समय तक संसार में किसी भी वंश

ने राज्य नहीं किया अतः हारीत की तपस्या, देवी और महादेव का वरदान, एकलिंगजी का प्रगट होना आदि बातों पर विस्मयपूर्वक विश्वास कर लेना अच्छा लगता है। इसी कथा को नैणसी ने अपनी 'ख्यात' के पत्र एक से दूसरे पृष्ठ पर दिया है जिसे ओझाजी ने 'उदयपुर राज्य के इतिहास,' भाग 1, के पृष्ठ 112-115 पर दोहराया है। डा० गोपीनाथ ने भी इस कथा को मान्यता देते हुए बापा का बचपन ब्राह्मणों के पास व्यतीत मानते हुए इसी बात को 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 44 पर दोहराया है।

टाड महोदय ऊपर दी हुई दोनों कथाओं को मिलाकर वर्णन करते हैं कि बापा के पिता को ईडर के भीलों ने हमले में मार डाला। तब उसकी माँ उसे नागर की ब्राह्मणी कमलावती के वंशजों के पास ले गयी। बापा नागदा में गौएँ चराने लगा तभी वह हारीत ऋषि के सम्पर्क में आया। वहाँ उसे एकलिंगजी के दर्शन हुए और उन्हीं की कृपा से उसे मेवाड़ का राज्य मिला।

बापा के बचपन पर अनेकों और भी कथाएँ हैं जो उसके उभरते हुए व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं। उसके बाहुबल के लिये विख्यात है कि वह *एक ही झटके में दो भैंसों की बलि देता था। वह एक विशालकाय व्यक्ति* था जो चार बकरे रोज खाता था और पैंतीस हाथ की धोती और सोलह हाथ का दुपट्टा पहनता था उसकी तलवार बत्तीस मन की थी आदि आदि कथायें उसके विशालकाय शरीर और बाहुबल की प्रशंसा करने के लिये कही जाती है। वह बचपन से ही स्त्री प्रेमी था और उसने अनेक शादियाँ की थी। उसकी पहली शादी की रोचक कथा टाड महोदय ने बड़े सुन्दर शब्दों में दी है कि नागेन्द्र नगर की राजकुमारी शरद ऋतु में जब सखियों सहित झूला झूलने वन में आई और रस्सी लाना भूल गयी तो निडर बापा ने उससे विवाह का प्रस्ताव रखा कि "यदि तुम मुझ से शादी कर लो तो मैं रस्सी ला दूँगा। राजकुमरी राजी हो गयी और बापा ने उससे जंगल में गुप्त विवाह कर लिया। आगे चलकर उसे इस विवाह के कारण कुछ समय जंगलों और गुफाओं में छिप कर काटना पड़ा।

बापा ने अपनी माँ से यह सुन लिया था कि वह चित्तौड़ के मोरी राजा का भानजा है। टाड महोदय का कहना है कि इसी आधार पर वह अपने साथियों सहित चित्तौड़ गया। उस समय चित्तौड़ पर मौर्य वंश का राजा मानसिंह राज्य करता था। उसने बापा को एक सामन्त बना दिया और बापा की ख्याति बढ़ने लगी। उसी समय किसी विदेशी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। अन्य सामन्त तो डर गये किन्तु बापा ने बड़ी वीरता से

शत्रु को मार भगाया। इससे बापा की ख्याति और भी बढी। सारे
उसके अधीन हो गये। स्थिति से लाभ उठाकर बापा ने अपने मामा मानसि
मौर्य को गद्दी से हटा कर चित्तौड राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया
तभी से आज तक मेवाड पर बापा के वशजो का अधिकार चला आ र
हैं। मानसिह ने चित्तौड पर 714 से 728 ई० तक राज्य किया था। उस
बापा को 15 वर्ष की अवस्था मे अपना सामन्त बनाया था। और उसी
728 ई० मे बापा ने चित्तौड पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इ
प्रकार बापा का जन्म 713 ई० मे हुआ होगा जो भाट कवियो ने 191 से बत
है सही जान पडता है। बापा के समय से गुहिलोतों का उत्थान आरम्भ हो
है। इसके बाद 1100 वर्ष मे इस वश के 59 राजाओ ने राज्य किया। कहे
हैं कि एक सौ वर्ष तक जीवित रहने के बाद बापा सन्यासी हो कर मरा
उसने काश्मीर, कन्धार, ईराक, ईरान, तुरान, और काफरिस्ता आदि पश्चि
देशों को पराजित कर वहाँ की राजकुमारियो से विवाह किये। बापा के ए
सौ तीस सन्तान बताई जाती है। उसके यवन पुत्र नौ शेरा पठानो के ना
से इतिहास मे विख्यात हैं। हिन्दु रानियो से उसे 98 पुत्र प्राप्त हुए जो सूर्य
वशी कहलाये उसकी मृत्यु के समय उसकी हिन्दू और यवन सन्तान में य
झगडा हुआ कि उसके मृत शरीर को गाडना चाहिये या जलाना। कफन
हटाकर देखा गया तो शव पर सफेद कमल खिल रहे थे अत उन फूलो को
मान सरोवर मे ले जाया गया। यह कथा उसके मृत शरीर का महत्व बताती
है। हमे इन कथाओ को यथावत न मानकर इनके पीछे छिपी भावनाओ को
समझना चाहिये कि बापा की सन्तान को उसके मृत शरीर से भी कितना स्नेह
था। स्पष्ट है कि वह लोक प्रिय शासक रहा होगा।

वीर विनोद में तो बापा का नाम महेन्द्र माना गया है किन्तु, डा०
गोपीनाथ इसे सत्य नहीं मानते और श्री गहलोत तो अपने 'राजपूताने का इति-
हास' के पृष्ठ 182 पर बापा रावल को महेन्द्र का पुत्र राजा कालभोज कहकर
सम्बोधित करते हैं। मेवाड के इतिहास मे गुहदत्त के बाद बापा का नाम
सम्मान से लिया जाता है। शिला लेखों, दान पत्रो, सिक्को व ख्यातो मे बापा
को बप्प, बोप्प, बप्पक, बापा आदि स्नेहमय नामों से पुकारा गया है। यह
श्रद्धा का नाम है जो बापू से निकला है। आधुनिक काल मे महात्मा गाँधी
को भी 'बापूजी' व बापू आदि नामों से पुकारा गया है जो उनकी लोकप्रियता
का सूचक है। इसी प्रकार, महेन्द्र या कालभोज को सम्मान से लोग प्रजाजन
बप्पा या बापा कहकर पुकारते थी। विद्वानो ने बडे अनुसन्धानो के बाद बापा
का समय 734 से 753 ई० तक निर्धारित किया है। अर्थात् उसने

ल 19 वर्ष राज्य किया। ओझाजी का यह निष्कर्ष सामन्यत: मानने में
हीं आता कि इतने से समय में उसने इतनी ख्याति प्राप्त कर इतने देश जीत
लिये और सुल्तान भी छोड़ गया। यदि टाड द्वारा दी गयी राज्यारोहण
तिथि को मान लें तो 728 ई० से 753 तक बापा राज्य 25 वर्ष तक
रहा होगा। इसमें भी अभी खोज की आवश्यकता है। बापा का देहान्त
नागदा, मेवाड़ में हुआ था और उसकी समाधी एकलिंग जी (कैलाशपुरी)
से एक मील दूरी पर आज भी है जो बप्पा रावल के नाम से विख्यात है।

इतनी कथाओं के बाद भी यह अस्पष्ट है कि बापा का असली नाम
क्या था महेन्द्र, या कालभोज ? अपराजित और बापा के बीच की कड़ी अभी
स्पष्ट नहीं है और कथाकारों ने गुहिल के पिता का शत्रुओं द्वारा मारे जाने
वाली कथा बापा के साथ जोड़ दी लगती है। क्योंकि दोनों ही पराक्रमी थे।
रहा ऋषि हारीत की गायें चराने या भक्ति करने वाला बापा शायद पुत्र
कामना या राज्य कामना से ऋषि की सेवा वृति में लगा होगा। वैसे गुहिल
के समय से मेवाड़ पर बापा के पूर्वजों का राज्य था और बापा ने अपने शौर्य
से चित्तौड़ को भी अपने अधीन किया था। इस प्रकार बापा का जीवन आज
भी अनुसंधान कार्य मांगता है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा
कि योग्य राजाओं की विजय और प्रशासन पर अनेक प्रकार की कथाएँ लोग
बना लेते हैं और इसी प्रकार लोकप्रिय वीर शासक बापा पर भी अनेक
कथाएँ बना दी गयी जिसमें ऐतिहासिक सत्य का पुट छिपा पड़ा है।

बापा उपाधि—सबसे पहले तो यह स्पष्ट समझना चाहिये कि बापा
किसी राजा का नाम न होकर एक उपाधि है जो सम्मान और बड़प्पन का
सूचक है। शिला लेखों में इस शब्द का प्रयोग बापा, बाप्पा, बाप्पक, बाप्प,
बप्पा आदि रूपों में किया गया है। जिस प्रकार महात्मा गाँधी को बापू कहते
थे उसी प्रकार मेवाड़ के इस विख्यात शासक को बापा के नाम से जाना
गया। समकालीन लेखों के अभाव में इतिहासकार इस विषय पर अभी एक
मत नहीं हैं कि बापा की उपाधि मेवाड़ के कौन से राजा ने धारण की थी।
सामान्यत: यह तो सभी मानते हैं कि गुहिल के बाद मान्यता प्राप्त शासकों
में बापा का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। लेकिन विभिन्न विद्वान बापा का नाम
व समय अलग अलग बताते हैं। इन विरोधी मतों में टाड, कवि श्यामलदास,
भण्डारकर, ओझा और डा० गोपीनाथ शर्मा के मत उल्लेखनीय हैं।

1. टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान के इतिहास के पहले भाग
में पृष्ठ 263 पर कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में शील के स्थान पर 'बप्प' नाम को

ने खुम्माण की दी। ओझाजी इसे कालभोज की उपाधि मानते हैं। ओझाजी खुम्माण को तो कालभोज का पुत्र मानते हैं। इस कथन की पुष्टि ख्यातों में भी की गयी है। राज प्रशस्ति में भी बापा को खुम्माण का पिता कहा गया है। इस आधार पर ओझा जी काल भोज को बापा मानते हैं। किन्तु डा० गोपीनाथ इस तर्क का खंडन करते हैं। वे अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 46 पर कहते हैं कि काल भोज का पुत्र खुम्माण था अतएव काल भोज बापा हो, यह कोई तर्क नहीं हो सकता।

5. डा० गोपीनाथ जी का तर्क है कि कुम्भलगढ़ प्रशस्ति के आधार पर बापा के बाद अपराजित, महेन्द्र और कालभोज मेवाड़ के शासक हुए। चित्तौड, आबू और राकपुर आदि के शिला लेख भी बापा और कालभोज को अलग अलग मानते हैं। डा० गोपीनाथ जी बापा या बाप को उपाधि नहीं मानते जैसा कि अन्य सभी लेखकों की धारणा है। बम्बई ऐशियाटिक सोसायटी जनरल की जिल्द 22 वीं के पृष्ठ 166-67 के आधार पर जिसमें नागों की प्रशस्ति में 'बप्पक' को स्वतन्त्र नाम माना है, गोपीनाथ जी महेन्द्र, अपराजित खुम्माण और कालभोज की भांति बापा को भी एक राजा का स्वतन्त्र व पूर्ण नाम मानते हैं। वल्लभी के नाम पत्र में 'बप्प' और धुलेख के अभिलेख में 'बप्पदती' शब्दों का प्रयोग, उपाधि न होकर नाम के लिये प्रयोग में लाया गया है। इस आधार पर डा० गोपीनाथ बापा को मेवाड़ के एक शासक का नाम मानते हैं उपाधि नहीं? यदि इसे मान लिया जाय और अन्य लेखकों के प्रमाणों को असत्य भी मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि बापा का समय क्या था? वह किस समय मेवाड़ का शासक था?

शासन काल—जिस राजा के नाम पर इतिहासकारों में घोर विवाद है उसके शासन का समय भी निर्विवाद नहीं हो सकता। पहले हम यह देखें कि भिन्न भिन्न इतिहासकारों ने बापा का समय क्या निर्धारित किया है।

टाड महोदय ई. 769 में वल्लभी नाश मानते हैं जिसके बाद वहाँ का राजवंश मेवाड़ में आया और उसके 191 वर्ष बाद बापा का जन्म हुआ। इस प्रकार बापा का जन्म 960 ई के आस पास आ जाता है जो माना नहीं जा सकता।

दूसरा मत कवि श्यामलदास का है जो वीर विनोद के पहले भाग में पृष्ठ 252 पर बापा की चित्तौड विजय का समय 734 ई. मानते हैं। ओझा जी बापा की चित्तौड विजय का समय 713 ई. मानते हैं और उसके सन्यास का समय 753 ई। डा० भंडारकर भी इस मत से सहमत हैं। इन तीनों लेखकों के आधार पर यह तो माना ही जा सकता है कि बापा 734 से 753 ई. के बीच मेवाड़ का शासक था। ओझा जी मानसरोवर के अभिलेख

के आधार पर ही 713 ई में बापा की चित्तौड़ विजय मानते हैं। इसी मत की पुष्टि टाड महोदय ने राजस्थान के इतिहास के पहले भाग में पृष्ठ 1[illegible] पर की है और वीर विनोद के पहले भाग पृष्ठ 378-380 पर कवि श्यामल दास भी मानसरोवर के लेख को ही मान्यता देकर 713 में बापा की चित्तौड़ विजय मानते हैं।

किन्तु इनके विपरीत डा० गोपीनाथ तीसरे मत पर जोर देते हैं। "नवीं शताब्दी तक चित्तौड़ पर गुहिलों के द्वारा अधिकार होना कल्पना से बाहर है। यदि मोरियों से चित्तौड़ किसी ने लिया तो वे प्रतिहार थे।" अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 48 पर वे स्पष्ट कहते हैं कि "चित्तौड़ विजय के समय को बापा से मिलाना भूल है।" अबुल फजल व राय नैणसी के तर्कों का समर्थन कर गोपीनाथ जी ई 713 में चित्तौड़ विजय और 75[illegible] में सन्यास, इन दोनों को सत्य नहीं मानते। उनका कहना है कि, चित्तौड़ की 1274, आबू की 1285 और राणपुर की 1439 ई. की इन तीनों प्रशस्तियों में बापा को भूल से गुहिल के पिता लिखा दिया गया है। यह सम्भव नहीं बापा गुहिल के निकटतम वंशधरों में था। इस प्रकार वह गुहिल का पाँचवाँ वंशज था। इस आधार पर गोपीनाथ जी बापा का समय 620 ई. के लगभग मानते हैं बापा को शील और अपराजीत के पीछे माने तो वह सातवीं शताब्दी के तीसरे चरण में मेवाड़ का राजा रहा होगा।

संक्षेप में यह मान लिया जाय कि बापा ने सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राज्य किया होगा, तो विवाद का अन्त हो सकता है। वैसे बापा ने कई वर्षों तक मेवाड़ पर राज्य किया होगा। इस बात का प्रमाण यह है कि बापा ने कन्धार, काश्मीर, ईराक, ईरान, तूरान और काफरिस्तान आदि अनेक देशों को जीत कर वहाँ की यवन राजकुमारियों से विवाह किया। उनके 130 सन्तान थी जिनमें से अनेक यवन रानियों से जनमी होने के कारण नौशेरा के पठानों के नाम से विख्यात हैं। देलवाड़ा नरेश के एक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर बापा ने लगभग सौ वर्ष की अवस्था प्राप्त की आधुनिक लेखकों की धारणा है कि बापा ने 50 वर्ष की अवस्था में खुरासान पर विजय प्राप्त की और वहाँ रह कर अनेक स्त्रियों से विवाह किया। और अन्त में उसकी वहीं मृत्यु हो गयी। वैसे बापा का देहान्त नागदा में माना जाता है और आज भी उसका समाधि स्थान 'बापा रावल' के नाम से मेवाड़ में प्रसिद्ध है। अतः यह नहीं माना जा सकता कि बापा ने सौ वर्ष की अवस्था पाई और उसका देहान्त खुरासान में हुआ जहाँ उसके शव की अन्त्येष्टी क्रिया के लिये उसके हिन्दू व मुसलमान पुत्रों में झगड़ा हुआ। जो भी हो बापा मेवाड़ का एक प्रतिभा सम्पन्न रावल था जिसने दूर दूर देशों को जीतकर इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया। इस विवाद का अभी निश्चित रूप से अन्त नहीं कहा

: सकता कि बापा ने मेवाड़ पर 713 ई में अधिकार किया था 620 ई. और यह भी निश्चित नहीं है कि उसने कितने समय तक राज्य किया और मका देहान्त कहाँ हुआ ? हो सकता है कि उसकी हिन्दू सन्तान ने उसकी मात्रि नागदा में बना दी हो और उसका देहान्त खुरासान में ही हुआ हो। पा के जन्म, राज्य काल, वशावली, *विजय और मृत्यु के विषय में अनेक* वेविध कथाएँ इस बात का प्रमाण अवश्य है कि वह एक सफल प्रभावशाली ासक था। उसकी ऐतिहासिकता व समय अभी अनुसंधान कार्य माँगते हैं।

बापा रावल का सिक्का—सिक्के शासक का प्रतिबिम्ब हैं और साम्राज्य की समृद्धि के प्रमाण भी। प्राचीन भारत के अधिकांश शासकों के बारे में सिक्कों ने महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। राजा अपने नाम के सोने, चाँदी और ताँबे : सिक्के चलाते थे। जो बहुधा जमीन में, बनियों के पास, गाँव के लोगों के ले में *नाके लगाकर लटकाये हुए देखने में आते हैं। दुर्भाग्य इस बात का है* के प्राप्त होते ही सोने और चांदी के सिक्कों को गला कर सुनार लोग जेवर बना लेते हैं और ताँबे के सिक्कों को ठठेरों को देकर लोग बर्तन बनवा लेते हैं और इस प्रकार इतिहास का एक बड़ा साधन नष्ट हो जाता है। इतने पर भी अनेक अजायबघरों में प्राचीन व मध्य कालीन भारत के सिक्के सग्रहीत है जो हमें पर्याप्त सूचना देते हैं। राजस्थान में शिक्षा के अभाव में सिक्कों का संग्रह बहुत कम हुआ। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि राजस्थान में सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्के बनते थे। राजस्थान के इतिहास में छठी से *मे 12 वीं शताब्दी तक मेवाड़ के गुहिल (सिसोदिया), अजमेर के चौहान और* कन्नोज के प्रतिहारों के चाँदी और ताँबे के सिक्के कहीं कहीं मिल जाते हैं। इन 600 वर्षों के समय का सोने का सिक्का बापा रावल के अतिरिक्त और किसी का नहीं मिला है।

बापा रावल का सोने का सिक्का 1951 ई. में अजमेर के एक सुनार के पास मिला। भीलवाड़ा का एक महाजन जेवरों के साथ इसे अजमेर में बेच गया था। इसके साथ दो मोहरें और भी थीं एक अकबर की और दूसरी औरंगजेब की। ओझा जी ने इन तीनों सिक्कों को अजमेर के सुनार से खरीद कर सिरोही महाराज के सग्रहालय में रख दिया जहाँ ये आज भी विद्यमान है। इस सोने के सिक्के में एक सोने का नाका (कुंडा) लगा था जिसे सुनार ने उखाड़ दिया था। इस सिक्के का तोल 115 ग्रेन (65⅝ रत्ती) है। इस सिक्के को देख कर यह स्पष्ट है कि बापा रावल के समय सोने के सिक्के प्रचलित थे।

बापा के सोने के सिक्के में सामने की तरफ छ उल्लेखनीय बातें हैं—

1. ऊपर की तरफ से बाँई ओर आधे हिस्से में बिन्दियों की एक पंक्ति है जिसे माला कहते हैं।

एक साथ एक ही सिक्के पर होने से कुछ सन्देह होता है। डा० गोपीनाथ जी, बापा के स्वर्ण सिक्के के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उचित समझते हैं। फिर भी सिक्के के अस्तित्व को चुनौती नहीं दी जा सकती। इन दोनों सिक्कों को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है बापा अपने समय का एक लोकप्रिय महान शासक था।

बापा का मूल्यांकन—बापा का सही मूल्यांकन एक कठिन कार्य है। उसके विषय में प्राप्त सामग्री अपर्याप्त ही नहीं संदिग्ध भी है फिर भी मोटे तौर पर बापा एक बहादुर बालक वीर योद्धा, अजेय सेनापति और दीर्घकालीन कुशल शासक था। कर्नल टाड के अनुसार "वह कई राजाओं के वंश क्रमों का संस्थापक, शासक के रूप में मान्यता प्राप्त, मनुष्यों में पूज्यनीय और अपनी कीर्ति से चिरंजीवी था।" टाड महोदय ने यह मत अपनी पुस्तक के पृष्ठ 184 पर दिया है।

कवि श्यामदास जी वीर विनोद के पृष्ठ 253-54 पर कहते हैं कि—"जिसमे कहानियों का कुछ भी हिस्सा सही न हो, तो भी इसमे सदेह नहीं कि महेन्द्र (बापा) हिन्दुस्तान का बड़ा प्रतापी, पराक्रमी और तेजस्वी महाराजा हुआ, और उसने अपने पूर्वजों के प्रताप, बड़प्पन और पराक्रम को दो बार प्रकाशित किया।"

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 182 पर लिखते हैं कि—"बापा रावल बड़ा प्रतापी और पराक्रमी राजा था। मेवाड़ के मूल पुरुष गुहिल के बाद ख्याति और वीरता में इसका नाम आता है।"

श्री मनोहर प्रभाकर, भाषा अधिकारी राजस्थान, जयपुर, अपनी पुस्तक "राजस्थान की ऐतिहासिक विभूतियाँ के पृष्ठ 4 पर लिखते हैं कि" गजनी नगर के यवन शासक सलीम को पराजित कर बप्पा चित्तौड़ लौटा। उसके मामा मानसिंह को सभी सामन्त बापा की विजय और पराक्रम से प्रभावित होकर बापा के आस पास इकट्ठे हो गये। बापा ने स्थिति से लाभ उठा कर मामा मानसिंह को चित्तौड़ के सिंहासन से हटा दिया और स्वयं बप्पा रावल के नाम से चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा। राजा बनने के बाद उसने 'हिन्दू सूर्य' 'राजगुरु' और 'चक्कवै' नाम की तीन उपाधियाँ धारण की।"

श्री ओझा जी 'उदयपुर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 116 पर कहते हैं कि—"बापा स्वतन्त्र, प्रतापी और एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था।" प्रायः सभी इतिहासकार बापा को योग्य सेनापति, विजेय और बड़े साम्राज्य का स्वामी मानते हैं। इसी आधार पर डा० गोपीनाथ शर्मा भी अपनी पुस्तक मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स के पृष्ठ सात पर कहते हैं कि "बापा का स्थान मेवाड़ के इतिहास में अग्रणीय है।"

इसी प्रकार श्री सी. वी. वैद्य अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मिडीवल हिन्दू इंडिया' की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 72-73 पर लिखते हैं कि—"मेवाड़ वंश

अध्याय 4

चौहानों का इतिहा

चौहानों का इतिहास

"चौहान राज्य राजस्थान के दूरवर्ती छोर कोने पर बसा हुआ है। मरु-भूमि की अन्तरंग रियासतों में चौहानों का राज्य अनेक झगड़ों और विवाद होने के कारण साधारण मालूम होता है।" कर्नल टाड ने चौहानों के राज्य का वर्णन इस वाक्य से प्रारम्भ किया है। वे अपनी पुस्तक 'राजपूताने के इतिहास' के पृष्ठ 608 पर चौहानों की उत्पत्ति और साम्राज्य की विशेषताएँ बताते हैं। वास्तव में चौहानों का इतिहास राजस्थान के उत्तर पश्चिमी भाग में एक समृद्धि और प्रगति का युग था। इस वंश में वासुदेव चौहान से लगाकर पृथ्वी राज III चौहान के लड़कों के समय तक पांच सौ वर्ष तक उत्तर व पश्चिमी भारत में चौहानों का आधिपत्य था। चौहान राज्य का विधिवत अध्ययन करने के लिये हमें इन बातों पर ध्यान देना होगा—

1. चौहानों की उत्पत्ति—शिला लेखों के आधार पर यह माना जाता है कि चौहान जांगल देश (मरुभूमि) के राजा थे। उनका राज्य कई केन्द्रों में विभक्त था। भरौच के चौहान सबसे अधिक पुराने थे। उन्होंने गुर्जर राज्य के पतन के बाद 736 ई. के लगभग अपना राज्य स्थापित कर लिया था। धौल-पुर में भी चौहानों का राज्य था। प्रतापगढ़ भी इन्हीं के अधीन था और सीकर, बीकानेर, सांभर, जालौर और जोधपुर के एक भाग पर भी चौहान ही राज्य करते थे। वास्तव में चौहानों का आदि स्थान सीकर है और इनके आदि पुरुष सीकर में ही रहते थे। चौहान सामन्त प्रतिहारों के अधीन थे। जयपुर राज्य के शेखावाटी में प्रसिद्ध हर्षनाथ के मन्दिर में प्राप्त शिला लेख जो चौहान राजा विग्रह राज के समय का 973 ई. है साफ पता चलता है कि सांभर का चौहान राजा सिंहराज कन्नौज के प्रतिहार राजा देवपाल के अधीन सामन्त था। श्री ओझा का मत है कि—"सांभर का चौहान राजा सिंहराज किसी चक्रवर्ती अर्थात बड़े राजा का सामन्त था। ....सांभर के चौहान भी पहले कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे।" पृष्ठ 173 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम भाग पर चौहानों की उत्पत्ति व विस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे पहले सामन्त मात्र थे। किन्तु अन्य मत यह है कि ये चौहान भी ब्राह्मणों की सन्तान थे। तीसरा मत यह है कि ये विदेशी गुर्जर थे।

चौहानों का सबसे पहला शिलालेख बीजोलिया में प्राप्त हुआ है जो 1169 ई. का है। इस शिलालेख पर अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं उन्हीं के आधार

राज्य विस्तार था। उन्होंने खाली देश विजय ही नहीं की वरन जीते हुए प्रदेशों को उचित शासन व्यवस्था भी प्रदान की।

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 32-33 पर कहते हैं कि "राजस्थान का एक दूसरा महत्वपूर्ण राज्य सांभर के चौहानों का था। ये लोग दसवीं शताब्दी के अंत में प्रतिहारों से स्वतन्त्र हो गये थे। चौहानों ने ही अजमेर नगर बसाया था। इस वंश के अर्णोराज ने मुसलमानों को अजमेर के मैदान में हराकर आनासागर झील बनवाई।" इसी अर्णोराज के पुत्र विग्रहराज ने सैनड़ी के पास तुर्कों को हराकर पूरे आर्यवृत को स्वतन्त्र कर लिया था। इसी विग्रहराज ने 1115 ई. में तँवरों को हरा कर दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया था। विग्रहराज ने अजमेर में एक महाविद्यालय बनवाया जिसे मुसलमानों ने बाद में मस्जिद बना दिया था। आज भी इस स्थान को ढाई दिन का झौंपड़ा कहते हैं इस झौंपड़े की स्थापत्य कला देखने योग्य है।

चौहान राज्य के उत्तर पूर्व में मारवाड़ राज्य था और दक्षिण-पूर्व में कोलीवाड़ा। दक्षिण में नमक की झील और पश्चिम में रेगिस्तान था। चौहान राज्य दो भागों में बँटा हुआ था पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी चौहानों को अपने पर बड़ा गर्व है। वे अजमेर के मानिकराय और विमल देव तथा दिल्ली के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज को अपना वंशज मानते हैं। कर्नल टाड अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 608 पर कहते हैं कि—"आठवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक चौहान राज्य अजमेर से सिन्ध की सीमा तक फैला हुआ था। उनकी राजधानियाँ अजमेर, नागौर, जालौर, सिरोही और बुन्दा कोटन थी। यों तो साधारण तौर पर वे सभी स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु उनको कुछ बातों में अजमेर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी।"

वासुदेव से लेकर विग्रहराज तक चौहानों की कई पीढ़ियाँ बीत गई लेकिन ऐतिहासिक प्रमाण न होने के कारण हमारा ज्ञान केवल पौराणिक कथाओं पर ही आधारित है अतः उनकी क्रमबद्ध वंशावली तैयार करना बड़ा कठिन है। नाटक और साहित्य के आधार पर वासुदेव के बाद नरदेव का नाम और आता है जिसने जोधपुर के एक नागौर पर अधिकार कर शासन किया था। इस प्रकार यदि थोड़ा बहुत श्रम लगाने की चेष्टा करें तो वासुदेव, नरदेव, विग्रहराज दुर्लभराय, अजय राज अर्णोराज, पृथ्वीराज आदि लगभग एक दर्जन महत्वपूर्ण शासक तो साफ तौर पर सामने आते हैं। विग्रहराज भी चार हुए थे और पृथ्वीराज तीन। पृथ्वीराज चौहान तृतीय के बाद उसके दो लड़कों ने अजमेर और रण थम्भोर पर राज्य किया। चौहानों के अन्तिम राजा हमीर से अलाउद्दीन ने 1300 ई. में रण थम्भोर छीन कर इस वंश के राज्य का सदा को अन्त कर दिया।

नरदेव के बाद चौहानो की छ पीढ़ियों मे सिर्फ विग्रहराज उल्लेखनीय है। चौहान शिलालेखो मे विग्रह राज को मतंगा (मुसलमानों का विनाशक) कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उसके समय मे गजनी के सुलतानो ने चौहानो से युद्ध शुरू कर दिया था। फरिश्ता नामक इतिहासकार विग्रह-राज को अजमेर का शासक बताता है और महमूद गजनी से उसका युद्ध भी बताता है। लेकिन अन्य फारसी के लेखक इस कथन की पुष्टि नही करते। उसके बाद सांभर का राजा दुलभ राज हुआ जिसने महाराजा की उपाधि धारण की और चौहानो के राज्य को सिन्ध नदी के डेल्टे (मुहाने) तक पहुँचा दिया। दुलभ राज तीसरा मुसलमानो से लडता हुआ मारा गया। दुर्लभराज तीसरे ने गुजरात के चालुक्यो को भी युद्ध मे हराया था। उसके बाद अजय राज ने भी गजनो की सेनाओं को हराया। और 'गजंन मतगा' कहकर पुकारा गया। स्पष्ट है कि चौहानो को अपने प्रारम्भ मे पश्चिम मे मुसलमानो से निरतर संघर्ष करना पडा। उनका पूर्वी मोर्चा भी शान्तिमय नही था। कन्नौज के राजा सदा चौहानो के पतन की कामना करते थे। इन सब परिस्थितियो मे, दोनो तरफ शत्रुओ मे घिरा होने के बाद भी चौहान धीरे-धीरे राज्य बढाते गये। अजयराज ने अजमेर बसाया क्योकि साभर सुरक्षित स्थान नही था और आये दिन के आक्रमण का भय सदा बना रहता था और प्राचीन काल मे राजधानी हार जाना, राज्य हार जाना माना जाता था अत अजयराज ने पहाडियो से घिरे हुए सुरक्षित स्थान अजमेर को अपनी राजधानी बनाई। अर्नोराज पहले के चौहान राजाओ से अधिक प्रसिद्ध लोकप्रिय था। उसके शासन काल मे पाच महत्वपूर्ण बाते या कार्य हुए—

1. अजमेर के मैदान मे मुसलमानो को पराजित कर आनासा[गर] भील का निर्माण किया।
2 उसने मालवा के शासक नरवर्मन को हराया।
3. चौहानो का राज्य विस्तार सिन्ध तक कर दिया।
4 इसने हरितनका पर आक्रमण किया।
5. उसने तोमरो से दिल्ली छीनकर सांभर के चौहानो के अधी[न]... चौहानो को भारतीय शक्ति बना दिया।

3 राज्य विस्तार नीति—विग्रह राज ने मुसलमानो को ह[राया]... दुर्लभ राज ने चालुक्यों को हराया। अजयराज ने गजनी की सेना को ... और अर्नोराज ने तो दिल्ली को ही अपने अधीन कर लिया। इस प्र[कार] ... स्पष्ट है कि चौहान राजा राज्य विस्तार मे विश्वास रखते थ। उन... विस्तार की नीति थी। इसी विस्तारवादी नीति का ध्यान ... सांभर से बढ़कर अजमेर कर ली थी

मे पानी की कमी को पूरा करने के लिये अर्णोराज ने आनासागर झील का निर्माण करवाया था। चौहानो ने अपने राज्य का विस्तार उत्तर और पूर्व मे किया। उन्हें सदा तीन मोरचो पर शत्रुओ का सामना करना पडा। गुजरात के चालुक्य, दिल्ली के तोमर और सीमा के मुसलमान शासक सदा चौहानों मे लड़ते रहे। इस राज्य विस्तार की नीति के कारण चौहानो ने उत्तर पश्चिमी भारत मे एक सगठित और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर दी थी। यदि 1193 ई० मे तराइन की दूसरी लड़ाई मे पृथ्वीराज मुहम्मद गौरी से नही हारा होता तो भारत का इतिहास ही कुछ और होता। चौहान राज्य दो भागो मे बँटा हुआ था और कर्नल टाड के अनुसार "राज्य के दोनो भागो के आस पास बबूल तथा काँटेदार पेडो का परकोटा था।" पृष्ठ 609.

जब पृथ्वीराज चौहन गद्दी पर बैठा तो चौहानो का राज्य विस्तार काफी हो चुका था। पैत्रिक सम्पत्ति के रूप मे पृथ्वीराज को एक बहुत बडा साम्राज्य प्राप्त हुआ। डा० दशरथ शर्मा का कहना है कि "ये लोग अपने वश के सर्वाधिक प्रतिभाशाली शासक पृथ्वीराज तृतीय के लिये एक शक्तिशाली राज्य, जिसकी राजधानी अजमेर थी, विरासत मे छोड गये।"

चौहान राज अपने आप को हिन्दू धर्म और सस्कृति का रक्षक मानते थे। उन्होंने सदा अपने धर्म और सस्कृति रक्षा मुसलमानो से की। इसीलिये इन्हें महाकाव्यो में 'मनगा' कहा गया।

अध्याय 5

पृथ्वीराज चौहान

1166–1193

तराइन की लड़ाई के परिणा
पृथ्वीराज का चरित्र
राजपूतों की पराजय के कार

पृथ्वीराज चौहान

1. प्रारम्भिक जीवन — जिन दिनों दिल्ली के राजा अनगपाल का कन्नौज के राजा से युद्ध हुआ, उन दिनो अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर ने अनंगपाल की सहायता की। लड़ाई मे कन्नौज का राजा हार गया। अनगपाल अजमेर के राजा सोमेश्वर से प्रसन्न हुआ और अपनी लड़की कर्पूर देवी का विवाह सोमेश्वर से कर दिया। टाड का कहना है कि "इसी लड़की से पृथ्वीराज का जन्म हुआ।" इसके कुछ दिनो पूर्व अनगपाल ने अपनी लड़की का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से किया था जिससे जयचद का जन्म हुआ था। टाड महोदय के अनुसार पृथ्वीराज और जयचद मौसी के बेटे भाई थे। अनगपाल के कोई लड़का नही था अत उसने पृथ्वीराज को आठ वर्ष की अवस्था मे दिल्ली का राजा घोषित कर दिया। अनगपाल की इस घोषणा से पृथ्वीराज और जयचद मे स्थाई शत्रुता हो गई। "पृथ्वीराज जब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो जयचद ने न केवल उसकी अधीनता मानने से इन्कार कर दिया, बल्कि उसने अपनी श्रेष्ठता की घोषणा की।" टाड—'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ 144.

पृथ्वीराज का जन्म 1166 ई. मे हुआ। डा० दशरथ शर्मा ने पृथ्वीराज की जन्म तिथि' पर एक लेख राजस्थान भारती बीकानेर से प्रकाशित किया था इस लेख में इसकी जन्म तिथि को प्रमाणित करते हुए डा० महोदय ने कहा कि—'पृथ्वीराज का जन्म शुभ मुहूर्त में हुआ था।" वास्तव मे पृथ्वीराज मे जन्म से बहुत सी विशेषताएँ थी। ससार के अधिकांश योग्य शासको की भाँति पृथ्वीराज भी छोटी उमर मे अनाथ हो गया। ग्यारह वर्ष की अवस्था मे उसके पिता सोमेश्वर का देहान्त हो गया। बाबर भी जब नौ वर्ष का था तो उसके पिता का देहान्त हो गया था। हुमायूँ भी अकबर को तेरह वर्ष का छोड कर चल बसा था। पृथ्वीराज ने भी सिर्फ ग्यारह वर्ष की अवस्था में राज्य कार्य सभाल लिया। पृथ्वीराज को अपनी योग्य माता कर्पूर देवी और स्वामीभक्त मत्री कमासा का संरक्षण प्राप्त था।

पृथ्वीराज ने अपने छोटे से जीवन मे पाँच सुन्दर रमणियों की सुन्दरता पर मोहित होकर उनसे विवाह किया था जिनमे से सयोगिता एक थी। वह स्वय तो सुन्दर नही था किन्तु सुन्दरता का उपासक अवश्य था और उसके गुण

तराइन की लड़ाई के परिणाम
पृथ्वीराज का चरित्र
राजपूतों की पराजय के कारण

पृथ्वीराज चौहान

1. प्रारम्भिक जीवन -- जिन दिनों दिल्ली के राजा अनगपाल का कन्नौज के राजा से युद्ध हुआ, उन दिनों अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर ने अनगपाल की सहायता की। लड़ाई में कन्नौज का राजा हार गया। अनगपाल अजमेर के राजा सोमेश्वर से प्रसन्न हुआ और अपनी लड़की कर्पूर देवी का विवाह सोमेश्वर से कर दिया। टाड का कहना है कि "इसी लड़की से पृथ्वीराज का जन्म हुआ।" इसके कुछ दिनों पूर्व अनगपाल ने अपनी लड़की का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से किया था जिससे जयचंद का जन्म हुआ था। टाड महोदय के अनुसार पृथ्वीराज और जयचंद मौसी के बेटे भाई थे। अनगपाल के कोई लड़का नहीं था अतः उसने पृथ्वीराज को आठ वर्ष की अवस्था में दिल्ली का राजा घोषित कर दिया। अनगपाल की इस घोषणा से पृथ्वीराज और जयचंद में स्थाई शत्रुता हो गई। "पृथ्वीराज जब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो जयचंद ने न केवल उसकी अधीनता मानने से इन्कार कर दिया, बल्कि उसने अपनी श्रेष्ठता की घोषणा की।" टाड--'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ 144.

पृथ्वीराज का जन्म 1166 ई० में हुआ। डा० दशरथ शर्मा ने पृथ्वीराज की जन्म तिथि' पर एक लेख राजस्थान भारती बीकानेर से प्रकाशित किया था इस लेख में इसकी जन्म तिथि को प्रमाणित करते हुए डा० महोदय ने कहा कि--'पृथ्वीराज का जन्म शुभ मुहूर्त में हुआ था।" वास्तव में पृथ्वीराज में जन्म से बहुत सी विशेषताएँ थी। संसार के अधिकांश योग्य शासकों की भाँति पृथ्वीराज भी छोटी उमर में अनाथ हो गया। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसके पिता सोमेश्वर का देहान्त हो गया। बाबर भी जब सौ वर्ष का था तो उसके पिता का देहान्त हो गया था। हुमायूँ भी अकबर को तेरह वर्ष का छोड़ कर चल बसा था। पृथ्वीराज ने भी सिर्फ ग्यारह वर्ष की अवस्था में राज्य कार्य संभाल लिया। पृथ्वीराज को अपनी योग्य माता कर्पूर देवी और स्वामीभक्त मंत्री कमास का संरक्षण प्राप्त था।

पृथ्वीराज ने अपने छोटे से जीवन में पाँच सुन्दर रमणियों की सुन्दरता पर मोहित होकर उनसे विवाह किया था जिनमें से संयोगिता एक थी। वह स्वयं तो सुन्दर नहीं था किन्तु सुन्दरता का उपासक अवश्य था और उसके गुण

आक्रमणों तक चौहानों को आत्म रक्षा के लिये उग्र नीति को ही अपनाना पड़ा। मुहम्मद गोरी की सेनाओं ने 1178 में गुजरात को रौंदा लूटा था। अपने देश की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक था कि पृथ्वीराज सदा युद्ध के लिये तैयार रहे।

2 नागार्जुन का विद्रोह —उसके निकट के सम्बन्धी नागार्जुन ने जो विग्रहराज की सन्तान था, आन्तरिक विद्रोह खड़ा कर दिया। पृथ्वीराज को अपने राज्य की अखण्डता बनाये रखने के लिये तथा आन्तरिक शान्ति के लिये भी शस्त्र उठाने पड़े। नागार्जुन ने कदाचित अजमेर पर भी अपना अधिकार जमा लिया था।

3. अलवर और भरतपुर का विद्रोह —पृथ्वीराज को अल्प आयु देख कर अलवर, भरतपुर और मथुरा के जिलों में विद्रोह खड़े हो गये थे। इन जिलों के भडानकों ने अपने आप को स्वतन्त्र करने के लिये विद्रोह शुरू कर दिये थे। पृथ्वीराज के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह तमाम विद्रोहियों का दमन कर चौहानों की सत्ता को स्थापित रखे।

4. दिग्विजय कामना:—प्राचीन भारत से यह प्रथा चली आ रही थी कि योग्य राजा अपने राज्य विस्तार के लिये दिग्विजय करते थे। पृथ्वीराज भी समुद्रगुप्त की तरह और सूर्यवंशी राजा राम की तरह सारे भारत को जीत कर यश कमाना चाहता था। इसी इच्छा की पूर्ति के लिये वह लगभग दस वर्ष तक राज्य विस्तार के लिये युद्ध करता रहा 1182 से 1193 तक। इससे पहले का समय आन्तरिक विद्रोह का दमन करने में लग गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों का भय, आन्तरिक विद्रोह और दिग्विजय की कामना ने पृथ्वीराज को युद्ध नीति अपनाने के लिये बाध्य कर दिया।

पृथ्वीराज के कार्यों का अवलोकन करने पर हम उन्हे निम्नांकित भागों में विभक्त कर सकते हैं

1. नागार्जुन का दमन
2. चालुक्यों पर विजय
3. भण्डानकों का दमन
4. चन्देलों पर विजय
5. जयचंद से सम्बन्ध
6. मुहम्मद गोरी से युद्ध

दूसरे शब्दों में पृथ्वीराज की युद्धनीति को हम छः भागों में बाँट सकते हैं।

में परियाप्त जानकारी देते हैं। इस युद्ध के बारे में खरगच्छा, पट्टावली में भी जानकारी है। इस ग्रन्थ का लेखक जिनपाल हैं। इस प्रकार नागौर में लड़े गये चालुक्य चौहान युद्ध के बारे मे चार साधनों मे सामग्री मिलती है। चारलू गाँव के दो शिला लेख, जिनपाल द्वारा रचित खरगच्छा पट्टावली और पृथ्वीराज रासो। इन आधारों पर यह निर्णय निकलता है कि वि. स. 1241 में पृथ्वीराज चौहान ने नागौर के किले के बाहर लड़े गये घमासान युद्ध मे गुजरात के चालुक्य राजा जगदेव को पूर्ण रूप मे पराजित कर उसे सदा के लिये अपना सेवक बना लिया। जिनपाल लिखता है कि 'चालुक्य शासक ने अपने मुँह में दाब दबा कर अपनी जान की भीख प्राप्त की।' इसी वर्ष पृथ्वी राज और जगदेव में स्थाई सन्धि हो गई और जगदेव अपने जीवन के शेष वर्ष अपनी सन्धि को निभाता रहा और वि स 1241 को लड़े गये युद्ध के फल स्वरूप चौहानों और चालुक्यो की दीर्घ कालीन शत्रुता समाप्त हो गई। पृथ्वीराज ने चालुक्यों को उत्तर में राज्यविस्तार की नीति को सदा के लिये समाप्त कर दिया। इस प्रकार वह गुजरात पर विजय पाने मे सफल रहा!

6 भण्डानकों का दमन—चालुक्यों को पराजित करने के बाद पृथ्वीराज समस्त उत्तरी भारत को अपने अधीन करने के लिये उत्सुक हो गया। किन्तु आधुनिक अलवर, भरतपुर और मथुरा जिले अभी उसके अधीन नहीं थे। इन जिलों पर भण्डानकों का अधिकार था। दिल्ली से अहाजपुर तक समस्त राजस्थान पर अधिकार जमाने के लिये इन भण्डानकों को रास्ते मे हटाना आवश्यक था। दूसरी तरफ ये स्वतंत्र शासक अपना राज्य विस्तार कर रहे थे और डा० दशरथ शर्मा का तो मत है कि आधुनिक रेवाड़ी, हिसार और गुड़गाँव पर भी इन लोगों ने अपना अधिकार जमा लिया था। इस प्रकार दिल्ली और अजमेर के बीच एक नई शक्ति का विकास हो रहा था। पृथ्वीराज ने अपनी सेना का नारायना (आधुनिक नरैणा जो फुलेरा और किशनगढ़ के बीच है) को अपना सैनिक केन्द्र बनाया और चालुक्यों को परास्त करने के बाद ही भण्डानकों के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया। भण्डानकों को घेरता हुआ पृथ्वीराज गुड़ा पुरा (आधुनिक गुड़गाँव, दिल्ली के पास) से आया और यहाँ एक ही निर्णयात्मक युद्ध में भण्डानकों को हराकर अलवर, भरतपुर, मथुरा, गुड़गाँव रेवाड़ी और हिसार के जिले अपने राज्य में मिला लिये। यह विजय निर्णयात्मक ही नहीं अत्याधिक महत्वपूर्ण थी।

7. चन्देलों पर विजय—चालुक्य और भण्डानकों को हरा लेने के बाद पृथ्वीराज का साहस बहुत बढ़ गया और उसने पूर्व मे स्थित बुंदेल खण्ड के शासक चंदेलों को पराजित करने की योजना बनाई। उस समय बुंदेलखंड को

जेजाक भूमि कहते थे। पृथ्वीराज की इस विजय का वर्णन हमे दो ग्रन्थों में मिलता है। एक तो पृथ्वीराज रासो मे और दूसरा 'आल्हा खण्ड' नामक महा काव्य मे। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज चौहान ने अपने मदनपुर शिला लेख में भी अपनी बुन्देलखण्ड विजय का वर्णन किया है। इस लेख पर इस प्रकार लिखा है—'सोमेश्वर के पुत्र महाराजाधिराज पृथ्वीराज ने 1241 वि स में बुन्देलखण्ड या जैजाक भूमि को पराजित किया।" इस समय चंदेलो का राजा परमार दीन था और उनकी राजधानी महोबा थी। परमार दीन ने (कन्नौज) गढवाल से सहायता मांगी और जिस समय पृथ्वीराज ने चंदेलों की राजधानी महोबा को घेर रखा था उस समय गढवाली सेना ने भी पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था। इस कथन की पुष्टि हमे 'प्रबन्ध चिन्तामणी' का अध्ययन करने मे होती है। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि अवसर से लाभ उठाकर जयचंद ने भी कन्नौज की सेनाएँ महोबा भेज दी और इस प्रकार महोबा के युद्ध मे पृथ्वीराज के विरुद्ध महोबा और गढवाल की सेनाओ ने युद्ध किया। साधारणयत यह मानले कि महोबा का युद्ध एक निर्णयात्मक युद्ध था जिसने पूर्व से आक्रमण के भय को सदा के लिये समाप्त कर दिया। पृथ्वीराज ने चदेलो के साथ साथ गढवाली (कन्नौज) को भी पराजित कर दिया। परिणाम स्वरूप परमादीन को आपने मुँह मे दाब रख कर वफादारी की कसम खानी पड़ी। चदेलो की पूर्ण पराजय हुई और उसे पृथ्वीराज की अधीनता स्वीकार करनी पडी। जयचद इस हार मे और भी चिढ गया और पृथ्वीराज को अपमानित करने की योजनाएँ बनाने लगा।

8. जयचन्द से सम्बन्ध—जयचन्द और पृथ्वीराज मौसी के बेटे भाई थे और जयचन्द उमर मे पृथ्वीराज से बड़ा था। दोनो का नाना अनगपाल दिल्ली का शासक था। अनगपाल के कोई लड़का नही था अत जयचन्द को यह आशा थी कि अनगपाल उसे दिल्ली का शासक बनायेगा किन्तु जब पृथ्वीराज आठ साल का था तभी अनगपाल ने उसे गोद लेकर जयचन्द की आशाओ पर कुठाराघात कर दिया। यहीं से दोनो योद्धा एक दूसरे के विरोधी और शत्रु हो गये थे। अत दिल्ली का सिंहासन दोनो के आपसी वैमनस्य का पहला मुख्य कारण बन गया था।

डा० रोमीला थापर ने अपनी पुस्तक 'भारत का इतिहास' मे लिखा है कि—"कन्नौज का शासक जयचन्द एक महत्वाकांक्षी शासक था। वह अपने पितामह गोविन्दचन्द की तरह समस्त उत्तर भारत को विजय करना चाहता था।" गोविन्द चन्द की मृत्यु के बाद जो प्रदेश कन्नौज की अधीनता से मुक्त हो गये थे उन्हे वह वापस लेना चाहता था। स्पष्ट है कि जयचन्द अपने पूर्वजो के राज्य को कम होते नही देख सकता था और इधर पृथ्वीराज

भी साम्राज्यवादी भावनाएँ रखता था। जयचन्द के देखते देखते उसने भरत-पुर, अलवर, मथुरा, रेवाड़ी आदि देशों को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इस। जयचन्द का उत्तरी भारत पर अधिकार करने का सपना टूट गया। एक ही क्षेत्र में जब दो शासक अधिकार करना चाहे तो युद्ध स्वभाविक ही है। इस प्रकार पृथ्वीराज और जयचन्द के सम्बन्धों को खराब करने वाली घटनाओं में दूसरा तत्व जयचन्द की महत्वाकांक्षाएँ आती हैं कि वह उत्तर भारत का स्वामी बनना चाहता था।

श्री आर० एम० त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'कन्नौज का इतिहास' में जयचन्द व पृथ्वीराज के सम्बन्ध को बिगाड़ने वाली घटनाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"जयचन्द को अपनी विशाल सेना पर बहुत अधिक गर्व था।" जयचन्द के पास एक विशाल सेना थी, उसके मन में राज्य विस्तार की कामना थी। जहाँ कामना और शक्ति दोनों हो वहाँ विवेक और सहिष्णुता नहीं टिकती। अतः जयचन्द की सगठित सैन्य शक्ति उसे बार बार सघर्ष के लिये उकसा रही थी। इसके विपरीत पृथ्वीराज चौहान उसके देखते देखते अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर राज्य विस्तार में लग गया था। अतः जयचन्द की विशाल सेना दोनों के सघर्ष का तीसरा कारण बन गई।

जहाँ जयचन्द महत्वाकांक्षी था और उसके पास विशाल सगठित सेन थी वहाँ पृथ्वीराज भी कम नही पड़ता था। पृथ्वीराज के समकालीन फारसी ग्रन्थ 'ताजुल मासिर' में इस बात का उल्लेख मिलता है कि "पृथ्वीराज विश्व विजय की कामना करता था।" उसी समय के हिन्दू ग्रन्थों में भी इस बात का वर्णन किया गया है कि पृथ्वीराज ने 'दल पगुल' की उपाधि धारण की थी जिसका अभिप्राय विश्व विजय से था। पृथ्वीराज को प्रारम्भिक सफलताएं भी मिल चुकी थी, वह एक ख्याति प्राप्त योद्धा था। स्पष्ट है कि जहाँ जयचन्द अपना राज्य बढ़ाना चाहता था वहाँ पृथ्वीराज कन्नौज को जीतकर अपने राज्य में मिला लेना चाहता था। इस प्रकार पृथ्वीराज की विश्व विजय योजना दोनों की शत्रुता का चौथा कारण बन गई थी।

इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण शत्रुता का कारण था महान रोमांचकारी ऐतिहासिक घटना, सयोगिता का स्वयंवर या हरण जिसने दोनों को कट्टर शत्रु बना दिया। इस स्वयवर की लोमहर्षक घटना पर इतिहासकारों में बड़े मत भेद हैं अतः इसका अध्ययन अलग से करें—

9. संयोगिता हरण :—भारतीय इतिहास में एक किंवदंति बहुत प्रसिद्ध है कि सयोगिता पृथ्वीराज के शौर्य पर आसक्त थी और पृथ्वीराज ने भी अपना

दशरथ शर्मा का मत है कि "संयोगिता को भगा कर लाने की कहानी इसलिये भी गलत प्रतीत नहीं होती कि भारत में इस प्रकार के विवाह प्रचलित थे। पृथ्वीराज ने जयचन्द की लड़की को भगाकर यदि बलपूर्वक विवाह कर भी लिया तो इसमें कोई काल्पनिक या रोमांचकारी बात नहीं थी।" महाभारत काल में अर्जुन कृष्ण की बहन को भगाकर ले गया था।

किन्तु डा० रोमिला थापर 'गढ़वाल का इतिहास' में और आर० एम० त्रिपाठी 'कन्नौज का इतिहास' में इस घटना को चन्द्रबरदाई की सुखद कल्पना मानते हैं। उनका तर्क यह है कि पृथ्वीराज रासो आदि चौहान ग्रन्थों के अतिरिक्त और किसी समकालीन ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन नहीं मिलता अतः सुखद व प्रभावशाली होते हुए भी इस रोमांचकारी साहित्य को सच नहीं माना जा सकता। 'रम्भा मञ्जरी' नामक नाटक का नायक जयचन्द है किन्तु इस नाटक में संयोगिता के हरे जाने का कहीं वर्णन नहीं मिलता। नाटक से तो यह भी पता नहीं चलता कि जयचन्द के संयोगिता नामक कोई लड़की भी थी। इसी प्रकार हमीर महाकाव्य', जिसकी रचना न्यायचन्द सूरी ने 1403 ई० में की थी, में भी संयोगिता का वर्णन नहीं मिलता। इन ग्रन्थों में संयोगिता के नाम के अभाव से इस घटना की ऐतिहासिकता पर सन्देह होने लगता है। 'प्रबन्ध कोष' में चिन्तामणी ने भी इस घटना का कहीं वर्णन नहीं किया है। श्री त्रिपाठी ने इन्हीं आधारों पर यह कहा है कि "संयोगिता की घटना साहित्यकारों के मस्तिष्क की सूझ थी।"

किन्तु इन विरोधी विद्वान इतिहासकारों के निष्कर्ष केवल नकारात्मक सबूतों पर आधारित हैं। 'रम्भा मञ्जरी' में जयचन्द के जीवन की पूरी घटनाओं का वर्णन भी तो नहीं है फिर जिस पुस्तक का नायक जयचन्द हो उसमें उसकी पराजय या अपमान की बात क्यों लिखी जाती। 'हमीर महाकाव्य' में भी पृथ्वीराज के जीवन की सभी बातों का वर्णन नहीं है। अतः उसके आधार पर भी *संयोगिता की घटना को गलत कहना न्याय सगत नहीं होगा।* हमीर महाकाव्य में पृथ्वीराज के एक भी विवाह का वर्णन नहीं किया गया। इसका यह मतलब तो नहीं कि पृथ्वीराज कुंवारा ही मर गया होगा। हमीर महाकाव्य में तो पृथ्वीराज की भण्डानकों व नागार्जुन विजय का वर्णन भी नहीं है अतः इस काव्य के आधार पर संयोगिता—पृथ्वीराज की घटना को गलत कहना अन्याय ही होगा। तीसरा तर्क विरोधी यह देते हैं कि पृथ्वीराज जैसे योद्धा के लिये यह शोभनीय प्रतीत नहीं होता कि वह किसी रमणी को उठा कर ले जाय। इसका उत्तर तो सिर्फ इतना ही है पृथ्वीराज ने पाँच सुन्दर रमणियों को सुन्दरता के वशीभूत होकर ही उनसे विवाह किये थे।

इन सब तर्कों को विवेक की कसौटी पर कसने से यही निष्कर्ष
लता है कि सयोगिता का हरण एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस मत का
डा० दशरथ शर्मा, श्री कानूनगो, डा० गोपीनाथ शर्मा और डा० बी०
भार्गव भी करते हैं। श्री ओझा, गहलोत और टाड तो इसको पूर्ण
मान्यता प्रदान करते हैं। डा० दशरथ शर्मा इस घटना का समय नि
करते हैं कि तराइन के प्रथम युद्ध के बाद ही यह घटना घटी थी।
लौटते समय पृथ्वीराज ने सयोगिता के रूप लावण्य की गाथा सुनी और
धानी लौटने के बजाय बिजली की तरह कन्नौज गया और सयोगिता को
मण्डप से उठा लाया। यह हरण दोनों के मन मुटाव का सबसे बड़ा का
गया जिसके फलस्वरूप 1192-93 में जब पृथ्वीराज का पतन हुआ तो
चुपचाप तमाशा देखता रहा।

पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी

महमूद गज़नवी के आक्रमणों ने मुसलमानों का ध्यान भारत की ओर लगा दिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके दो लड़के मुहम्मद और मसूद में उत्तराधिकार के लिये लड़ाई शुरू हो गई। मसूद ने मुहम्मद को अन्धा कर राज्य छीन लिया और फिर मुहम्मद के बेटे अहमद ने मसूद को मार डाला। फिर मसूद के बेटे मौदूद ने अहमद को पराजित कर गजनी का राज्य हड़प लिया। भाइयों की इस लड़ाई से लाभ उठाकर गौरी के सूबेदारों ने अपने आपको स्वतन्त्र कर लिया। गौरी अब छोटा सा स्वतन्त्र राज्य बन गया जिसका शासक सैफुद्दीन गौरी था। इस उथल पुथल के समय गजनी में सत्तर वर्ष में आठ सुल्तान बदले। परिस्थिति से लाभ उठाकर दिल्ली के हिन्दू राजा ने हांसी, थानेश्वर और सिंध मुसलमानों से छीन लिये। भारत में मुसलमानों का राज्य केवल लाहौर और उसके आस पास के प्रदेश पर रह गया। उसी समय सैफुद्दीन गौरी के भाई अलाउद्दीन हुसेन गौरी ने गजनी पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया। और महमूद गजनवी का अन्तिम वंशज भागकर लाहौर आ गया। उधर सैफुद्दीन के बाद उसका चचेरा भाई शहाबुद्दीन गौरी, गोर देश का शासक बना। यह स्पष्ट था कि जब तक लाहौर पर गजनी वंश का आधिपत्य रहेगा तब तक गौरी वंश को सदा पराजय का भय बना रहेगा। अतः शहाबुद्दीन गौरी के लिये यह आवश्यक था कि अपनी सत्ता को स्थाई बनाने के लिये गजनी के नाम मात्र के अन्तिम सुल्तान को पराजित कर लाहौर पर भी अधिकार कर ले। शहाबुद्दीन ने 1180 ई० में खुसरो मलिक से लाहौर छीन कर गजनी के पूरे साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। शहाबुद्दीन का पूरा नाम शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी था। यही आगे चलकर भारत में मुसलमान राज्य का संस्थापक बना।

एक तरफ भारत की सीमा पर एक महत्वाकांक्षी सरदार मुहम्मद गौरी की अधीनता में शक्तिशाली मुसलमान साम्राज्य का संगठन हो रहा था और दूसरी तरफ पृथ्वीराज चौहान की अधीनता में हिन्दू राज्य का गठन हो रहा था। अतः निकट भविष्य में दोनों का संघर्ष अनिवार्य था। अब हम संक्षेप में उन कारणों का अवलोकन करें जिन्होंने पृथ्वीराज तृतीय और शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी के बीच युद्ध अनिवार्य कर दिया।

युद्ध के कारण

1. भारत की दशा.— महमूद गजनवी ने भारत पर सतराह हमले किये थे और असंख्य धन लूट कर ले गया था। मुसलमान भारत को सोने की

अपने राज्य मे मिलाये और आर्यवर्त से मुसलमानो को निकाल दिया।" इस प्रकार के आपसी युद्धो के अनेक वर्णन सस्कृत के ऐतिहासिक ग्रन्थो में मिलते हैं लेकिन इस शत्रुता और मुसलमानो की पराजय का वर्णन फारसी के ऐतिहासिक ग्रन्थो मे नही मिलता। अशोक के शिवालिक स्थम्भ पर भी वीसलदेव की आर्यवर्त विजय का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि राजपूत और मुसलमानों के बीच पुरानी शत्रुता थी जो निर्णयात्मक युद्ध के बिना समाप्त नहीं हो सकती थी।

3. धार्मिक कट्टरता—डा० ए. एल. श्रीवास्तव अपनी पुस्तक सुलतानियत काल' में पृथ्वीराज और गोरी के बीच सघर्ष का मूल कारण धार्मिक कट्टरता बताते हैं। उनके शब्दो मे "वह मोहम्मद साहब के सदेश का भारत के हिन्दुओं मे प्रचार करना तथा मूर्ति पूजा का अन्त करना अपना कर्तव्य समझता था।" इस प्रकार वह एक प्रचारक बन कर भारत मे इस्लाम का प्रचार करना चाहता था और पृथ्वीराज व उसका हिन्दू राज्य उसकी सबसे बड़ी बाधा थी। दूसरी तरफ पृथ्वीराज भी अपने आप को हिन्दू धर्म और सस्कृति का सरक्षक मानता था। मोहम्मद गोरी की तरह पृथ्वीराज भी अपने आपको हिन्दू धर्म का कट्टर अनुयायी मान कर अपने देश को विधर्मियो से मुक्त कराना चाहता था। डा० दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक Early Chauhan Dynasties के पृष्ठ 81 पर कहते हैं कि "पृथ्वीराज मुसलमानो के विनाश को इस ससार मे अपने जीवन का विशेष लक्ष मानता था।" इस प्रकार दो विरोधी विचार धाराओं की टक्कर स्वभाविक थी। एक तरफ मुहम्मद का इस्लाम प्रचार का सकल्प और दूसरी तरफ पृथ्वीराज का भारत से मुसलमानो को बाहर निकालने का सकल्प अत. दोनों मे युद्ध अनिवार्य हो गया।

4 मुस्लिम राज्य—मुसलमानों का उदय अरब से हुआ था और ये लोग तलवार के जोर पर देश जीत कर धर्म प्रचार करते थे। मिश्र, उत्तरी अफ्रिका, और यूरोप मे स्पेन को भी इन लोगों ने जीत लिया था। समस्त मध्य एशिया पर मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो गया था। भारत मे भी मुसलमानों ने सिन्ध लाहौर आदि जीत लिया था। अन्य मुसलमान शासको की तरह मुहम्मद गोरी भी भारत वर्ष में मुसलमान राज्य की स्थापना कर धर्म के प्रति अपनी निष्ठा प्रगट करना चाहता था। तराइन की दूसरी लड़ाई से पहले भी उसने पाँच युद्ध लडे थे लेकिन वह इन युद्धों की विजय से सन्तुष्ट नहीं था। वह अपनी विजय को सगठित बना कर भारत मे एक विशाल मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करना चाहता था ताकि मध्य एशिया की भाँति भारत भी एक इस्लामी देश हो जाय। यह तभी हो सकता था जब वह पृथ्वीराज को पराजित कर दिल्ली व अजमेर पर स्थाई अधिकार जमा लेता।

राजपूतों ने उसके पूर्वजों के राज्य को हड़प लिया है जिसे वापस जीत कर अपने राज्य में मिलाना उसका कर्त्तव्य व धर्म है। अतः खोये हुए राज्य को पुनः पाने के लिये उसे पृथ्वीराज से युद्ध करना आवश्यक हो गया।

8 **पृथ्वीराज की भूल**—पृथ्वीराज यदि चाहता तो अपने पड़ोसी राज्यों की सहायता से उत्तर पश्चिम के तुर्क आक्रमणकारियों को रोक सकता था। श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 35 पर कहते हैं कि—"वह अपनी शक्ति कन्नौज, महोबा गुजरात आदि पड़ोसी राज्यों से लड़ने में लगाने लगा।" उसे चाहिये था कि जब मोहम्मद गौरी ने मुल्तान और भटिंडा का किला जीता तभी उस पर आक्रमण कर उसे भारत से बाहर खदेड़ देता। लेकिन जब मोहम्मद ने गुजरात पर आक्रमण किया तब भी पृथ्वीराज चुपचाप बैठा रहा। यह उसकी सबसे बड़ी भूल थी। उसे चाहिये था कि वह गुजरात की मदद कर आपसी वैमनस्य को भुला कर मोहम्मद की हिम्मत बढ़ने से पहले ही उसे रोक देता। किन्तु गुजरात आक्रमण के समय चुप रह कर पृथ्वीराज ने आपसी झगड़ों को बढ़ावा दिया। यही कारण है कि जब उस पर आक्रमण हुआ तो उसके बहनोई, चित्तौड़ के राजा समरसिंह के सिवा कोई उसकी मदद को नहीं आया। गुजरात जीत लेने के बाद मोहम्मद गौरी के हौसले बढ़ गये और हिन्दू राजाओं के संगठन की सम्भावना समाप्त हो गई। अन्त में पृथ्वीराज को 1191 ई. में मोहम्मद के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उसने अपने शत्रु को शक्ति संगठन का समय देकर भारी भूल की। यदि गुजरात के युद्ध में ही मोहम्मद को हरा दिया जाता तो पृथ्वीराज पर वह कभी आक्रमण नहीं कर पाता।

9. **जयचंद का षड्यंत्र**—जयचंद पृथ्वीराज का मोसेरा बड़ा भाई था। वह दिल्ली का शासक भी बनना चाहता था किन्तु जब उसे दिल्ली नहीं मिली तो वह पृथ्वीराज का शत्रु बन गया। इतिहासकार टाड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 145 पर कहते हैं कि—"जयचंद ने कई एक छोटे राजाओं को मिलाकर अनहिलवाड़ा पट्टन, मन्दोर व धार के राजाओं के परामर्श से एक योजना तैयार की और उस योजना के अनुसार शहाबुद्दीन के द्वारा पृथ्वीराज का सर्वनाश चाहता था।" पृथ्वीराज को भी इस योजना का पता चल गया था कि जयचंद के निमंत्रण पर मोहम्मद गौरी एक विशाल सेना लेकर दिल्ली पर आक्रमण कर रहा है। उसने अपने शत्रुओं को सबक देने का का निश्चय किया और गौरी से लड़ने से पहले अनिहलवाड़ा पट्टन के राजा को पराजित करने गया। इस प्रकार जयचंद ने पृथ्वीराज के विरुद्ध षड्यंत्र रच कर उसका ध्यान ही नहीं बँटाया वरन मोहम्मद की हिम्मत को और भी बढ़ा दिया। मोहम्मद गौरी को विश्वास हो गया कि पृथ्वीराज अकेला ही लड़ेगा अतः युद्ध का अत्यंत महत्वपूर्ण व तात्कालिक कारण जयचंद की योजना थी।

विधर्मियों के हाथ ऐसी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा था।" पृथ्वीराज यदि भागते हुए मोहम्मद गौरी का पीछा करता और उसे घायल अवस्था में पकड़ कर मार डालता तो कदाचित् आज भारत का इतिहास ही दूसरा होता। पृथ्वीराज की यह भूल उसे युद्ध को बहुत महंगी पड़ी। अगले ही वर्ष पहले से अधिक विशाल सेना लेकर भारतवर्ष की ओर रवाना हुआ।

तराइन का दूसरा युद्ध 1192

अपनी पराजय का बदला लेने मोहम्मद गौरी एक बार फिर, एक ही वर्ष बाद भारत पर फिर चढ़ आया। पहले उसने अपने विद्रोहियों का अन्त किया और हताश न होकर युद्ध की तैयारियाँ करने लगा। इधर विजय प्राप्त करने के तत्काल बाद पृथ्वीराज ने जयचन्द को सबक देने के लिए संयोगिता का स्वयंवर भवन से हरण किया और आमोद प्रमोद में डूब गया। मोहम्मद गौरी ने अपने दूत किवाम-उल-मुल्क को पृथ्वीराज के पास भेजा और उसे अधीनता व इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के लिए पत्र लिखा। पृथ्वीराज कट्टर हिन्दू था अत इस्लाम स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उसने गौरी के अनहोने प्रस्ताव को ठुकरा दिया। गौरी एक लाख बीस हजार सैनिकों की विशाल सेना लेकर तराइन की तरफ बढ़ा। पृथ्वीराज ने अपने बहनोई व मित्र समरसिंह को फिर संदेश भेजा। समरसिंह ने चित्तौड़ का राज्य भार अपने छोटे पुत्र कर्णसिंह को सौंप दिया और स्वयं पूरी तैयारी के साथ पृथ्वीराज की मदद करने आ गया। पृथ्वीराज की सेना में तीन हजार घोड़े और तीन हजार हाथी थे। पैदल सेना इससे कहीं अधिक थी। भारत के कई अन्य राजाओं ने भी पृथ्वीराज की सहायता की लेकिन जयचन्द चुप बैठा रहा।

टाड महोदय के अनुसार (पृष्ठ 146) "कग्गार के किनारे पर दोनों ओर की सेनाओं का सामना हुआ। तीन दिन तक भीषण मारकाट हुई। तीसरे दिन समरसिंह अपने पुत्र कल्याणसिंह और तेरह हजार राजपूत सैनिकों तथा सरदारों के साथ युद्ध में मारा गया। उसकी रानी पृथा ने अपने पुत्र और पति के मारे जाने का समाचार सुना। उसने यह भी सुना कि उसका भाई पृथ्वीराज शत्रुओं के द्वारा कैद कर लिया गया है और दिल्ली तथा चित्तौड़ के राजपूत सैनिकों और सरदारों का संहार हुआ है।" युद्ध में पृथ्वीराज पराजित हुआ और मोहम्मद गौरी दिल्ली व अजमेर का स्वामी बन गया।

इन युद्धों का वर्णन हमें चन्द्र बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो', हसन निजामी के 'ताजुलमासिर' और सिराज के 'तबकात्-ए-नासिरी' से मिलता है। पराजित होने के बाद पृथ्वीराज के जीवन के बारे में अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वान्

मानते हैं कि गोरी ने उसे अन्धा कर दिया और बन्दी बनाकर अपने साथ
गोरी ले गया। कुछ विद्वानों की राय है कि पृथ्वीराज को तत्काल अन्धा कर
मार डाला गया। यह सत्य है कि जब प्रात काल राजपूत सेना नित्यकर्म में
व्यस्त थी तो मुसलमानों ने अचानक उस पर हमला कर दिया। 'ताजुलमासिर'
का लेखक हसन निजामी इस बात का वर्णन स्वयं करता है कि—'जब मोह-
म्मद गोरी ने आक्रमण किया तो पृथ्वीराज स्वयं गहन निद्रा में सो रहा था।"

युद्ध में गोरी ने चालाकी व नीति से काम लिया। उसने अपनी सेना
को पाँच भागों में बाँटा और युद्ध के थोड़ी देर बाद चार भागों को पीछे भागने
का आदेश दिया। पाँचवा भाग एक तरफ सुरक्षित था। जब राजपूतों ने
मुसलमानों का पीछा किया तो थोड़ी दूर जाकर गोरी की सेना के चारों भागों
ने रुक कर फिर आक्रमण कर दिया। अभी राजपूत सम्भले भी नहीं थे कि
गोरी की सेना के पाँचवे सुरक्षित भाग ने पीछे से उन पर आक्रमण कर दिया।
राजपूत चारों तरफ से घिर कर हताश हो गये। राजा गोविन्द राज भी युद्ध
में मारा गया। पृथ्वीराज भी मैदान छोड़कर भागा किन्तु मुसलमानों ने
उसका पीछा किया और सिरसा के पास उसे बन्दी बना लिया। उसे बंदी के
रूप में अजमेर तक लाया गया। पृथ्वीराज रासो में उसके अन्धा बनाने की
बात दशरथ शर्मा नहीं मानते। सन् 1193 ई० का एक पृथ्वीराज का सिक्का
तारागढ़ (अजमेर) से प्राप्त हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि तराइन के युद्ध
के बाद भी पृथ्वीराज और मोहम्मद गोरी के सम्बन्ध अच्छे थे। हसन निजामी
का मत है कि मोहम्मद गोरी पृथ्वीराज को उसका राज्य लौटाना चाहता था।
इस कथन की पुष्टि प्रबन्ध कोष भी करता है। ये दोनों ग्रन्थ समकालीन है
अत यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि पृथ्वीराज तराइन
की दूसरी लड़ाई के बाद भी जिन्दा था। किन्तु पृथ्वीराज ने इस्लाम को
स्वीकार नहीं किया इसलिए आगे चल कर अजमेर में उसे मार डाला गया।
इस कथन की पुष्टि राजपूत ग्रन्थ भी करते हैं।

पृथ्वीराज का वध गोरी से हुआ हो या युद्ध के मैदान में या अजमेर
में, लेकिन यह सत्य है कि इस पराजय का भारत के इतिहास पर भारी और
अमिट प्रभाव पड़ा।

तराइन के युद्ध के परिणाम

श्री विन्सेंट ए स्मिथ अपनी पुस्तक 'दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के पृष्ठ 235 पर इस युद्ध के परिणामों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"वास्तव मे 1192 की तराइन की दूसरी लड़ाई एक निर्णायक संघर्ष माना जा सकता है। जिसने मुसलमानों के आक्रमण की विजय को सुनिश्चित कर दिया।" स्मिथ आगे कहते हैं कि कोई भी हिन्दू राजा किसी भी युग के अनुभव से लाभ उठाने को तैयार नहीं था वे बहुत पहले सिकन्दर द्वारा दिये गये सबक को भी भूल गये थे। समय समय पर राजाओं द्वारा इकट्ठा किये गये सिपाही और हाथियो के समूह बड़ी आसानी से पश्चिमी आक्रमणकारी नष्ट कर चुके थे। सिकन्दर, मुहम्मद गौरी, बाबर, अहमद शाह दुर्रानी और अन्य योग्य शासकों ने लगभग एकसी युद्ध प्रणाली का प्रयोग किया और वीर हिन्दू राजाओं की विशाल सेना को पराजित किया। भारतीय जाति प्रथा सैनिक निपुणता में विदेशियों के मुकाबले सदा एक विरोधी तत्व रही है। सदा की तरह इस बार भी आक्रमणकारी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए। इस पराजय का पहला सीधा परिणाम यह निकला कि चौहानों का लगभग 250 वर्ष पुराना साम्राज्य समाप्त हो गया।

एक विजय से मुहम्मद गौरी को बड़ा प्रोत्साहन मिला और उसके योग्य सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1193 में दिल्ली जीता, फिर दो-आब की तरफ बढ़ा वहाँ मुहम्मद गौरी ने उसके साथ मिलकर कन्नौज को जीता और जयचन्द को पराजित कर मार डाला। फिर 1197 मे गुजरात की राजधानी अनहिलवाड़ा पर आक्रमण कर उसे जीता। उसी वर्ष अजमेर को भी मुस्लिम राज्य में मिला लिया गया। उसके बाद बिहार और बंगाल के पाल व सेन राजाओं को भी आक्रमणकारियों ने जीत कर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार तराइन की दूसरी लड़ाई के बाद समस्त उत्तरी भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। भारत मे मुस्लिम राज्य की स्थापना इस युद्ध का दूसरा परिणाम था।

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'दिल्ली सल्तनत' के पृष्ठ 86 पर तराइन के युद्ध के परिणाम बताते हुए लिखते हैं कि—"तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास की एक युग परिवर्तनकारी घटना है।" इससे चौहानों की शक्ति बिलकुल नष्ट हो गई। हमारे इतिहास मे पहली बार

मुहमम्द ने हिन्दुस्तान के चौथो थीन एक विदेशो तुर्की राज्य की नींव डाली।
सभी विजित स्थानों मे हिन्दुओ के मन्दिर तोड़े गये और उनके स्थान प
मस्जिदें खड़ी की गई। मुस्लिम परम्परा के अनुसार जीते हुए स्थानों में इस्लाम
को राज्य धर्म घोषित कर दिया गया। अजमेर में मुसलमानों ने मन्दिरों को
तोड कर विग्रह राज चौहान द्वारा स्थापित प्रसिद्ध विद्यालय को मस्जिद में
बदल दिया। आज भी यह स्थान ढाई दिन के झोपड़े के नाम से विख्यात है
इस प्रकार तराइन के युद्ध का तीसरा परिणाम भारत में इस्लाम धर्म
प्रचार व हिन्दू मन्दिरो का ध्वस था।

इस युद्ध मे हजारों वीर मारे गये, चित्तौड का राजा समरसिंह व
उसका पुत्र कल्याण काम आये। दिल्ली का वीर गवर्नर गोविन्दराज और
उसका लड़का चन्द्रराज भी मारा गया। पृथ्वीराज चौहान के बाद कन्नौज का
जयचन्द भी मारा गया। इन पराक्रमी वीरो के साथ साथ हजारो राजपूत
योद्धा भी मारे गये। मुसलमानो ने इन विजयों के साथ देश को खूब लूटा
और उन्हें अतुल सम्पत्ति भी प्राप्त हुई। इस प्रकार तराइन के युद्ध ने विदेशियों
को अपार सम्पत्ति ही नही दी वरन् देश को एकबार तो वीर योद्धाओ से रहित
कर दिया। अधिकांश राजपूत योद्धा इस युद्ध मे काम आये और हिन्दुओं का
प्राय सर्वनाश सा हो गया। हिन्दुओ का साम्राज्य समाप्त हो गया और ए
नये पराधीनता के युग का प्रारम्भ हुआ। इस समय से भारत दासता
बेड़ियो मे ऐसा जकडा गया कि 1947 मे ही जाकर स्वतन्त्र हो सका। अ
राजनीतिक व ऐतिहासिक दृष्टि से तराइन का दूसरा युद्ध, पराधीनता
अन्धकार के युग का जन्मदाता था।

टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 146 पर
इस युद्ध के परिणामों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"पृथ्वीराज की युद्ध
मे पराजय हुई। परन्तु उसका नाम सदा सर्वदा के लिए इस देश के इतिहास
मे अमर हो गया। समरसिंह के जीवन का अन्त हो गया परन्तु उसका यश
तथा प्रताप इतिहास के पन्नों मे अमिट अक्षरो मे लिखा गया।" इसके विपरीत
जाति व देशद्रोही जयचन्द और गुजरात के शासको को भी मरना पडा किन्तु
वे इतिहास में कीर्ति नही कमा सके। टाड महोदय राजपूतो की वीरता की
भूरि भूरि प्रशसा करते हुए उन्हें निडर, स्वाभिमानी और शरणागत की रक्षा
करने वाला बताते हैं। वास्तव मे युद्ध हार कर भी पृथ्वीराज अमर हो गया।
यह परिणाम स्पष्ट है कि भारतवर्ष मे देश और धर्म पर बलिदान होने
ो सदा पूजा होती है।

तराइन के युद्ध में राजपूतं
... पड़ा। बिहार ि

... राजा का बौद्ध धर्म पर सीधा और
... गाय मुहम्मद के सेनापति खिलजी

ने सारनाथ के महान् बौद्ध शिक्षा विहार को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। मुसलमान इतिहासकार इस बात का वर्णन करते हैं कि यहाँ के अधिकांश निवासी सिर मुंडाये हुए ब्राह्मण थे जिन्हें कत्ल कर दिया गया और जो बच गये वे जान बचा कर तिब्बत, नेपाल या दक्षिण भारत में भाग गये। इस प्रकार मुहम्मद की सफलता विहार में पूर्ण विकसित बौद्ध धर्म के विनाश का कारण बन गई। बौद्ध धर्म उत्तर भारत का एक संगठित धर्म था किन्तु मुहम्मद के आगमन के बाद यह लुप्त हो गया। इतिहासकार स्मिथ भारत के इस धर्म पर इस पराजय का परिणाम बताते हुए 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के पृष्ठ 236 पर लिखते हैं कि—"1200 ई० के बाद उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के चिह्न धुंधले और अस्पष्ट हैं।" अर्थात् 1200 ई० के बाद उत्तर भारत में बुद्ध धर्म के चिन्ह उत्तर भारत में धुंधले और कहीं कहीं ही मिलते हैं।" अतः पृथ्वीराज की पराजय ने भारत में बौद्ध धर्म का विनाश कर दिया।

इतिहासकार आर. सी. मजूमदार अपनी पुस्तक 'दी स्ट्रगल फोर एम्पायर' के पृष्ठ 113 पर युद्ध के भयानक परिणामों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"तराइन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने केवल चौहानों की राज्य शक्ति का ही नाश नहीं किया वरन् पूरे हिन्दू धर्म पर विनाश ला दिया। शासक कुमारों का साहस पूरी तरह टूट गया और सारा देश आतंक से जकड़ गया।" अनेक लोग जो शांति से रहना चाहते थे, अपना देश छोड़ छोड़कर दक्षिण भारत में चले गये। जैन गुरु ओणाधर स्वयं शाहबुद्दीन की लूटमार से डर कर तथा उसकी सेना द्वारा अपमानित होने के डर से पहले ही मालवा में चले गये थे। इस प्रकार सारे देश पर एक आतंक सा छा गया। श्री मजूमदार आगे कहते हैं कि—"इस प्रकार की चीजों ने स्वाभाविकत मुहम्मद और उसके सेनापतियों के लिए हिन्दुस्तान के हृदय पर ठोस कदम जमाना सरल कर दिया।"

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 36 व 37 पर इस युद्ध के परिणामों का वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि—"लड़ाई में हजारों राजपूतों ने वीरगति पाई। पृथ्वीराज स्वयं मारा गया। मृत्यु के समय वह केवल 26 वर्ष का था।.... भारत का वह अन्तिम हिन्दू सम्राट कहा जाता है। ... उसके बाद लगभग 650 वर्ष तक दिल्ली के सिंहासन पर जितने भी बादशाह बैठे वे सब मुसलमान थे।" इस प्रकार धर्म, राजनीति समाज और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह पराजय भारत के इतिहास में सदा युग परिवर्तन करने वाली गिनी जायगी। इस विजय ने मुसलमानों के लिए भारत के द्वार खोल दिये और समय के साथ सारे भारत पर इस्लाम राज्य स्थापित हो गया।

———

पृथ्वीराज का चरित्र

पृथ्वीराज के चरित्र का वर्णन करते हुए श्री आर. सी. मजू अपनी पुस्तक 'दी स्ट्रगल फॉर एम्पायर,' के पृष्ठ 113 पर लिखते हैं कि "पृथ्वीराज एक उच्च कोटि का सेनानायक था किन्तु उसमें राजनीतिक दर्शिता का अभाव था।"

इसी प्रकार वी. ए स्मिथ अपनी पुस्तक दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री इंडिया के पृष्ठ 210 पर पृथ्वीराज के लिये लिखते हैं कि—"पृथ्वीराज दिन तक उत्तर भारत का सबसे लोक प्रिय नायक है।" जिस पर महाका और कई लोक कथाएँ लिखे जा चुके हैं। अब हम इस लोक प्रिय नायक चरित्र का अध्ययन करें। पृथ्वीराज ने बहुत कम समय तक राज्य कि सिर्फ 26 वर्ष की अवस्था मे उसका देहान्त हो गया बताते हैं। दूसरी तर यह भी कहा जाता है कि उसके बाद मुहम्मद गौरी ने उसके बेटे गोविन्द को अजमेर की गद्दी पर बिठाया किन्तु पृथ्वीराज का भाई हरीराज रण थम्भोर में रहकर मुसलमानो से लडता रहा। यह विचार उत्पन्न होता कि पृथ्वीराज यदि 26 वर्ष की अवस्था मे ही मर गया, जैसा श्री गहलो अपनी पुस्तक 'राजस्थान का सक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ 36 पर कहते हैं अवश्य ही उसका पुत्र बहुत छोटी अवस्था का होगा। जो भी हो यह मा पडेगा कि पृथ्वीराज अपने युग का प्रतिभाशाली शासक था। यदि वह दु बडी भूलें नही करता तो भारत का इतिहास ही बदल जाता।

शासक पृथ्वीराज—पृथ्वीराज को उसके समकालीन लेखकों ने रा का अवतार बताया है। प्रबन्ध कोष, हमीर काव्य, पृथ्वीराज प्रबन्ध और प्रबन्ध चिन्तामणि इस बात को बार बार दोहराते हैं कि पृथ्वीराज एक श्रे शासक था। उसने अपनी विजय को सगठित कर उत्तर भारत मे एक राज स्थापित किया। उसके पाँच मत्री और शासन के लिये एक सभा थी जि 'पचकुल' कहते थे। उसकी पुलिस, सैनिक और न्याय व्यवस्था पूर्ण रूप सुव्यवस्थित थी। समय और परिस्थितियों को देखते हुए उससे अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकती थी। पृथ्वीराज स्वय जैन धर्म का मानने वाला था किन्तु वै व ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णुता रखता था। वह शक्ति का भी उपासक फिर अन्य धर्मों को सरक्षण प्रदान करता था। उसके राज्य में नारी काफी सम्मान था और जाति के आधार पर लोगो को दरबार में स्था

मिलता था। अपने छोटे से जीवन को युग में बदल देने वाला पृथ्वीराज जो सदा युद्धों में व्यस्त रहा फिर भी प्रजा के संरक्षण और शासन व्यवस्था को न भूला। यह उसकी प्रशासनिक योग्यता का प्रमाण है। सारे राजस्थान को एक सूत्र में बाँधने वाला पृथ्वीराज अपने समय का कुशल शासक भी था।

योद्धा पृथ्वीराज—पृथ्वीराज एक वीर सेनापति था वह अचूक निशाने बाज था जो शब्द वेदी बाण लगाने में प्रवीण था। पृथ्वीराज रासो के अनुसार गौरी उसे अन्धा बनाकर गौरी ले गया जहाँ उसने शब्द वेदी बाण द्वारा मुहम्मद गौरी को मार डाला। माना कि यह घटना सही नहीं है फिर भी यह पृथ्वीराज के अचूक निशाने का वर्णन मात्र माना जाय तो कोई हर्ज न होगा। पृथ्वीराज मशहूर घुड़सवार भी था वह एक ही दिन में 150 मील तक घोड़े की पीठ पर सफर कर लेता था। उसने अपने अमूल्य जीवन का अधिकांश समय विद्रोहियों का दमन और विजय में व्यतीत किया। उसने चन्देल व गहलोत को हराया, परमार और मण्डानकों को पराजित किया। डा० दशरथ शर्मा के अनुसार—'उसने दिग्विजयी सम्राट बनने के आदर्श को चरितार्थ करके दिखा दिया था।" वह अपने जीवन में सिर्फ एक ही युद्ध हारा था। अतः यदि यह कहा जाय कि पृथ्वीराज अपने समय का श्रेष्ठ सेनापति था तो उचित ही होगा। उसने नागौर, जालौर, गुजरात, लाहौर, आदि प्रदेशों को सरलता से जीत लिया था। तराइन के दूसरे युद्ध में यदि मुहम्मद गौरी ने अचानक आक्रमण कर पृथ्वीराज को सोते हुए न पकड़ा होता तो कदाचित वह दूसरे युद्ध में भी गौरी को मारकर भगा देता। पृथ्वीराज ने साम्राज्यवादी प्रवृतियों को बढ़ाया और अपने पड़ोसियों के विरुद्ध अनेक आक्रमणकारी युद्ध लड़कर उन पर विजय प्राप्त की।

संरक्षक पृथ्वीराज—पृथ्वीराज विद्वानों का आदर करता था। उसकी राजधानी अजमेर में विद्वानों का जमघट लगा रहता था। उसके दरबार में पृथ्वी भट्ट, चन्दबरदाई, विश्वरूप, वागेश्वर जनार्दन, विद्यापति गौड़, जयनक आदि अनेक विद्वान रहते थे। साहित्यकारों व लेखकों को राजकीय संरक्षण प्रदान कर रखा था। ये लेखक उसकी विजय का वर्णन करते थे। पृथ्वीराज ने धार्मिक साहित्य का संग्रह भी किया था। इससे उसकी साहित्य व धर्म दोनों के प्रति रुचि का पता चलता है। उसने जन साधारण को शिक्षा के लिये प्रोत्साहन भी दिया। अजमेर का आधुनिक ढाई दिन का झोंपड़ा, चौहानों द्वारा स्थापित सरस्वती कंठाभरण नामक संस्कृत का विशाल विद्यालय था। उसके समय चित्तौड़, आबू भीन-माल व अजमेर शिक्षा के केन्द्र थे। डा० दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक अर्ली चौहान डाइनेस्टीज के पृष्ठ 249 से 250 पर पृथ्वीराज के शिक्षा प्रेम व संरक्षण का वर्णन करते हुए बताया है कि

चाहिये किन्तु जब भारत पर गौरी के आक्रमण शुरू हुए तो उसने चदेलों पर आक्रमण किया था और तराइन के प्रथम युद्ध मे आने से पहले वह गुजरात की राजधानी जीत कर गया था। यह दुतरफी योजना उसकी एक भारी कमी थी जिसके कारण उसे पराजित होना पडा।

उसकी सेना मे अनुशासन का अभाव और गुप्तचर प्रणाली की अव्यवस्था उसकी एक और भारी कमी थी। उसे इस बात का पता तक नही था कि गौरी बहुत सवेरे ही आक्रमण कर उसे सोते हुए को अचेत दबोच लेगा। उसकी सेना मे अनुशासन का अभाव तो था ही साथ ही सिपाहियो के पास न तो अच्छे हथियार ही थे और न उनको वेतन या भाडा पूरा मिलता था। इस प्रकार के भाडे के टट्टूओं से वीरता प्रदर्शन व विजय की आशा रखना पृथ्वीराज की सर्वथा भूल थी।

कुछ लोग इस बात पर भी जोर देते हैं कि पृथ्वीराज का पारिवारिक जीवन बडा अशान्त था। उसके कई पत्नियाँ थी और वह कदाचित उच्च आदर्शों का व्यक्ति नही था। डा. दशरथ शर्मा, तराइन के युद्ध के समय उसकी आयु 32 वर्ष की बताते हैं जब की ओझाजी उसे 26 वर्ष का ही मानते हैं। इस युवा अवस्था मे उसका युद्ध के मैदान मे देर तक सोया रहना उसकी लापरवाही और विलासता का सूचक है। वह बहुत रसिक व्यक्ति था प्रथम तराइन के युद्ध के बाद ही संयोगिता को स्वयवर मे उठा लाया। ये सब बातें उसके व्यक्तिगत चरित्र की कमियाँ थी। उसकी बहुपत्नी वाली बात को सामान्य रूप से देखा जा सकता है किन्तु उसका अन्य क्षेत्रो मे लापरवाही या अदूरदर्शिता से काम लेना उसके लिये ही नही सारे देश के लिये भारी पड गया।

इन सब कमियो के होते हुए भी हमे यह मानने मे कोई शका नही होनी चाहिये कि वह मध्यकालीन भारत का महान शासक था जिसकी वीरता के गान भारतीय इतिहास मे सदा गाये जायेंगे।

चाहिये किन्तु जब भारत पर गौरी के आक्रमण शुरु हुए तो उसने चंदेलों पर आक्रमण किया था और तराइन के प्रथम युद्ध में आने से पहले वह गुजरात की राजधानी जीत कर आया था। यह दुतरफी योजना उसकी एक भारी कमी थी जिसके कारण उसे पराजित होना पड़ा।

उसकी सेना में अनुशासन का अभाव और गुप्तचर प्रणाली की अव्यवस्था उसकी एक और भारी कमी थी। उसे इस बात का पता तक नहीं था कि गौरी बहुत सवेरे ही आक्रमण कर उसे सोते हुए को अचेत दबोच लेगा। उसकी सेना में अनुशासन का अभाव तो था ही साथ ही सिपाहियों के पास न तो अच्छे हथियार ही थे और न उनको वेतन या भाड़ा पूरा मिलता था। इस प्रकार के भाड़े के टट्टुओं से वीरता प्रदर्शन व विजय की आशा रखना पृथ्वीराज की सर्वथा भूल थी।

कुछ लोग इस बात पर भी जोर देते हैं कि पृथ्वीराज का पारिवारिक जीवन बड़ा अशांत था। उसके कई पत्नियाँ थी और वह कदाचित उच्च आदर्शों का व्यक्ति नहीं था। डा. दशरथ शर्मा, तराइन के युद्ध के समय उसकी आयु 32 वर्ष की बताते हैं जब की ओझाजी उसे 26 वर्ष का ही मानते हैं। इस युवा अवस्था में उसका युद्ध के मैदान में देर तक सोया रहना उसकी लापरवाही और विलासता का सूचक है। वह बहुत रसिक व्यक्ति था प्रथम तराइन के युद्ध के बाद ही संयोगिता को स्वयंवर से उठा लाया। ये सब बातें उसके व्यक्तिगत चरित्र की कमियाँ थी। उसकी बहुपत्नी वाली बात को सामान्य रूप से देखा जा सकता है किन्तु उसका अन्य क्षेत्रों में लापरवाही या अदूरदर्शिता से काम लेना उसके लिये ही नहीं सारे देश के लिये भारी पड़ गया।

इन सब कमियों के होते हुए भी हमें यह मानने में कोई शंका नहीं होनी चाहिये कि वह मध्यकालीन भारत का महान शासक था जिसकी वीरता के गान भारतीय इतिहास में सदा गाये जायेंगे।

राजपूतों की पराजय के कारण

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद चौहानो ने अपना केन्द्र अजमेर से हटा कर रणथम्भोर बना लिया था और चार पीढ़ी तक वहाँ चौहानों का शासन रहा। हम्मीर इनका अन्तिम राजा था जिसे 1301 ई में अलाउद्दीन खिलजी ने पराजित कर चौहानो के राज्य का अन्त कर दिया। हम यह तो मानते है कि राजपूत वास्तव मे वीर, निडर अपनी मर्यादा का पालन करने वाले लोग थे। उनके शौर्य पर आज सारे भारत को गर्व होता है। राजस्थान के छोटे से छोटे स्थान पर से भी ऐसे वीर पुरुषों की गाथाएँ सुनने को मिल जायेंगी जिन्होंने मातृ भूमि की रक्षा के लिए हँसते हँसते अपने प्राण दे दिये। कर्नल टाड ने भी कहा है कि "राजस्थान मे ऐसा कोई छोटा राज्य नहीं है जिसमे थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर है जहाँ लियानिडास के समान मातृ भूमि पर बलिदान होने वाला वीर पु[illegible] उत्पन्न न हुआ हो।"

डा० कानूनगो ने अपनी पुस्तक स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री के पृ[illegible] 68 पर कर्नल वाल्टर का मत देते हुए लिखते हैं कि—"राजपूतो ने जो वीर कार्य किये है तथा अपने वीरत्व का जैसा परिचय दिया है। वैसा विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास मे नहीं मिलता।" वास्तव मे राजपूतो के शौर्य पर गर्व किया जाना चाहिये। उन्होने अपने धर्म और देश के लिये अपने प्राणो को सदा हथेली पर रखा है।

प्रश्न यह उठता है कि इतनी वीर और देश भक्त कौम इस प्रकार शत्रुओ से कैसे हार गई उसकी पराजय के मूल कारण क्या थे? सामान्यत विदेशी इतिहासकार एल्फिन्सटन, लेनपूल, स्मिथ आदि अंग्रेजी इतिहासकार का मत है भारतीयो की पराजय इसलिये हुई कि उनकी तुलना मे तुर्क कहीं अधिक अच्छे सैनिक थे क्योंकि वे शीत प्रदेशो के निवासी थे, माँस खाते थे और युद्ध प्रिय थे। लेकिन इस मत मे गम्भीरता नहीं है क्योंकि राजपूत भी माँसाहारी होते है तथा भारतीय सैनिकों ने गुलामी के युग मे भी प्रथम व द्वितीय युद्धो मे दूर ठंडे देशों मे जाकर अपनी वीरता की धाक जमाई है। एशिया और अफ्रिका के मैदानो मे गौरव यश प्राप्त किया है अतः यह [illegible] किया जा सकता हम[illegible] हमारी सेना घटिया रहे होंगे।

अतः हमें राजपूतों को पराजय के कारण अन्यत्र कहीं ढूँढ़ने पड़ेंगे। ये कारण निम्नांकित हैं—

1 **देश की आन्तरिक फूट** — घोर संकट के समय भी हमारे शासक मिलकर युद्ध नहीं कर सकते थे। वे सदा आक्रमणकारी से एक एक करके लड़ते थे। सिकन्दर के आक्रमण से लेकर अंग्रेजों के आगमन तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हम सदा अपने ही मतलब के लिये केवल अपने राज्य की सुरक्षा के लिये लड़ते रहे हैं। सारे देश के लिये कभी संगठित नहीं हो सके। अतः मुख्य सामान्य कारणों में देश की आन्तरिक फूट को सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण मानना पड़ेगा। महमूद गजनवी को निमंत्रण देने वाले भी हिन्दू राजा थे। सिकन्दर को भी तक्षशिला के राजा आम्भी ने बुलाया था और पृथ्वीराज के विरुद्ध भी जयचंद आदि ने मिलकर षडयंत्र रचा था जिसका इसी अध्याय में पहले वर्णन किया जा चुका है। स्पष्ट है कि हमारी आन्तरिक फूट राजपूतों के पराजय का प्रथम कारण थी।

2. **स्थायी सेना** —भारतीय सेना अधिकतर एक भीड़ के समान होती थी। किसी के पास भाला, किसी के पास तलवार तो किसी के पास लाठी ही होती थी। न तो उन्हें किसी प्रकार का प्रशिक्षण ही दिया जाता था और न ही उनकी निश्चित स्थाई संख्या होती थी। साधारणतः युद्ध के समय राजा सामन्तों से सेना मंगा लेता था और युद्ध समाप्त होने पर उन्हें वापस भेज दिया जाता था। कुछ सैनिक तो किराये पर मंगाये जाते थे। इस प्रकार राजपूतों की सेना में न तो युद्ध कौशल था और न ही अनुशासन। उनके लड़ने के ढंग भी अलग अलग थे। मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस कमजोरी का पूरा पूरा लाभ उठाया और राजा के पास अनुशासन व अभ्यास के अभाव से पीड़ित अस्थाई सेना राजपूतों की पराजय का कारण बन गई।

3 **हाथी और घोड़े** —भारतीय सेना का अग्रिम अंग हाथियों का होता था जो शत्रु के अग्रिम भाग को नष्ट करने के काम में लिया जाता था किन्तु मुसलमानों के तीखे तीरों की मार से ये बिन लगाम के हाथी बिगड़ जाते थे और पीछे मुड़कर अपनी ही पैदल सेना का सहार शुरू कर देते थे। भारतीय सेना का दूसरा मुख्य अंग होता था पैदल सैनिक जो विदेशी तेज दौड़ने वाले घोड़ों के सामने खड़ा नहीं रह सकता था। वैसे तो महमूद गजनवी भी हाथियों का प्रयोग करता था किन्तु उनसे सिर्फ दुर्ग के द्वार तुड़वाने का काम लिया जाता था। घोड़ों में भी मुसलमानों के पास अच्छी नस्ल के घोड़े थे। वे घुड़सवारों को अपनी फौज का खास अंग रखते थे जबकि राजपूतों में पैदल सेना अधिक होती थी। राजपूतों के भारी धीरे चलने वाले हाथी और पैदल तुर्कों के फुर्तीले

घोड़ो की बराबरी नहीं कर सकते थे । तुर्कों के तेज घोड़े भारतीय सेना को जल्दी ही घेर कर चारों तरफ से प्रहार करने लगते थे । और जब भारतीय सेना भागने लगती तो उनका आसानी से पीछा कर उन्हें कत्ल कर डालते थे। अत घोड़ो के स्थान पर हाथी व पैदलों का प्रयोग भी राजपूतो की पराजय का कारण था ।

4 रण नीति — हमारा सैनिक सगठन ही पुराने और पिछड़े सिद्धान्तों पर आधारित नही था वरन हमारे सेनापति अन्य देशो की रण नीति से परिचित नही थे । यह दोष हमारे देश मे हर युग मे देखने को मिलता है। दूसरे देश तो प्रगति पर थे लेकिन हम जहाँ के वहाँ रहे । इसलिये अस्त्र शस्त्र तथा समर नीति दोनो ही क्षेत्रों मे मुसलमान राजपूतों से श्रेष्ठ थे । भारत वासियो के लिये आगे चल कर बाबर ने भी कहा था कि भारतवासी मरना जानते हैं, लड़ना नही । राजपूत वीर थे, अपने प्राण दे सकते थे किन्तु शत्रु की दुर्बलता से लाभ उठाना उन्हे नही आता था । सच तो यह है कि उन्हें युद्ध के दाँव पेचो का प्रयोग करने की योग्यता नही थी । राजपूत तलवार और भाले का प्रयोग अधिक करते थे और तीर चलाने मे पारगत नही थे जबकि मुसलमान तीरो के द्वारा दूर से ही राजपूतो को परेशान कर देते थे । मुसलमानों के पास दुर्ग विजय के लिये मजनिक और अर्रादा नामक हथियार थे जबकि राजपूतो को दुर्ग जीतने की विधि नही आती थी । इस प्रकार रण कौशल व नीति मे मुसलमान राजपूतो से अधिक चालाक व दक्ष थे ।

5 गुप्तचर — मुसलमान आक्रमण करने से पहले राजपूतो की सैनिक शक्ति आदि का पूरा पता लगा लेते थे उनके व्यापारी यहाँ का सारा हाल अपने देश भेज देते थे और राजाओं की सैनिक शक्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही आक्रमण करते थे । वे गुप्तचरो की सहायता से असतुष्ट और देशद्रोहियों को प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेते थे । तुर्क लोगो का गुप्तचर विभाग बहुत गठित और निपुण था । उनके व्यापारी गुप्तचर हमारे देश मे बे रोक टोक इधर उधर घूमते रहते थे और सारा हाल जान लेने के बाद वे अचानक आक्रमण करते थे । इसके विपरीत राजपूतो की सेना मे गुप्तचरों का पूर्णतया अभाव था। वे शत्रु की गतिविधि से सर्वथा अपरिचित रहते थे इस प्रकार राजपूतो को विदेशी आक्रमणकारियों की सैनिक तैयारियों का बिल्कुल पता नहीं रहता था और वे युद्ध क्षेत्र मे सदा अपरिचित से रहते थे जबकि मुसलमानो को हर स्थिति का पूरा ज्ञान रहता था । शत्रु की गतिविधियों से अपरिचित रहकर राजपूत साधारणतः जीता हुआ युद्ध हार जाते थे ।

6. धर्म युद्ध:—डॉ. ए. एल श्रीवास्तव अपनी पुस्तक 'दिल्ली सुल्तान' के पृष्ठ 95 पर राजपूतों की पराजय के कारण बताते हुए लिखते हैं कि राजपूतों को अपनी तलवार चलाने की कला पर घमण्ड था और युद्ध को व युद्ध कौशल तथा वीरता के प्रदर्शन के लिये एक टूर्नामेन्ट समझते थे।" इसके विपरीत तुर्क लोग विजय के लिये युद्ध मे हर चीज को उचित मानते थे। शत्रु पर रात मे सोते समय आक्रमण करना, भागते शत्रु को पकड़ कर मार डालना आदि राजपूत अधर्म समझते थे और मुसलमान इनका पूरा प्रयोग करते थे। वे तो युद्ध जीतना चाहते थे चाहे इसके लिये उन्हें किसी भी मार्ग का अनुकरण करना पड़े। यदि पृथ्वीराज तराइन की पहली लड़ाई के मैदान से भागते घायल महमूद को पकड़ कर मार डालता तो उसे दूसरा युद्ध ही नहीं लड़ना पड़ता। किन्तु धर्म युद्ध के चक्कर मे उसने अपना सर्वनाश कर लिया।

7. सीमा-सुरक्षा.—देश रक्षा के लिये सीमा सुरक्षा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है किन्तु राजपूत राजाओं ने अपनी सीमा को सुरक्षित बनाने के लिये कभी चेष्टा नहीं की। भारत पर अधिकतर विदेशी आक्रमण पश्चिमी व उत्तरी दर्रों से हुए हैं। राजपूतों के समय मे महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के आक्रमण भी उत्तर-पश्चिम सीमा से ही हुए थे। यदि पृथ्वीराज अपनी सीमा सुरक्षा के लिये ठोस कदम उठाता तो कदाचित गौरी थानेश्वर तक नही आ पाता। पंजाब मे मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो चुका था। उसे भी रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। जिस समय मुहम्मद गौरी तराइन की पहली लड़ाई में हार कर भागा था उसी समय यदि पृथ्वीराज अपनी सुरक्षा और भावी आक्रमणों से बचने के लिये ठोस कदम उठाता तो उसे पराजित नही होना पड़ता। मुसलमानों ने पंजाब को अपना आधार बनाकर राजपूतों पर आक्रमण किये थे। अतः सीमा की सुरक्षा का ध्यान न रखकर पृथ्वीराज ने शत्रु के लिये अपने घर के द्वार खोल दिये।

8. जाति प्रथा—डॉ० दशरथ शर्मा अपनी पुस्तक अर्ली चौहान के पृष्ठ 322 और 323 पर राजपूतों की पराजय के कारण बताते हुए लिखते हैं कि—"राजपूत सेना मे जाति भावना भरी पड़ी थी तथा झूठे अहंकार के कारण उनमे सामूहिक एकता नहीं आती थी।" वास्तव में राजपूतो की पराजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण जाति की भावना थी। वे अपने राजा के वफादार या स्वामीभक्त कहलाने को लड़ते थे। उनका उद्देश्य सीमित था जबकि मुसलमानो में धार्मिक जोश रहता था और वे विजय को इस्लाम की विजय समझते थे और इसीलिये हर युद्ध को धर्म युद्ध या 'जिहाद' का नाम दे देते थे राजपूतों की कमी होती जा रही थी। तराइन के मैदान मे लगभग एक लाख सैनिक

हारना पड़ा। अन्धविश्वासों पर आधारित हिन्दू धर्म भला किस प्रकार मुसलमानों की शहीद होने की या इस लोक व परलोक सुधारने की भावना से टकरा सकता था। वास्तव में गौतम बुद्ध और महावीर की अहिंसा ने सैनिक शक्ति को निर्बल कर दिया था।

12. योग्य प्रतिद्वन्दी —कुछ इतिहासकारों का मत है कि राजपूतों में तो सिर्फ पृथ्वीराज चौहान ही एक मात्र योग्य राजा था जबकि उनके प्रतिद्वन्दी मुसलमानों में महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, कुतुबुद्दीन जैसे योग्य सेना नायक थे। मुसलमान सेनापति भारतीय सेनापतियों की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी और अनुभवी थे। अपमान न सह सकने के कारण जयपाल ने अपने आप को जीवित जला दिया किन्तु वह वापस विजय पाने का कोई और उपाय नहीं ढूंढ सका। इन बातों से स्पष्ट है कि हिन्दुओं से प्रतिद्वन्दी अधिक योग्य थे।

13 आतंक प्रथा —मुसलमान सहसा आक्रमण करते थे और लूटमार आगजनी, हत्या, बलात, धर्म परिवर्तन, कत्लेआम आदि साधनों का सहारा लेकर आम जनता पर आतंक फैला देते थे। जिससे सारे देश का उत्साह भग हो जाता था। वे विद्युत गति से हमारे सैनिकों तथा सुन्दर नगरों पर झपट पड़ते और तलवार तथा अग्नि से देश को उजाड़ देते जिससे हमारे सैनिकों का मनोबल चूर्ण हो जाता। इस भावना से हमारे समाज को लकवा मार जाता और वे लोग मनोवैज्ञानिक विजय तो लड़ाई से पहले ही प्राप्त कर लेते थे। उनकी आतंक की नीति विरोधियों के लिये यातनाओं का कारण बन जाती थी अतः जनता ने उनका विरोध छोड़ दिया और राजपूतों की पराजय प्रायः स्वभाविक हो गई।

14. सैनिक भरती —डॉ० ईश्वरी प्रसाद का मत है कि मुसलमानों को मध्य ऐशिया से वीर और मरने मारने वाले सैनिक बराबर मिलते रहते थे जिन्हें कत्लेआम, लूटमार और आग आदि लगाने में आनन्द आता था। वे लोग भारत की धन सम्पत्ति से भी आकर्षित थे अधिकांश योद्धाओं का भारत आने का मूल कारण धन प्राप्ति था इसलिये मुसलमानों को कभी योग्य सैनिकों की कमी नहीं हुई जबकि राजपूतों को इस प्रकार के सैनिक प्राप्त नहीं थे।

15. आकस्मिक कारण—जयपाल और सुबक्तगीन के युद्ध में यका-

अध्याय 6

हमीर चौहान

105–116

चौहान राजा हमीर देव

कोटा राज्य में प्राप्त एक महत्वपूर्ण पाषाण लेख रणथम्भौर के चौहानों का कालक्रम बताता है कि हमीर पृथ्वीराज की चौथी पीढ़ी का शासक था। पृथ्वीराज, वाग्भट्ट (वह्राड), जैत्रसिंह और हमीर। इसी लेख में यह भी कहा गया है कि हमीर ने मालवा जीता था और पुष्पक नामक एक त्रिमंजला स्वर्ण महल बनवाया था जो रणथम्भौर में स्थित जयपुर का राजकीय महल हो सकता है। हमीर का यह वर्णन डा० लाल अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 82 पर देते हैं।

श्री गहलोत का कहना है कि "पृथ्वीराज का पुत्र गोविन्दराज अजमेर में हराये जाने के बाद रणथम्भौर चला गया और वहाँ उसने नये राज्य की स्थापना की इस वंश में हमीर बहुत ही प्रसिद्ध शासक हुआ है।" वास्तव में हमीर, चौहान वंश का अन्तिम पराक्रमी शासक था। तराइन का दूसरा युद्ध निर्णायक था उसके फलस्वरूप दिल्ली व अजमेर से चौहानों का राज्य समाप्त हो गया। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद मुहम्मद गौरी ने उसके बेटे गोविन्दराज को अजमेर का राजा बना दिया था। किन्तु पृथ्वीराज का भाई हरीराज अजमेर को मुसलमानों के अधीन नहीं देख सका और उसने अजमेर पर आक्रमण कर उसे छीन लिया। पृथ्वीराज का पुत्र गोविन्दराज अजमेर छोड़कर रणथम्भौर चला गया और वहाँ चौहानों का राज्य जमाया। इसी वंश का अन्तिम राजा हमीर था। श्री ओझा के अनुसार—"सन 1300 में राजा हमीर चौहान से रणथम्भौर का किला लेकर अलाउद्दीन खिलजी ने वहाँ के चौहान राज्य की समाप्ति की।"—'राजपूताने का इतिहास' पृष्ठ 309।

रणथम्भौर राजस्थान के दक्षिण पूर्वी कोने में है। यह पथरीले पठार पर समुद्र की सतह से 1578 फुट ऊँचाई पर स्थित है। अमीर खुसरो के अनुसार यह दिल्ली से दो सप्ताह की यात्रा की दूरी पर स्थित था और इसकी परिधि तीन कोस लम्बी एक ठोस दीवार से घिरी थी। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसके भाई हरीराज और उसके बेटे ने अपने पूर्वजों के राज्य को पाने के

लिये कई विफल चेष्टाएँ की किन्तु अन्त में निराश होकर उन्हें अजमेर वापिस का विचार त्याग देना पड़ा। ये लोग रणथम्भौर आ गये और यह स्थान राजपूतों का एक विशाल केन्द्र बन गया। अगले सौ वर्ष तक यहाँ चौहानों का राज्य रहा (1194 से 1300 ई० तक) इस बीच दिल्ली के सुलतानों ने कई बार रणथम्भौर पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा की थी परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली थी। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1209 में आक्रमण किया और 1226 में इल्तुतमिश ने इसे जीत लिया था किन्तु शीघ्र ही यह पुनः स्वतन्त्र हो गया था। 1291 ई० में जलालुद्दीन खिलजी ने उसके विरुद्ध अभियान किया किन्तु इसे को अजय पाकर वापस लौट आया। इधर मुसलमान सुल्तान राजस्थान के दुर्गों को अपने अधीन करने के लिये अधीर थे और उधर चौहान अपने राज्य को वापस पाने के लिये कटिबद्ध थे। मेवाड़ के राणा भी इस मामले में चौहानों के पक्ष में थे। जिस समय अलाउद्दीन अपने चाचा को मारकर दिल्ली का सुल्तान बना (20 जुलाई, 1296) उस समय रणथम्भौर पर एक शक्तिशाली राजा हमीर देव चौहान राज्य करता था।

ज्ञान के स्रोत—चौहानों के इतिहास में दो ही शासकों पर अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री मिलती है। एक पृथ्वीराज चौहान पर और दूसरी हमीर देव चौहान पर। क्योंकि इस राजा ने मुसलमानों के साथ निर्णयात्मक युद्ध किये थे अतः मुसलमान लेखकों ने भी इसकी वीरता और अन्तिम पराजय का वर्णन किया है। सब मिलकर निम्नांकित ग्रन्थ हमीर के जीवन और शासन का वर्णन करते हैं।

1. नयचन्द्र सूरी का 'हम्मीर महाकाव्य।'
2. जोधराज का 'हम्मीर रासो।'
3. चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ।'
4. प्रबन्ध कोष।
5. बलवन और [illegible] शिलालेख।
6. जियाउद्दीन बरनी—'तारीख-ए-फीरोज शाही' और 'फतवा-ए-जहांदारी।'
7. अमीर खुसरो की रचनाएँ।
8. [illegible] के अतिरिक्त, [illegible] हमीर का वर्णन करते हैं।

9. डॉ० दशरथ शर्मा की—'दी अर्ली चौहान डाइनेस्टीज।'

10. गौरीशकर ओझाकृत 'राजपूताने का इतिहास।'

ये सभी ग्रन्थ हमीर के समय, शासन और युद्धो का वर्णन करते हैं। इनके अनुसार हमीर जयत्र सिन्हा का लड़का था। ग्रन्थकारो मे यह भी मतभेद है कि हमीर जयत्र सिन्हा का पहला या तीसरा बेटा था। हम्मीर महाकाव्य मे पता चलता है कि जयत्रसिन्हा के तीन पुत्र थे सूरत चन्द्र, विरमा और हमीर। इनमे हमीर अन्तिम पुत्र था जो 1282 ई० मे रणथम्भौर का शासक बना। डॉ० दशरथ शर्मा भी इसी मत का समर्थन करते हैं। सबमे छोटा होते हुए भी हमीर को ही शासन भार सौंपा गया क्योंकि वह सबमे योग्य था। उसकी माता का नाम हीरादेवी था। एक इतिहासकार ऐसे हैं जो हमीर को जयत्र-सिन्हा का बड़ा बेटा मानते हैं। श्री हरबिलास शारदा की धारणा है कि हमीर के बाद जयत्रसिन्हा के दो पुत्र और हुए थे किन्तु अन्य कोई ग्रन्थ इस बात का समर्थन नही करता इसलिये शारदा जी के मत को सही नही मानकर डॉ० दशरथ शर्मा का विचार ही सत्य लगता है कि हमीर छोटा बेटा होते हुए भी योग्य होने के कारण रणथम्भौर का राजा बना। उसने अठारह वर्ष तक राज्य किया (1282 से 1300 ई० तक)। इस तिथि पर भी कुछ लोगो को व्यर्थ की आपत्ति है। प्रबन्ध कोष की आड लेकर हमीर के राज्यारोहण की तिथि 1286 ई० आँकने का प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ और त्रुटिपूर्ण है। डॉ० दशरथ शर्मा हमीर महाकाव्य का विश्लेषण कर सत्य तक जा पहुँचे हैं कि अपने पिता के बाद हमीर 1282 ई० मे गद्दी पर बैठा था। अपने अन्तिम समय मे जयत्र-सिन्हा चम्बल नदी पर स्थित पाटन तीर्थ गया था और वहाँ जाने की तिथि प्रबन्धकोष मे दी है जिसे हमीर का राज्याभिषेक समय मान लिया गया है। वास्तव मे हमीर को तीर्थ स्थान जाने के तीन वर्ष पहले राज्य सौंप दिया गया था। जो भी हो यह विवाद का प्रश्न नही क्योंकि जो लेखक 1282 ई० के अतिरिक्त तिथि देते हैं उन्होंने चौहानों पर कोई शोधकार्य नहीं किया है अत: डॉ० दशरथ शर्मा की तिथि को ही मानना उचित होगा कि हमीर 1282 ई० मे रणथम्भौर का शासक बना।

हमीर की विजय—हमीर एक महान योद्धा था। उसके शासन काल का अधिकांश समय युद्धों मे व्यतीत हुआ था। अपने 18 वर्ष के शासन काल में उसने दिग्विजय और अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। पुरोहित विश्वरूप ने उसे अश्वमेध यज्ञ करवाया था। उसकी युद्ध और विजयों के विषय मे हमीर महाकाव्य मे पता चलता है कि उसने गद्दी पर बैठते ही दिग्विजय की नीति

अपनाई और आस पास के क्षेत्रों को जीत डाला। न्याय चन्द सूरी ने इन विजयों का क्रमबद्ध वर्णन हमीर महाकाव्य में किया है। कुल मिलाकर हमीर ने चौदह स्थानो पर विजय प्राप्त की। उसने खिलजी शासक जलालुद्दीन खिलजी के आक्रमण को 1290 में विफल किया। अलाउद्दीन के 1300 ई० के आक्रमण को भी उसने विफल कर दिया था किन्तु अन्त में गलत चिन्ह देखकर क्षत्राणियों के जौहर कर लेने से वह वापस अलाउद्दीन की सेना पर टूट पड़ा और लड़ता लड़ता मारा गया। इस प्रकार हमीर ने कुल 17 युद्ध लड़े जिनमें से 16 में उसे विजय प्राप्त हुई।

हमीर ने सबसे पहले भीमरस के शासक अर्जुन को पराजित किया। बलवन शिलालेख में अर्जुन को मालवा का शासक बताया है जो हमीर के पिता जयत्रसिम्हा के समकालीन जयसिम्हा द्वितीय का उत्तराधिकारी था। इसी शिलालेख मे यह भी वर्णन मिलता है कि हमीर ने मालवा के शासक अर्जुन की हस्ति सेना पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। मालवा जीतने के बाद हमीर ने मांडलगढ़ को जीता और वहाँ के राजा से बहुत सी भेंट आदि वसूल की। मांडलगढ की विजय को अलग अलग इतिहासकारों ने अलग अलग नाम से पुकारा है। हरविलास शारदा इसे माण्डलगढ कहते हैं तो कुछ प्राचीन ग्रन्थ इसे माण्डल-कूटा कहते हैं। डाक्टर दशरथ शर्मा और ओझाजी इसे मांडलगढ़ कहते हैं। जो भी हो हमीर की दूसरी विजय मांडलगढ़ थी। उसके बाद उसने अश्वमेध यज्ञ कर अपनी दक्षिण विजय का अभियान शुरू किया। इसमें उसने राजा भोज, जो परमार वंश का था, पराजित कर उज्जैन और धार को अपने अधीन किया। उत्तर की तरफ लौटते हुए उसने दस स्थानो को विजय कर अपने अधीन किया। इस विजयाभियान मे हमीर की तलवार का लोहा मानने वाले व हमीर को भेंट कर और सम्मान देने वाले राजाओं की गिनती चित्तौड़ से मेरठ तक के दस राज्यों में फैली हुई है। हमीर ने एक ही दौर में चित्तौड़, आबू, वर्धनपुर, चंगा, पुष्कर, मेरठ, खंडवा, चम्पा और ककरिला को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसकी अन्तिम विजय करौली की थी। डॉ० दशरथ शर्मा ने जिसे मेरठ कहा है उसे हमीर महाकाव्य मे महाराष्ट्र कहा है। और करौली को त्रिभुवन नगरी भी कहा गया है। हमीर ने अपना यह विजय अभियान 1288 ई० में शुरू किया था। बलवन शिलालेख से भी इन विजयों का वर्णन और विवरण का पता चलता है। इन सब विजयों के अतिरिक्त न्याय चन्द्र सूरी ने हमीर महाकाव्य में एक और परमार राजा का वर्णन किया है हमीर ने धार नामक स्थान पर पराजित किया था।

ये आक्रमण तो हमीर ने दूसरे राज्यों पर किये थे। यहाँ उन दो आक्रमणों का वर्णन भी करना उचित होगा जो मुसलमान शासकों ने हमीर पर किये थे। ये आक्रमणकारी खिलजी वंश के सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी और उसका भतीजा अलाउद्दीन खिलजी थे।

जलालुद्दीन खिलजी का आक्रमण—मुहम्मद गौरी द्वारा दिल्ली से निष्कासित किये जाने के बाद से रणथम्भौर चौहानों का सबसे बड़ा गढ़ था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस किले पर 1209 ई० में असफल आक्रमण किया था। इल्तुतमिश ने 1226 में इसे बहादुरी से नहीं बल्कि विश्वासघात से जीत लिया था जिसे रजिया के समय में राजपूतों ने पुनः स्वतन्त्र कर लिया। बलबन ने 1249 में यहाँ तुर्की राज्य स्थापित करना चाहा पर असफल रहा। इतिहासकार लाल अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 28 पर लिखते हैं कि—सन् 1282 में रणथम्भौर की गद्दी पर महान् योद्धा राणा हमीर बैठा। उसने गढ़ माँडला के गौड़ राजा को पराजित करके कर देने के लिए बाध्य किया। उसने उज्जैन के राजा भोज द्वितीय पर आक्रमण कर उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया। अपने प्रदेश को लौटते समय वह अजमेर, पुष्कर, साँभर और खण्डेला से होकर निकला और इन सब स्थानों पर अधिकार कर लिया। "इन सब विजयों ने जलालुद्दीन खिलजी को इतना भयभीत किया कि उसने रणथम्भौर का अभियान करने का निश्चय किया।" पता नहीं इस वृद्ध और शान्ति-प्रिय शासक ने ऐसा संकटपूर्ण अभियान हाथ में क्यों लिया।

15 दिन की यात्रा के बाद जलालुद्दीन रणथम्भौर की सीमा पर पहुँचा। उसने पहले सीमा पर झाईं का नगर जीता। हमीर ने शत्रु को रोकने के लिए अपने वीर सेनापति गुरुदन सैनी को दस हजार रावतों की सेना देकर भेजा। सैनी महान् सेनापति था और मालवा के प्रदेशों में अपनी वीरता का परिचय दे चुका था किन्तु एक भयानक युद्ध के पश्चात् वह मारा गया। जलालुद्दीन ने झाईं के सुन्दर नगर को स्वर्ग से नर्क बना दिया। उसके बाद मालवा से होता हुआ वह रणथम्भौर के बाहर जा पहुँचा। हमीर ने अपने किले को मजबूत किया। अनेक पड़ोस के राजा भी उसकी मदद को आ गये। राजपूतों की तैयारी देखकर पहले तो सुल्तान थोड़ा झिझका फिर भयानक युद्ध, यन्त्र, मगरबी, सावात और गरगच तैयार करने का आदेश दिया। किन्तु जब खुद रणथम्भौर के किले का निरीक्षण करके लौटा तो कुछ घबरा सा गया और सेनापतियों के समझाने पर भी वापस दिल्ली लौट जाने का निश्चय

कर लिया। लोगों ने बहुत समझाया कि इससे आपका सम्मान कम हो जायगा और इस स्थान का राजा अत्यन्त गर्व का अनुभव करेगा। किन्तु सुल्तान हमीर से डर गया और लौटने का निश्चय कर बोला—"ऐसे दस किलों को भी मुसलमान के बाल के बराबर नहीं समझता।" उसने घेरा हटा लिया और 2 जून 1291 को वापस दिल्ली पहुँच गया।

इस प्रकार हमीर के भय से जलालुद्दीन को रणथम्भौर से चला जाना पड़ा।

अलाउद्दीन का आक्रमण—अपने चाचा जलालुद्दीन को मार कर अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान बना। उसे यह ज्ञात था कि पिछले सभी मुसलमान सुल्तान रणथम्भौर को जीतने में असफल रहे हैं। यदि वह रणथम्भौर जीत लेता तो राजपूतों की शक्ति नष्ट करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। अतः हमीर वह कसौटी थी जिस पर अलाउद्दीन खिलजी राजपूतों की शक्ति आँकना चाहता था। अलाउद्दीन ने बहुत सोच समझ कर इस किले पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के कई कारण थे जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं —

1. **सैनिक महत्त्व**—राजस्थान दिल्ली और दक्षिण के बीच में पड़ता है। इस प्रदेश में विरोधी शक्ति होने का अर्थ यह था कि सुल्तानों को दक्षिण विजय और प्रशासन सञ्चालन में सदा बाधा पड़ती रहेगी। अतः दक्षिण का नियन्त्रण करने के लिए आवश्यक था कि रणथम्भौर के स्वतन्त्र चौहानों को पराजित कर उनकी शक्ति को क्षीण किया जाय। यह किला दिल्ली से दूर भी नहीं था और मालवा आदि पर नियन्त्रण रखने के लिए इसका सैनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व था।

2. **अपमान का बदला**—मुस्लिम आक्रमणकारियों ने रणथम्भौर पर अधिकार करने की कई बार चेष्टाएँ की थीं किन्तु [illegible] चुके थे। जलालुद्दीन खिलजी ने भी इसके विरुद्ध अभियान किया था किन्तु [illegible] हाथ लौट गया था। इस असफलता से खिलजी [illegible] के सम्मान को काफी धक्का लगा था और उसके मुँह पर एक कालिख [illegible]। [illegible] इस अपमान का बदला लेने के लिए [illegible] कि अलाउद्दीन रणथम्भौर को जीत ले।

3. [illegible] — [illegible] पृष्ठ 12 पर कहते हैं कि — [illegible] रणथम्भौर अपनी [illegible]

जिसे राजपूतों के साथ शक्ति आजमाने के लिए चुना गया था।" वास्तव में रणथम्भौर का किला बहुत सुदृढ़ और अजय था। यह किला सदा मुसलमानों के लिए एक चुनौती था और इसकी स्वतन्त्रता मुस्लिम साम्राज्य के लिए एक सिर दर्द थी। इस किले की प्रसिद्ध दुर्भेद्यता के कारण अपनी सैनिक शक्ति को आजमाना चाहता था। वह सम्राट विजय की सोचता था फिर अपने पास ही स्वतन्त्र हिन्दू राज्य कैसे सहन कर सकता था? अतः उसने अपनी सैनिक शक्ति की परीक्षा लेने के लिए रणथम्भौर पर आक्रमण करना उचित समझा।

4. विद्रोही को शरण—श्री गहलोत का कहना है कि—"हमीर ने अलाउद्दीन के एक अपराधी मुहम्मद शाह को शरण देकर सुल्तान को नाराज कर दिया।" (पृष्ठ 27) इसी सन्दर्भ में डॉ० लाल कहते हैं कि—"जालोर के निकट हुए विद्रोह के नेता मुगल विद्रोही मुहम्मदशाह और उसके भाई केहब्र, को रणथम्भौर के राणा ने शरण दी थी।" यद्यपि कोई भी समकालीन इतिहासकार इस बात को आक्रमण का कारण नहीं बताते लेकिन यह वास्तव में एक बड़ा बहाना बन गया। डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव का कहना है कि—"हमीर देव ने कुछ विद्रोही नये मुसलमानों को अपने यहाँ शरण दी थी। उसके इस दुस्साहस के लिए उसे दण्ड देना अलाउद्दीन अनिवार्यनीय समझता था।" (दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ 178)

अलाउद्दीन ने हमीर से यह माँग की थी कि विद्रोहियों को उसके हवाले कर दे किन्तु हमीर ने शरणार्थियों को सौंपना धर्म के विरुद्ध समझा। हमीर महाकाव्य में इस घटना का वर्णन मिलता है। हमीर ने जब अलाउद्दीन की बात को ठुकरा दिया तो उसे क्रोध आना स्वाभाविक था। वास्तव में यह यह थी कि अलाउद्दीन की बेगम चिमना, सेनापति मुहम्मदशाह से प्रेम करती थी। बेगम और सेनापति ने मिलकर अलाउद्दीन के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा जिसका पता अलाउद्दीन को चल गया। फलस्वरूप मुहम्मद दिल्ली से भाग निकला और रणथम्भौर में आकर शरण ली। इस घटना का वर्णन चन्द्रशेखर के 'हमीरहठ' और जोधराज के 'हमीर रासो' में मिलता है। यद्यपि इस घटना का वर्णन समकालीन किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में नहीं मिलता फिर भी डॉ० लाल कहते हैं कि यह घटना अनुमानतः सत्य ही है। इस प्रकार के शरणार्थी को न लौटाना युद्ध का तात्कालिक कारण बन गया।

5. धर्म-सीमा और भोज की गद्दारी—अलाउद्दीन ने वास्तविक युद्ध के आक्रमण से पहले अपने सेनापति उलुग खाँ को रणथम्भौर जीतने के लिए भेजा जिसे हमीर के सेनापति भीमसिंह ने बनास नदी के किनारे पराजित

नाएँ दिल्ली लौट जायेगी।" (लाल पृष्ठ 83) हमीर ने इसका बड़ा नम्र निडर उत्तर दिया कि—'वह अपने प्रतिथियों को वापस नहीं दे सकता'। तब उलुग खाँ ने हमीर को परिणामों के लिए तैयार रहने को कहा और लड़ाई शुरू हुई।

युद्ध के पहले चरण में मुसलमानों ने किले को घेर कर आक्रमण किया। राजपूत चुनींदा जवान किले में निकल पड़े और घेरा डालने वालों को घेर कर मारना शुरू किया। फलस्वरूप अलाउद्दीन का एक योग्य सेनापति नसरत खाँ लड़ाई में मारा गया और उलुग खाँ ने यह समाचार दिल्ली भेजा और अलाउद्दीन स्वयं आक्रमण में भाग लेने आया। हमीर की सहायता के लिए चित्तौड़ के दो राजा कान्ह और बलन्मी भी अपनी सेना सहित आ गये थे। रास्ते में अलाउद्दीन के भतीजे इकत खाँ ने अलाउद्दीन की हत्या करनी चाही किन्तु विफल रहा।

रणथम्भौर का घेरा एक दीर्घकालीन कार्य साबित हुआ। सेना को बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा। शाही सेना में निराशा की भावना फैल रही थी। अन्त में किले की खाद्य सामग्री समाप्त हो गई और चारों तरफ अकाल फैल गया। हमीर काव्य के अनुसार—"चावल का एक 'दाना' सोने के दो 'दानों' के बदले ही खरीदा जा सकता था।" ... "मनुष्य प्रत्येक पीड़ा सह सकता है किन्तु भूखे पेट की पीड़ा नहीं।" अतः हमीर ने निर्णायक युद्ध करने का फैसला किया। यह घेरा एक से तीन वर्ष तक रहा बताते हैं। जौहर की तैयारी की गई और रानी रंगदेवी के नेतृत्व में चिता सजाई गई। राजपूत द्वार खोलकर मुसलमानों पर टूट पड़े। एक बार उन्हें विजय प्राप्त हुई और हजारों मुसलमाने हरे झण्डे लेकर किले की तरफ लौटे। रानियाँ जौहर कर चुकी थी अतः राजपूत फिर शत्रु पर टूट पड़े। और अन्त में हमीर लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। रणथम्भौर पर 11 जुलाई 1301 को अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। इस युद्ध का रोमांचकारी वर्णन श्री श्याम-लाल ने 'वीर विनोद' के पहले भाग में पृष्ठ 72 पर किया है कि—"आखिर को हमीर देव ने यह सोचा कि अब ऐसा हमला किया जावे, कि जिसमें या तो मुसलमानों पर फतह हासिल हो या हम लोग मर मिटें, यह विचार दृढ़ करके किले भीतर बारूद बिछा कर उसके ऊपर एक लम्बा चौड़ा फर्श बिछा दिया, जिस पर किले की औरतें बिठा दी गईं और अपनी तरफ वाले लोगों को समझा दिया, कि अगर अपनी फतह हुई, तो पचरंगी निशान की झण्डियाँ आगे होंगी और मुसलमानों की हुई तो नीली झण्डियाँ आगे को दिखाई देंगी,

अध्याय 7

राणा रतनसिंह

117-132

राणा रतन सिंह

राजस्थान के 36 राजवंशों में मेवाड़ के राजवंश का श्रेष्ठ स्थान है। राणा यहाँ के राजाओं की उपाधि है और ये सूर्यवंशी क्षत्री हैं। सारे राजस्थान का इतिहास आठ भागों में बाँटा जाता है। जिनमें से मेवाड़ पहला है और अपनी प्राचीनता के लिये प्रसिद्ध है। मेवाड़ के राणा अपने आप को राम के पुत्र लव का वंशज मानते हैं। मेवाड़ के सूर्यवंशी राजाओं में कनकसेन सबसे पहला माना जाता है। उसकी आठवीं पीढ़ी में शिलादित्य नाम का राजा हुआ। कनकसेन और उसके वंशज लव के वंशज थे और वल्लभीपुर पर राज्य करते थे। म्लेच्छ आक्रमणकारियों ने शिलादित्य को मार डाला। उसकी रानी पुष्पावती गर्भवती अवस्था में अपने पिता के घर गयी हुई थी जिसका राज्य विन्ध्य पर्वत के नीचे था। पति के मारे जाने पर रानी ने तपस्विनी जीवन शुरू किया और जंगल में गुफा में रहकर एक पुत्र को जन्म दिया। गुफा में जन्म होने के कारण लोग उस बालक को गोह कहने लगे। रानी गोह को एक ब्राह्मणी को देकर सती हो गई। गोह आस पास के भील बालकों का नेता बना। उसकी वीरता व ख्याति से प्रभावित होकर दक्षिणी मेवाड़ के भील राजा मण्डलीक ने गोह को अपना राज्य दे दिया। इस प्रकार गोह मेवाड़ का राजा बना और उसका वंश उसी के नाम पर गहलोत कहलाया। ऐसा मत टाड महोदय का है (पृष्ठ 130)

गोह की आठवीं पीढ़ी में नागादित्य मेवाड़ का राजा हुआ जिसे भीलों ने मार डाला। नागादित्य की मृत्यु के समय उनके एक तीन वर्ष का पुत्र था जिसका नाम बापा था। बापा ने आगे चलकर सारे मेवाड़ पर अपना आधिपत्य जमाया और सौ वर्ष की अवस्था तक राज्य किया। बापा ने कन्धार, कश्मीर, ईराक, ईरान, तूरान आदि अनेक देशों को जीतकर वहाँ के राजाओं की लड़कियों से शादी की थी। उन्होंने 50 वर्ष की अवस्था में भी खुरासान को जीतकर वहाँ के म्लेच्छ राजा की कन्या से विवाह किया था। किन्तु अन्त में साधु जीवन व्यतीत किया। उनके 130 सन्तानें थी। हिन्दू स्त्रियों से उनके 98 पुत्र थे जो अग्नि उपासी और सूर्य वंशी नाम से विख्यात हुए। बापा सन् 728 ई॰ में चित्तौड़ के राज सिंहासन पर बैठा था। उसके समय में भारत पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये थे। उसने मुसलमानों को अनेक बार भारत की सीमा के बाहर जा जा कर हराया था।

राणा के वंशजों में ही लगभग 550 वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी के समय में चित्तौड़ के सिंहासन पर राणा रतन सिंह बैठे। कर्नल टाड ि भीमसिंह के नाम से संबोधित करते हैं और महान रोमांचकारी पद्मिनी कहानी का नायक भी भीमसिंह को ही बताते हैं। जो वास्तव में रतन था। (देखें डा० ईश्वरी प्रसाद द्वारा अनुवादित कर्नल टाड का राजस्थान इतिहास—पृष्ठ 149)

1275 में लक्ष्मणसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा। उस स उसकी अवस्था छोटी थी इसलिये उसके चाचा रतनसिंह को उसका सं बनाया गया। राज्य के काम का सारा उत्तरदायित्व रतनसिंह पर ही कुछ लेखक व भाट रतनसिंह को राणा ही नहीं मानते क्योंकि उसका रा काल बहुत कम रहा है। उसके स्थान पर लक्ष्मणसिंह को ही राणा म हैं। चित्तौड़ का वास्तविक शासक बनने से पहले रतनसिंह मानव में काफी रहा था। रतनसिंह के शासन काल का एक लेख दरीबा में मिल है। श्री राम वल्लभ सोमानी अपनी पुस्तक 'वीर भूमि चित्तौड़' के पृष्ठ पर कहते हैं कि—"इस लेख की तिथि वि. स० 1359 माघवदी 5 बुध है। यह तिथि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के लिये प्रस्थान होने के दिन पूर्व की है। अतएव आक्रमण के समय इसे ही शासक माना ज चाहिये।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के आक्र के समय रतनसिंह वहाँ का शासक था। उसकी राज्य अवधि किसी भी में पाँच वर्ष से अधिक नहीं रही होगी किन्तु क्योंकि यह आक्रमण युग वनक था और इससे पद्मिनी की रोमांचकारी कहानी जुड़ी हुई है अतः र रतनसिंह का अध्ययन महत्वपूर्ण भी है।

राणा रतनसिंह का शासन काल अल्पकालीन होते हुए भी अत्य महत्वपूर्ण दो कारणों से है। एक तो यह कि उसके समय में मेवाड़ पर मुस- लमानों का आधिपत्य हो गया था और दूसरा यह कि पद्मिनी की ऐतिहासिक कहानी उसी के समय की कही जाती है। अब हम इस कहानी की सत्यता और ऐतिहासिक महत्व को देखें।

राणा रतनसिंह—रतनसिंह के पिता का नाम समरसिंह था। समरसिंह ने इसे गोद लिया था। रतनसिंह शिशोदिया वंश का था श्री ओझा इसके वंश का कोई जिकर नहीं करते किन्तु अमरकाव्य वंशावली ग्रन्थ में और नेणसी के वर्णन में इसका वर्णन मिलता है। टाड महोदय कहते हैं कि यह लक्ष्मणसिंह का चाचा और संरक्षक था किन्तु सोमानी उलटा ही वर्णन करते हैं कि—"समरसिंह के बाद इसे सिंहासन पर बिठाया गया था। उसका सारा काम काज लक्ष्मणसिंह ही देखा करता था।" किन्तु इतना

ट है कि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के समय चित्तौड़ का राणा रतन-ह ही था। समकालीन व अन्य मुसलमान लेखक रतनसिंह को ही मेवाड़ ा राणा बताते हैं। अतः यह मान लेना चाहिये कि रतनसिंह कुछ समय के ये मेवाड़ का शासक अवश्य था।

श्री कालिका रंजन कानूनगो अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री' अपने अध्याय "ए क्रिटिकल एनेलिसिस आफ पद्मिनी लीजेंड" में एक ववाद खड़ा कर देते हैं। वे इस बात को एक रोमांचकारी कहानी मानते हैं और किसी भी रूप में सत्य मानने को तैयार नहीं हैं। कानूनगो तो यहाँ तक हते हैं कि रतनसिंह मेवाड़ के चित्तौड़ का राजा नहीं था। बल्कि इलाहा-ाद के आस पास एक चित्तौड़ का राजा था। इसी प्रकार श्री आर सी. मजूमदार भी रतनसिंह के अस्तित्व और पद्मिनी की कहानी को नहीं मानते। स शंका को मिटाने के लिये यहाँ दो ठोस प्रमाण प्रस्तुत हैं—(1) दरीबा ा शिला लेख स्पष्ट कहता है कि अलाउद्दीन के आक्रमण के समय राणा तनसिंह मेवाड़ का राजा था। (2) एकलिंगजी के मंदिर में राजवंश का भी वर्णन है उसमें श्लोक 75-76 व श्लोक 77 80 में यह स्पष्ट है कि अला-द्दीन से युद्ध में पहले रतनसिंह की मृत्यु हुई फिर लक्ष्मणसिंह और उसके पुत्र मारे गये। अतः रतनसिंह मेवाड़ के चित्तौड़ का ही राजा था।

इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त नागपुर का लेख, और कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में प्राप्त सामग्री की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह तो मानना ही पड़ेगा कि रतनसिंह मेवाड़ का राणा था। उसका शासन काल चाहे एक वर्ष का ही रहा हो जैसा सोमानी महोदय कहते हैं।

रतनसिंह को हमीर चौहान का पुत्र भी बताया जाता है कि वह रणथम्भौर में पराजित होकर चित्तौड़ के राणाओं से आ मिला था और चित्तौड़ के द्वार पर लड़ता हुआ मारा गया था। हमीर चौहान के वंशज रण-थम्भौर से गुजरात गये थे जहाँ उनके शिला लेख मिले हैं। उनमें रतनसिंह का नाम नहीं है। इस प्रकार रतनसिंह के बारे में तीन विवाद हैं—(1) वह इलाहाबाद के पास किसी गाँव का राजा था। (2) कि वह हमीर चौहान का वंशज था और (3) यह कि वह लक्ष्मणसिंह का सर-क्षक चित्तौड़ का निवासी था। जहाँ तक अब तक के अनुसंधानों से पता चलता है। यही तथ्य निकलता है कि रतनसिंह के अस्तित्व पर गढ़ी गई कहानियाँ निराधार हैं। राजस्थान में प्राप्त शिला लेखों से, कुम्भलगढ़ अभिलेख, एक-लिंग शिला लेख श्लोक, दरीबा का शिला लेख, समकालीन जैन ग्रन्थ और मुसलमान लेखक और नागपुर का लेख इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि रतन सिंह चित्तौड़ का राणा, समरसिंह का दत्तक पुत्र था जिसने कम से कम एक

वर्ष चित्तौड पर अवश्य राज्य किया था। अतः रत्नसिंह की वास्तविकता को तो मानना ही पड़ेगा।

अब हम यह देखें कि रतनसिंह के अल्पकालीन शासन काल में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड पर आक्रमण क्यों किया। पिछले सवा सौ वर्ष से चित्तौड़ पर गुहिल राजपूतों का शासन चला आ रहा था सन् 1303 में उस पर आक्रमण कर चित्तौड की राजनीतिक स्वतन्त्रता और शान्तिमय जीवन का अन्त कर दिया। इस आक्रमण के मूल कारण निम्नांकित थे

1. **विश्व विजय का सपना**—अलाउद्दीन खिलजी सारे संसार को जीतना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने एक विशाल सेना तैयार की थी। मुसलमान धर्म के उलेमा (पंडित) उसे प्रोत्साहन देते थे कि धर्म प्रचार के लिये उसे अन्य धर्मावलम्बी राज्यो का अंत कर अपने धर्म का प्रचार करना चाहिये। इस धार्मिक भावना के अतिरिक्त अलाउद्दीन, सिकन्दर महान की तरह विश्व विजय का सपना देखता था। वह इतिहास में अमर होना चाहता था। उसके सेनापति आदि ने उसे यह परामर्श दिया था कि पहले उसे सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार जमाना चाहिये। क्योंकि भारत पर पूर्ण अधिकार होने के बाद ही वह अन्य देशों को जीत सकेगा अन्यथा उसके बाहर जाने पर पीछे से आन्तरिक विद्रोह व अराजकता की पूरी सम्भावना थी। अतः अपने विश्वविजय के स्वप्न को पूरा करने के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह दिल्ली के निकटतम स्वतन्त्र शासक रतनसिंह को पराजित कर चित्तौड़ पर अपना अधिकार जमा ले।

2. **राज्य विस्तार**—पृथ्वीराज की पराजय और दिल्ली पर मुसलमानों के आधिपत्य से भारत में एक विदेशी शक्ति का उदय हो गया था। अब तक राजपूत प्रायः शान्त से थे किन्तु पृथ्वीराज के पतन के बाद मेवाड़ ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया। उधर दिल्ली के मुसलमान शासक भी राज्य विस्तार में लगे हुए थे। राणा रतनसिंह के तीन पूर्वजों के समय में अर्थात् जैत्रसिंह, तेजसिंह और समरसिंह के समय में मेवाड़ का राज्य विस्तार कार्य बराबर चल रहा था। चित्तौड़ के राणा मालवा में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा रहे थे। स्वयं राणा रतनसिंह कई वर्ष मालवा में रहे थे। स्पष्ट है कि इस राज्य विस्तार की दौड़ में दिल्ली और मेवाड़ की टक्कर होनी स्वाभाविक थी। एक तरफ मुसलमान तलवार के जोर पर अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार कर रहे थे और दूसरी तरफ मेवाड़ के राणा अपना राज्य विस्तार कर भारतीय धर्म व संस्कृति के रक्षक बन रहे थे। रतनसिंह के पूर्वज भी दिल्ली के मुसलमान शासकों से लड़ते भिड़ते रहे थे। इस विरोध के फलस्वरूप मेवाड़ का मालवा में प्रभाव बढ़ता जा रहा था। यह प्रभाव वृद्धि अलाउद्दीन को

र करारी चुनौती थी। एक मियान में दो तलवारों का रहना सम्भव न
अतः अलाउद्दीन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मेवाड़ की राज्य विस्तार
भावना को पूर्णतया दबाये बिना मुसलमान साम्राज्य का विस्तार सम्भव
नहीं। मालवा में दोनों की राज्य विस्तार नीति युद्ध का एक कारण बन गई।

3. चित्तौड़ का महत्व—बिस्मार्क की यह कहावत प्रसिद्ध थी कि
बर्लिन का मार्ग वियाना होकर है। अर्थात् उस समय यूरोप की राजनीति
में वियाना एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। उसी प्रकार भारत में मुसलमानी राज्य
के समय चित्तौड़ एक अत्याधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। यह किला वह ठोस
चट्टान थी जो दिल्ली और दक्षिण के सम्बन्धों के बीच खड़ी हुई थी। एक
प्रकार से चित्तौड़ दक्षिण का द्वार था। दक्षिण में जाने वाले मुसलमानों की
सबसे बड़ी बाधा था। बिना चित्तौड़ पर अधिकार किये दक्षिण से स्थाई
सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते थे अतः मार्ग की इस रुकावट को, तथा दिल्ली
व दक्षिण के संगठन के बीच की इस कड़ी को प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक
था। बिना चित्तौड़ जीते मालवा या गुजरात को जीतना सरल काम नहीं
था। सारे भारत पर अधिकार पाने से पहले मध्य भारत को जीतना आव-
श्यक था और यह तभी हो सकता था जबकि चित्तौड़ व राजस्थान पर पूर्ण
अधिकार हो। भारत विजय का सपना देखने वाले किसी भी शासक को यह
सहन नहीं हो सकता था कि उसके सोने पर चित्तौड़ का दुर्ग स्वतन्त्रता का
आनन्द लेता रहे। सामरिक और राजनीतिक दृष्टि से चित्तौड़ विजय
आवश्यक थी।

4. पद्मिनी का रूप—अधिकांश इतिहासकार इस मत का प्रति-
पादन करते हैं कि पद्मिनी के रूप की महक अलाउद्दीन के चंचल मन भवरे
को चित्तौड़ खेंच लाई और शक्ति का प्रतीक सुन्दरता का मतवाला बन उसे
पाने को भूखा पड़ा। यह कोई नवीन बात नहीं थी। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य
ने भी नन्द की लड़की पाकर उसके माता पिता की जान बख्श दी थी। गुप्त
काल में राम गुप्त से भी शक आक्रमणकारी ने महारानी ध्रुवस्वामिनी की
माँग की थी। अतः शक्तिशाली राजाओं द्वारा सुन्दर स्त्रियों का हरण एक
सहज बात थी। अलाउद्दीन ने भी राघव नामक भिखारी से पद्मिनी के
आकर्षक रूप-लावण्य की मन मोहक कथा सुनी और उसे प्राप्त करने लोहे
की भांति चुम्बक की तरफ खिंचा चला आया। राणा रतनसिंह ने सुल्तान
का प्रस्ताव ठुकरा दिया। टाड, जायसी, फरिश्ता, हाजी उद्दबीर, और अन्य
पाश्चात्य व फारसी लेखक पद्मिनी के रूप को राणा और सुल्तान के युद्ध का
मूल कारण बताते हैं। अलाउद्दीन ने राणा को लिख भेजा कि अपनी रूपमति
रानी पद्मिनी को उसके हरम (महलों) में भेज दो तो चित्तौड़ की स्वतन्त्र

राज्य मान लेगा। राणा ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और दोनों
युद्ध हुआ।

चित्तौड़ विजय:—अमीर खुसरो अलाउद्दीन के साथ था जब उ
चित्तौड़ का दुर्ग देखा तो प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। किले का व
करते हुए कवि कहता है कि—"एक भीमकाय शिला को काटकर बनाया ग
यह किला आश्चर्यजनक था। चित्तौड़ का राणा सारे हिन्दु राजाओं में श्रे
था और हिन्दुस्तान के सब शासक उसकी श्रेष्ठता मानते थे।" इसी प्रक
ए एल श्रीवास्तव अपनी पुस्तक दिल्ली सल्तनत के पृष्ठ 179 पर कहते
कि—"मेवाड़ के स्वतन्त्र रहते हुए अलाउद्दीन की समस्त भारत को एक र
बनाने की महत्वकांक्षा का स्वप्न पूरा होना असम्भव था।" अत. उसने चित्त
पर आक्रमण कर दिया।

सोमवार 28 जनवरी 1303 को अलाउद्दीन एक विशाल सेना ले
चित्तौड़ विजय को निकल पड़ा। चित्तौड़ पहुँचने पर सुल्तान ने गम्भीरी अं
बेराच नदियों के बीच शिविर गाड़ दिये। सेना ने किले को घेर लिया।[1]
ओझा अभियान का विस्तार से वर्णन करते हैं (देखिये राजपूताने का इतिह
दूसरी जिल्द, पृष्ठ 463-68 तक) सुल्तान ने अपनी ध्वज चित्तौड़ी नामक ए
टेकरी पर गाड़ दी, जहाँ वह अपना दरबार लगाता था और स्वयं घेरे
गतिविधियों का निर्देशन करता था। वीर राजपूतों ने अपने वीर नेता रतन सि
की अधीनता में आठ महिने तक कड़ा प्रतिरोध किया। डा० श्रीवास्तव घेरे
समय सिर्फ पाँच महिने बताते हैं। श्री गहलोत घेरे की अवधी सात माह बता
है। वे आक्रमण का वर्णन अपनी पुस्तक राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास के पृ
38 पर इस प्रकार करते हैं—"ई सन् 1301 में रणथम्भोर हमीर से ले लेने
बाद उसने चित्तौड़ पर हमला किया चित्तौड़ के राणा रतनसिंह के धोखे से बं
कर लिया जाने पर उसकी रानी पद्मिनी ने बड़ी वीरता व कुशलता से युं
सचालन किया लेकिन लगभग सात मास के घेरे के बाद ई सन् 1303 ई
पद्मिनी व हजारों स्त्रियों को जौहर करना पड़ा। चित्तौड़ गढ़ के बचे सैनिकों ने
संग्राम कर वीर गति पाई। उस दिन लगभग 30,000 सैनिक काम आये।"
लगभग 33 वर्ष तक चित्तौड़ पर मुसलमानों का राज्य रहा अन्त में 1336
ई में सिसोदिया वंश के हमीर ने जो रतन सिंह के पूर्वजों के वंश का ही था,
चित्तौड़ पर पुन अधिकार कर लिया।

[1] राजपूतों ने 26 अगस्त 1303 ई को अन्तिम युद्ध किया था। उसी
[illegible] में घेरा किया था। अतः सात महिने का समय ही आक्रमण
अवधि मानते हैं। इस युद्ध में अन्य राजपूत राजाओं ने रतन

द का साथ नही दिया । उदयपुर सग्रालय मे सुरक्षित 1460 ई. के एक ला लेख में स्पष्ट है सिर्फ एक अधीन राजपूत राजा सिसोदिया महाराणा मी सिंह अपने सात पुत्रो सहित मुसलमानो से युद्ध करते हुए मारा गया ।

युद्ध के बारे मे भी टाड महोदय की राय भिन्न है । वे पृष्ठ 149 पर ते हैं कि—"अपनी शक्तिशाली सेना के द्वारा चित्तौड को घेर कर अला- द्दीन ने इस बात को जाहिर किया कि पद्मिनी को पाने के बाद मैं चित्तौड से ट जाऊगा । बहुत समय बीत जाने के बाद जब अलाउद्दीन को अपने उद्देश्य सफलता नही मिली तो उसने यह जाहिर किया कि दर्पण मे पद्मिनी के न करके मैं चित्तौड से लौट जाऊँगा ।" टाड कहते हैं कि इस दर्शन की वस्था की गई और सुल्तान को द्वार तक छोडने आये राणा को बन्दी बना या गया । और पद्मिनी को पाने की माँग फिर दोहरा दी गई । गौरा व दल की सहायता से पद्मिनी ने योजना बनाई, राणा को छुडा कर ले गई । न्तिम युद्ध हुआ राणा रतन सिंह आदि केसरिया बाना पहनकर मर मिटे । द्मिनी ने जौहर किया और चित्तौड पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया । ड फिर लिखते है कि—"भीषण युद्ध के बाद चित्तौड़ की सेना की पराजय ई, अगणित सख्या में उनके सैनिक व सरदार मारे गये और चित्तौड की शक्ति ा पूर्ण रूप से क्षय हुआ । युद्ध के कारण युद्ध का स्थल श्मशान बन गया । चारों र दूर तक मारे गये सैनिकों के शरीर से जमीन पटी पड़ी थी और रक्त बह हा था ।"(पृष्ठ 153) रतनसिंह का लड़का अरिसिंह चित्तौड छोडकर केलवाडा ला गया जो मेवाड से पश्चिमी भाग में अरावली पर बसा एक नगर है ।

'वीर विनोद' मे भी पद्मिनी की कथा थोडे परिवर्तन के साथ मिलती । इसके लेखक श्यामलाल राजपूतों की पराजय का कारण बताते हुए पृष्ठ 288 पर लिखते हैं कि—रावल रतन सिंह ने सामान की कमी के सबब लकडियो का एक बडा ढेर चुनकर राणी पद्मिनी और अपने जनानखाने की ुल स्त्रियो तथा राजपूतों की औरतो को लकडियो पर बिठा कर आग लगा ी । हजारो औरत व बच्चों के प्राण मे जल मरने से राजपूतों ने जोश मे आकर किले के दरवाजे खोल दिये और रावल रतन सिंह मय कई हजार राजपूतो के बड़ी बहादुरी के साथ लड़ कर मारा गया बादशाह ने नाराज होकर कर ल्ले आम का हुक्म दे दिया; छ महीने सात दिन तक लडाई रह कर 18 अगस्त 1303 ई को बादशाह ने किला फतह कर लिया ।"

इस प्रकार रतन सिंह के जीवन व शासन का अन्त हुआ । अब उसके समय की दूसरी घटना पद्मिनी की कहानी की ऐतिहासिकता को आँकें ।

पद्मिनी की कथा—मलिक मुहम्मद जायसी ने 1540 में 'पद्मिनी' नामक महाकाव्य लिखा। इस महा काव्य में पद्मिनी के जीवन की यह कथा लिखी है कि दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन खलजी उसे पाने के लिये ही चित्तौड़ गया था। जायसी की कथा का सार इस प्रकार है कि—पद्मिनी लंका की राजकुमारी थी। राणा रतन सिंह ने एक तोते से पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुनी और उससे विवाह करने के उद्देश्य से भिक्षुक के वेष में लंका गया। पद्मिनी को पाने के लिये वह लंका में बारह वर्ष तक ठहरा। अन्त में वह अपने प्रेम में सफल हुआ और पद्मिनी के साथ चित्तौड़ लौट आया। राघव नामक एक भिक्षु ने भिक्षा लेते समय पद्मिनी को देखा और उसका अपूर्व सौंदर्य देख कर मूर्छित हो गया। इसी राघव ने पद्मिनी की कहानी दिल्ली जाकर अला-उद्दीन को सुनाई। पद्मिनी के सौन्दर्य से प्रभावित होकर अलाउद्दीन ने रतनसिंह को एक संदेश भेजा कि पद्मिनी को शाही हरम में भेज दिया जाय। रतन सिंह को इस बात पर बहुत क्रोध आया और इस बात को लेकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। पूरे आठ वर्ष तक घेरा डाले रहने के बाद भी अलाउद्दीन किले को नहीं जीत सका। यह देख कर अलाउद्दीन ने अपनी माँग में रियायत कर दी और पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दर्पण में देख कर ही दिल्ली लौट जाने का वचन दिया। अद्वितीय सुन्दरी पद्मिनी का रूप दर्पण में एक नजर देखकर किले से लौटते हुए सुल्तान को राणा द्वार के बाहर तक छोड़ने आया। सुल्तान ने उसे किले के बाहर आते ही कपटपूर्ण व्यवहार से धोखा देकर बन्दी बना लिया और अपने साथ दिल्ली ले गया। चित्तौड़ के लोगों को यह समाचार भेज दिया गया कि पद्मिनी को शाही हरम में भेजने के बाद ही रतन सिंह को कैद से छोड़ा जायगा। रानी ने जब रतनसिंह को दी जा रही यातनाओं का वर्णन सुना तो दिल्ली जाने को आतुर हो उठी। तब गोरा और बादल ने कूटनीतिक परामर्श दिया और यह फैसला हुआ कि 1600 बन्द पालकियों में शस्त्रों से सुसज्जित राजपूत योद्धा बैठ जायेंगे। हर पालकी को आठ राजपूत सैनिक उठायेंगे। समाचार यह फैलाया गया कि पद्मिनी अपनी सखियों सहित शाही महल में जा रही है। दिल्ली पहुँचकर पद्मिनी ने सुल्तान से प्रार्थना की कि उसे एक बार राणा से मिलने दिया जाय। अपनी सफलता की खुशी में सुल्तान ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। कैद से बाहर आते ही रतनसिंह और पद्मिनी चित्तौड़ को रवाना हो गये। जब सुल्तान को राणा के भाग जाने की खबर मिली तो उसने पीछा करने का आदेश दिया। गोरा और बादल ने सुल्तान की सेना का वीरता से मुकाबला किया तब तक राणा चित्तौड़ पहुँचा। इस युद्ध में गोरा मारा गया। राणा ने पड़ोसी राजा ... की रियासत पर आक्रमण किया क्योंकि राणा की अनुपस्थिति में उसने रानी को ले भागने का प्रयत्न किया था। राणा ने देवपाल को मार डाला

किन्तु युद्ध में खुद भी घायल हो गया और थोड़े समय बाद मर गया। उसी समय अलाउद्दीन ने चित्तौड़ जीता पर पद्मिनी अपने पति के लिये सती हो गई थी।

जायसी के इस रोमांचकारी काव्य में क्या नहीं है? अथाह प्रेम, अनन्त साहस, रोंगटे खड़े कर देने वाला विवाद, प्रेमिका का विरह, प्रियतम के लिये मिट जाने की चाह आदि भावनाओं को इस प्रकार सजोया गया है कि पढ़ने ही कथा सच्ची लगने लगती है। फलस्वरूप सावन की घटाओं की तरह यह कथा भारत के भूमंडल पर छा गई। इसका असर बाद के इतिहासकारों पर भी पड़ा और सभी फारसी के लेखकों ने इस कथा को थोड़े हेरफेर के साथ सच मान लिया। फरिश्ता और हाजी उद्दबीर ने इसे मान्यता दी। यहाँ तक कि कर्नल टाड ने भी भाटों और चारणों से सुन कर इस कहानी को सच मानकर बड़े प्रभावशाली शब्दों में वर्णन कर दिया जायसी के दस वर्ष बाद फरिश्ता ने अपनी कृति में इस कथा को दोहराया है। उद्दबीर हाजी भी इसे दोहराते हैं पर निश्चित न होने के कारण न रत्नसिंह का नाम लेते हैं न पद्मिनी का। राजस्थान के चारण व भाट, राजपूतों का शौर्य बनाने के लिये इस कथा को बड़े गर्व और चाव से दोहराते हैं और समय के साथ यह उसी प्रकार सच लगने लगी है जैसे एक झूठ को, बार बार दोहराने से वह सच बन जाती है।

घटना बहुत रोचक और सच सी लगती है इसमें कोई झूठ नहीं और पुराने राजपूत लेखकों की इस मामले में चुप्पी एक शक पैदा करती है कि शायद ऐसा हुआ हो! अतः सम्पूर्ण पुराना साहित्य व इतिहासकार जायसी के साथ इस घटना को सच मानते हैं। संक्षेप में जायसी, फरिश्ता हाजी उद्दबीर, चारण व भाट तथा राजपूत ग्रन्थों की चुप्पी इस कथानक के पक्ष में गवाही देती है कि पद्मिनी के रूप पर मोहित अलाउद्दीन ने राणा को बन्दी बना कर उसे पाना चाहा था पर क्षत्राणी पहले तो पति को छुड़ा लाई फिर अग्नि में जलकर राख हो गई किन्तु अपने प्यार को लाञ्छन नहीं लगने दिया। आधुनिक इतिहासकारों में डॉ० दशरथ शर्मा और डॉ० किशोरी लाल इस बात का कड़ा समर्थन करते हैं कि यह कहानी नहीं ऐतिहासिक सत्य है। कर्नल टाड भी इसे मानते हैं। इस प्रकार आधी दर्जन से अधिक विद्वान् व चारण-भाट इसका समर्थन करते हैं। तीन मुसलमान, दो हिन्दू और एक अंग्रेज लेखक पद्मिनी की ऐतिहासिकता को मानते हैं। ये विद्वान् हैं—मलिक मुहम्मद जायसी, फरिश्ता, हाजी उद्दबीर, डॉ० दशरथ शर्मा, डॉ० लाल, कर्नल टाड और श्री सोमानी।

इतने पर भी इस कथा को ऐतिहासिक न मानकर आज भी इसे सत्यता की कसौटी पर कसा जा रहा है। इसे गलत मानने वाले विद्वानों में उल्लेखनीय श्री जगदीश सिंह गहलोत, श्री ओझा और डॉ० कानूनगो। चारणों व भाटों द्वारा सुनकर-जायसी इसे साहित्य व कल्पना का सुनहरा पुट देकर सत्य समान बनाने में सफल हुआ है। श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' पहला भाग में पृष्ठ 201 पर इस कथा को दोहराते हुए अन्त में कहते हैं कि—"परन्तु यह कथा चारण भाटों ने मलिक जायसी के बनाये 'पद्मावत' काव्य से ही ली है जो कल्पित है। यह युद्ध चित्तौड़ के किले और राज्य को लेने के लिये ही हुआ था।"

ओझाजी कहते हैं कि "ई० स० 1303 में उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और छः महीने तक लड़ने के बाद वह किला फतह कर अपने बेटे खिज़्रखाँ को दे दिया। इस लड़ाई में रावल रतनसिंह व उसके कई सरदार मारे गये और रतनसिंह की रानी पद्मिनी ने राजपूत रमणियों के साथ जौहर से अपने सतीत्व की रक्षा की।" ओझाजी जायसी के आठ वर्ष के घेरे को सिर्फ छः महीने का बताते हैं। वास्तव में न तो रतनसिंह का शासन काल इतना लम्बा था और न अलाउद्दीन के पास इतना समय था कि वह आठ साल तक पद्मिनी को पाने के लिये बुगले की तरह ताक लगाये बैठा रहता। उचित यही होगा कि हम विद्वानों के कथन को सत्य की कसौटी पर आँकें।

जायसी की जाँच—ऐतिहासिक शिला लेखों से प्राप्त सत्य और जायसी के कथन में कई स्थानों पर भिन्नता है जो कथा की सत्यता पर शंका उत्पन्न करती है यदि हम डॉ० दशरथ शर्मा, टाड, डॉ० लाल, सोमानी आदि के साथ जायसी के काव्य को ऐतिहासिक मान भी लें तो भी इन शंकाओं का समाधान नहीं होता—

1. रतन सिंह लंका में बारह वर्ष तक रहे और फिर चित्तौड़ लौट कर आये। जबकि रतन सिंह का कुल शासन काल एक वर्ष के आस पास माना जाता है जो युद्ध में बीता। अतः कवि सत्य है या दरीबा में मिला शिला लेख जो अलाउद्दीन के आक्रमण के चार दिन पहले लिखा गया था। स्पष्ट है कि काव्य में लंका का 12 वर्ष का निवास प्रेयसी को पाने के लिये कवि के मन की व्याकुल पुकार का प्रदर्शन मात्र है।

2. जायसी लिखता है कि रतन सिंह पद्मिनी को पाने लंका या सिंहल श्री सोमानी जी अन्यथा जायसी के समर्थक हैं, इस कथन को असत्य

बताते हैं। उनका कहना है कि "पद्मिनी को सिलोन की राजकुमारी मानना गलत है। मध्यकालीन कथाकारों में लका जाकर नायक के विवाह करने का विषय प्रिय रहा है। इसके साथ ताल मेल बिठाने को कई विद्वान सिंगोली को सीलोन मानते हैं। जो सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होता है। यह राजस्थान या मालवा के किसी भू-भाग की राजकुमारी रही होगी।" इस प्रकार जायसी की नायिका का घर ही गलत है।

3. नायिका के पिता का नाम भी फरक फरक दिया है। जायसी लका के शासक का नाम गोवर्धन बताता है, टाड महोदय उसका नाम हमीर सक कहते हैं, ओझाजी उसे प्रकरम बाहु चतुर्थ लिखते हैं, ('राजपूताने का इतिहास'—दूसरी जिल्द—पृष्ठ 461)। इन तीन अलग अलग नामों से स्पष्ट हो जाता है कि यह नाम काल्पनिक है।

4. जायसी ने अलाउद्दीन व रतन सिंह के युद्ध की अवधी आठ वर्ष बताई है जबकि सभी इतिहासकार यह तो मानते हैं कि युद्ध किसी भी दशा में आठ महिने से अधिक नहीं चला। श्री गहलोत के अनुसार युद्ध सात महीने तक चला। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'वीर भूमि चित्तौड़' के पृष्ठ 32 पर स्वयं यह मानते हैं कि "घेरा छै मास तक रहा था।" डा० लाल भी अपनी पुस्तक 'खिलजी वंश का इतिहास' के पृष्ठ 97-99 पर लिखते हैं कि अलाउद्दीन सोमवार 28 जनवरी, 1303 को दिल्ली से चला और सोमवार 26 अगस्त, 1303 को चित्तौड़ ने एक खुले युद्ध के बाद समर्पण कर दिया। स्पष्ट है कि युद्ध पूरा सात महीने भी नहीं चला। फारसी के इतिहासकार फरिश्ता, हाजी उद्दबीर, बरनी आदि सभी युद्ध का समय सात महीने के लगभग बताते हैं। वीर विनोद के पृष्ठ 288 पर लिखा है कि, "छै महीने सात दिन तक लड़ाई रहकर 18 अगस्त 1303 को बादशाह ने किला फतह कर लिया।" स्पष्ट है कि यहाँ भी जायसी की कल्पना अति को पार कर गई है।

5. जायसी राघव को एक भिखारी बताते हैं जो पद्मिनी का रूप देख कर मूर्छित हो गया था किन्तु फारसी के ग्रन्थों से प्रमाणित हो चुका है कि राघव भिखारी नहीं एक ऐतिहासिक महत्व का राजपूत सामन्त था जो पहले चित्तौड़ की सेवा में था फिर अलाउद्दीन के पास चला गया था। जैन प्रबन्धों (धार्मिक ग्रन्थों) से भी पता चलता है कि मोहम्मद तुगलक के समय में राघव को दिल्ली दरबार में बड़ा सम्मान प्राप्त था। जायसी का भिखारी राघव एक महत्वपूर्ण सामन्त था भिखारी नहीं। इसी एक सत्य से हम जायसी के कथानक

की कल्पना को फाड़ कर रही की टोकरी में डाल सकते हैं। जो लेखक मन के पूर्ण सामन्त को भिखारी और जादूगर बना दे उसकी बातों पर विश्वास कर अच्छा तो लगता है पर सत्य नहीं हो सकता।

6. अन्य लेखों व ग्रन्थो मे इस कथा का कहीं वर्णन नहीं मिलता। एक भी राजपूत लेख या शिलालेख ऐसा नहीं है जो इस कथन की पुष्टि करे। और फारसी के इतिहास कार इब्नबतूता, इसामी और बरनी भी इस कथा का कहीं वर्णन नहीं करते अतः यह सिर्फ जायसी के दिमाग की उपज मिलती है। किन्तु सोमानी जी इन दोनो तर्कों का खण्डन करते हैं कि राजपूत कवि परमपरागत स्त्रियो का वर्णन नही करते। हाडी करमेती जिसने चित्तौड़ के युद्ध मे वीर गति प्राप्त की थी तथा पन्नाधाय जिसने उदयपुर के राजा की रक्षा की थी तक का नाम भी नही मिलता। फारसी के इतिहासकारों ने चित्तौड का बहुत संक्षिप्त वर्णन किया है अतः उनमे रानियों के वर्णन की आशा करना व्यर्थ है। सोमानीजी कहते हैं कि "पद्मिनी कथानक मध्यकाल में सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे प्रचलित था अतएव उसे बिलकुल काल्पनिक नहीं कह सकते हैं। स्पष्ट है कि वे भी इसमें कल्पना या झूठ का पुट मानते हैं।

7 स्वय जायसी ने अपनी पुस्तक के अन्त मे स्पष्ट किया है कि कथा मे चित्तौड तो देह का, राजा रतन सिंह मस्तिष्क का, सिंघल द्वीप हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का और अलाउद्दीन माया का प्रतिरूप है। स्पष्ट है कि जायसी एक काल्पनिक प्रेम कथा लिख रहा था कोई ऐतिहासिक घटना नहीं। उसके निजी शब्द इस प्रकार हैं—

> 'तन, चित्त, उर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चिन्हा।
> नागमती यह दुनिया धन्धा। बाया सोई न एहिचित बाँधा॥
>
> राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।
> प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझ लेहू जो बूझै पारहु॥

स्वय कवि मानता है कि यह काल्पनिक प्रेम कथा है फिर उस पर इतना आवेश क्यो? कवि यदि रतन सिंह, पद्मिनी और अलाउद्दीन की जगह अन्य नाम रख देता तो आधुनिक शोधकर्ताओ के उत्साह पर घड़ों पानी गिर जाता। लेकिन डॉ० दशरथ शर्मा ने राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि यह कथा सत्य है। उन्होंने

डॉ० कानूनगो के सभी विरोधी तर्कों का खण्डन किया है। अब हम उन तर्कों को भी देखें जो जायसी के पद्मावत के कथानक का समर्थन करते हैं। डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि—

1. जायसी के महाकाव्य से 14 वर्ष पहले 'मीना चरित्र' में भी पद्मिनी की कहानी को लिपिबद्ध किया है। जायसी ने पद्मावत अलाउद्दीन की मृत्यु के 224 वर्ष बाद और चित्तौड़ के घेरे के 237 वर्ष बाद लिखा था अतः उस पर समय या किसी शासक का कोई प्रभाव नहीं मानना चाहिये।

2. अन्तिम चार पंक्तियों के बारे में डॉ० शर्मा का मत है कि ये पंक्तियाँ बाद में लिखी गई हैं क्योंकि डॉ० माता प्रसाद तथा वासुदेव शरण अग्रवाल ने पद्मावत की जिस पाण्डुलिपि को वैज्ञानिक ढंग से संपादित किया है उसमें ये पंक्तियाँ नहीं हैं।

इस प्रकार डॉ० दशरथ शर्मा ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जायसी का पद्मावत एक ऐतिहासिक रचना है।

डॉ० कानूनगो के तर्कों का खण्डन करते हुए सोमानीजी भी इस कथा को सच मानते हैं। उनका विश्वास है कि—"हमें मानना पड़ेगा कि पद्मिनी अवश्य चित्तौड़ में हुई थी। उसके महल आज भी यथावत् विद्यमान हैं। उसका उल्लेख समसामयिक ग्रन्थों में नहीं होने से इसे कल्पना नहीं मान सकते।"—'वीर भूमि चित्तौड़' पृष्ठ 41।

3. डॉ० शर्मा का कहना है कि इसामी, बरनी व निजामुद्दीन अहमद आदि ने इसका वर्णन नहीं किया। इसका यह मतलब नहीं कि यह कथा सच नहीं है। फारसी की तवारिखों में चित्तौड़ का वर्णन संक्षेप में ही किया गया है।

लेकिन अमीर खुसरो के लिये उनके पास क्या उत्तर है जो अलाउद्दीन के साथ था? यह कैसे कहा जा सकता है कि पद्मिनी की तरह की घटना यदि वह घटी, तो उसकी भी लेखनी से कैसे चूक गई?

4. डॉ० शर्मा रावत भिखारी को भी सत्य मानते हैं उनका कहना है इस भिखारी का वर्णन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में भी मिलता है। किन्तु कसौटी पर यह सही नहीं हो सकता क्योंकि अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ उसे महत्वपूर्ण सामन्त बताते हैं।

कहानी मे इतना सत्य है कि पद्मिनी राणा_ रतनसिंह की रानी
जो राणा के युद्ध मे मारे जाने पर अग्नि मे जल कर मर गई थी। राणा
पकडा जाना भी राजपूत मानते हैं। उसे नीति से छुडाया गया यह भी
ही है। किन्तु पद्मिनी का 1600 पालकियो में जाना, जिसे फरिश्ता
700 बताता है और उद्बीर 500 ही गिनता है। जायसी और फरि
कहते हैं कि राणा को बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया जब कि
उद्बीर का कहना है कि उसे चित्तौड के पास ही पहाडियों मे रखा गया।
सब कथा कि कल्पना के अग हैं। जायसी के आधार पर इतना बडा ऐति
सिक सत्य नही मानना चाहिये। अभी अनुसधान की और आवश्यकता है
वास्तविक सत्य को हमारे सामने रख सके।

अध्याय 8

राणा कुम्भा

1433-1468

राणा कुम्भा

प्रारम्भिक जीवन.—

कुम्भा महाराणा मोकल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सौभाग्य देवी था। कुम्भा के छः भाई थे और एक बहन लालबाई थी। यह बहन कुम्भा से बड़ी थी और मोकल की पहली सन्तान थी। कुम्भा के जन्म के बारे में यह प्रसिद्ध है कि द्वारका के योगी नन्दिकेश्वर की इच्छा राजा होने की हुई और वे सौभाग्य देवी के गर्भ से कुम्भा के रूप मे जन्मे। कीर्ति स्तम्भ में इस कथा का वर्णन आता है। कुम्भा को 'शृंगार विश्वम्भरो' भी कहा गया है अर्थात् वह शृंगारप्रिय था। कुम्भलगढ़ प्रशस्ति मे वह तीनों लोकों की रमणियों को मोहित करने वाला कहा गया है। संगीत राज में तो यहाँ तक लिखा है कि स्वप्न में भी किसी राज कन्या ने उसे देख लिया तो उसको वरण करने की जरूर इच्छा करेगी। स्पष्ट है कि कुम्भा सुन्दर व प्रभावशाली देहधारी था। कीर्ति स्तम्भ के श्लोक 165 में लिखा है कि "वह सभा मे धीरोदात्त, समरों में धीरशान्त मित्रो मे उदारधीर और कान्ताओ मे धीरललित था।" उसने कई राजकन्याओं को जबरदस्ती ब्याहा था। उसके कई रानियाँ थी जिनमे अजमेर, हमीरपुर और हाड़ाओं की लड़की विशेष उल्लेखनीय हैं। ख्यातो में कुम्भा के 1600 रानियाँ लिखीं हैं। राज रत्नाकर मे तो यहाँ तक कहा गया है कि वह प्रतिदिन महान सुन्दर कन्या से विवाह करता था। यह सब कल्पना है। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'राणा कुम्भा' के पृष्ठ 39 पर कहते हैं कि—"कुम्भा के महलों मे इतने अधिक कक्ष नहीं थे कि जिनमे 1600 रानियाँ अपनी सेविकाओं सहित रह सके।" अन्य मध्यकालीन राजाओं के तो हजारों की संख्या में रानियों की कल्पना की जाती थी आश्चर्य है कि कुम्भा के सिर्फ 1600 ही क्यों, 16000 का चिन्तन क्यों नहीं किया गया ? यह कहना भी सत्य नहीं है कि कई राज कन्याओं ने स्वयं उसे वर मान लिया था। इस समय स्वयंवर नहीं होते थे अतः इसकी भी संभावना नहीं हो सकती। कर्नल टाड ने तो मीरांबाई को भी कुम्भा की रानी बता दिया है जबकि वह राणा सांगा के पुत्र भोजराज की रानी थी।

कुम्भा के महल बड़े सादे थे। आश्चर्य इस बात का है कि कीर्ति-स्तम्भ का निर्माता कुम्भा अपने निवास के लिये साधारण महल ही बना सका।

कुम्भा के ग्यारह पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा लड़का उदयसिंह था। इसने अन्त में एक दिन जब कुम्भलमेर के किले में मामादेव के मन्दिर के पास एक कुण्ड पर बैठे थे तो उदयसिंह ने पीछे से आकर महाराणा का काम तमाम कर दिया। यह वर्णन वीर विनोद की पहली जिल्द के पृष्ठ 334 पर दिया गया है। महाराणा कुम्भा को अन्तिम दिनों में उन्माद रोग हो गया था। कुम्भा का जन्म 1460 वि० स० में हुआ और उसकी हत्या 50 वर्ष की अवस्था में माघ मास की दशमी को 1525 वि० स० में की गई थी। कुम्भा का राज्याभिषेक टाड महोदय के अनुसार 14'8 ई० में हुआ था। तब उसकी आयु केवल 15 वर्ष की थी। वास्तव में कुम्भा का राज्याभिषेक 1433 ई० में हुआ था।[1] उसने 35 वर्ष तक मेवाड़ पर राज्य किया। उसकी हत्या 1468 ई० में मेवाड़ में ही उसके बड़े लड़के ने की थी।[2]

इन 35 वर्ष के शासन काल में कुम्भा ने जो कार्य किये वे उल्लेखनीय हैं। गद्दी पर बैठते ही उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भाई का विरोध, चाचा चूडा का विरोध, पिता की हत्या का बदला, मुसलमान सुल्तानों के आक्रमणों से चित्तौड़ की रक्षा आदि ऐसे अनेक कार्य थे जो कुम्भा के युवक कन्धों पर आ बैठे। वास्तव में महाराणा हम्मीर के बाद कुम्भा ही ऐसा राणा था जिसके समय में मेवाड़ ने प्रगति की। कुम्भा के प्रारम्भिक वर्ष वास्तव में संघर्ष के रहे होंगे। वैसे तो उसे सारे जीवन भर संघर्ष करना पड़ा था। गद्दी पर बैठते ही चाचा का विरोध, फिर भाई का विरोध और अन्त में पुत्र का विरोध। ये आन्तरिक विरोध मेवाड़ के विकास में काफी बाधक रहे। अब हम मेवाड़ की आन्तरिक दशा का अध्ययन करें।

मेवाड़ की दशा—महाराणा कुम्भा मेवाड़ के सफल व योग्य राणाओं में से एक हैं। ये राणा हम्मीर के पाँचवे वंशज और राणा मोकल के बड़े लड़के थे। राणा हम्मीर जहाँ मेवाड़ के राज्य के संस्थापक व पराक्रमी वीर थे वहाँ कुम्भा की गिनती मेवाड़ की कीर्ति को चारों ओर फैलाने वालों में की जाती है। इनकी माता का नाम महारानी सौभाग्य देवी था जो मारवाड़ की राजकुमारी थी। कुम्भा के छः भाई और एक बहन थी।[3] जब कुम्भा की आयु सिर्फ 15 वर्ष की थी तभी उसके पिता राणा मोकल को कुम्भा के चाचा रावत चूडा ने मरवा दिया। चूडा स्वयं मेवाड़ का शासक बनना चाहता था किन्तु उसी समय कुम्भा का मामा राव रणमल सेना सहित चित्तौड़ आया और

---

[1] वीर विनोद पहला भाग पृष्ठ—317

[2] वही पहला भाग पृष्ठ—333.

[3] कुम्भा, खेमकरण, शिवा, सत्ता, नाथसिंह, वीरमदेव और राजधर बहन का नाम लालबाई था।

अपने मातजे कुम्भा का संरक्षक बन कर राज्य कार्य संभालने लगा। राव रणमल ने प्रतिज्ञा की थी कि वह चूंडा को वश सहित नष्ट करके चैन लेगा। इस प्रकार कुम्भा के राज्यारोहण के समय मेवाड़ आन्तरिक अशान्ति और गृह क्लेश में डूबा हुआ था। कुम्भा के सामने सबसे पहली समस्या यह थी की अपने पिता के हत्यारे से किस प्रकार बदला ले। अन्य दो भाइयों के सम्बन्ध भी कुम्भा के साथ अच्छे नहीं थे। विशेषतौर पर खेमकरण तो आस पास के क्षेत्र को जीत कर राजा बन गया था और कुम्भा ने उसे हराकर मालवा भगा दिया था। खेमकरण ने मांडू के सुल्तान से सहायता लेकर मेवाड़ पर आक्रमण किया और मेवाड़ की शक्ति व एकता को बड़ा धक्का पहुँचाया। खेमकरण या खेमा को मांडू के सुल्तान से जब सहायता नहीं मिली तो उसने गुजरात के सुल्तान मोहम्मद बेगड़ा को उकसाया और उसकी सहायता से मेवाड़ पर आक्रमण किया किन्तु कुम्भा की वीरता के कारण खेमा और गुजरात के सुल्तान को पराजित होकर भागना पड़ा। इतने पर भी खेमा को सन्तोष नहीं हुआ। उसने कुम्भा के युवराज उदयसिंह को भड़काना शुरू किया और अपने इस षडयंत्र में खेमा या खेमकरण सफल हुआ। श्री सोमानी अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के 46 पृष्ठ पर कहते हैं कि "उसने मेवाड़ के युवराज उदा (उदयसिंह) को भड़काना शुरू कर दिया और मौका पाकर महाराणा कुम्भा की हत्या कराने में सफलता प्राप्त करली।" राज्य के लिये भाइयों के संघर्ष की यह कहानी मेवाड़ के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार का संघर्ष राणा मोकल के समय भी चला और कुम्भा के पिता की हत्या भी उसके चाचा चूंडा ने राज्य के लिये ही की थी। चूंडा और कुम्भा के सम्बन्ध हम अलग से देखेंगे किन्तु यहाँ इतना कहना उचित है कि कुम्भा का सिंहासन फूलों की सेज न होकर कांटों का ताज था। उसका चाचा चूंडा और उसका भाई खेमा उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। कुम्भा को इन दोनों आन्तरिक विरोधियों से बचा कर मेवाड़ का विकास करना था और समकालीन मुसलमानों से भी निपटना था। मेवाड़ आन्तरिक फूट और शत्रुता के विनाशकारी बादलों से घिरा था जब कि कुम्भा ने उसे सब प्रहारों से बचाकर कीर्तिवान बनाया यही कारण है कि कुम्भा की तुलना मेवाड़ के लेखक कृष्ण से करते हैं।[1]

इतिहासकार टाड का कहना है कि राजा मोकल के मरने के बाद मेवाड़ राज्य की परिस्थितियाँ एक साथ बिगड़ गई थीं। पिता के अचानक मारे जाने पर कुम्भा ने मारवाड़ के राजा से सहायता माँगी। "कुम्भा अपनी छोटी अवस्था में ही शूरवीर और प्रतापी था। राज्य में अनेक कमजोरियाँ रहते हुए भी उसने बड़े साहस से काम लिया। विरोधी परिस्थितियों को उसने

[1] एकलिंग माहात्म्य के राजवंश वर्णन का श्लोक 91.

कुछ परवाह न की और बडी योग्यता के साथ उसने चित्तौड की शक्तियों का संगठन किया। थोडे ही दिनों के भीतर मेवाड की निर्बल शक्तियाँ शक्तिशाली बन गई। जो विरोधी राज्य चित्तौड को खा जाने के लिए तैयार थे, वे सब राणा कुम्भा को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।"[1]

चूण्डा और कुम्भा—कुम्भा के पिता मोकल को उसके चाचा और मेरा ने मिल कर बागौर के पास मारा था। चूण्डा जो कुम्भा का ताऊ था ने अपने आपको मेवाड का राणा भी घोषित कर दिया था और कुछ सरदार भी उसके साथ मिल गये थे। कुम्भा ने अपने मामा रणमल से सहायता मांगी। रणमल ने रात्रि के भयानक आक्रमण में चित्तौड जीत लिया और चूण्डा व उसके साथी पहाडों मे भाग गये। यहाँ यह कहना उचित होगा कि श्री रेऊ द्वारा लिखित मारवाड के इतिहास मे इस बात पर जोर दिया गया है कि चूण्डा ने राज्य प्राप्ति के लिए मोकल को मरवाया था और वीर-विनोद मे भी इस विचारधारा का समर्थन किया गया है[2] किन्तु श्री सोमानी इसे सत्य नही मानते। उनका विचार है कि—"चूण्डा के साथ महाराणा कुम्भा के सम्बन्ध बहुत ही अच्छे रहे थे। महाराणा सदैव उसकी बडी इज्जत करता था अत एव रेऊ की आलोचना मे हमे अधिक बल दिखाई नहीं देता है।"[3]

श्री गहलोत भी इस बात को मानते हैं कि कुम्भा के पिता को मारने वाला उसका चाचा और मेरा ही थे। उनका कहना है कि कुम्भा के मामा "रणमल ने भीलो के मुखिया को नीति से अपनी तरफ मिलाकर चाचा और मेरा को मरवा डाला।"[4] इसी कथन का समर्थन टाड व ओझा भी करते हैं, केवल श्री सोमानी इस कथा को सच नहीं मानते। वीर विनोद में इस घटना का वर्णन बड़े रोमांचकारी ढंग से किया गया है। रणमल ने पई के पहाडों में छिपे चाचा और उसके साथियों को मारने के लिए गमेनी नामक भील की विधवा और पांच पुत्रो की सहायता ली। चाचा और उसका साथी मेरा इस प्रकार रणमल के हाथों मारे गये। उस समय चूण्डा मालवा के सुल्तान के पास था।

मुसलमानों से सम्बन्ध—राणाकुम्भा से सौ साल पहले 1303 में अलाउद्दीन खिलजी ने मेवाड पर आक्रमण कर चित्तौड को जीत कर अपने राज्य मे मिला लिया था। उसने अपने लड़के खिज्र खाँ को चित्तौड का शासक

बैना दिया था। खिज्र खाँ ने 1313 तक चित्तौड़ पर राज्य किया फिर 1316 में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद राणा हम्मीर ने निरंतर आक्रमण कर 1340 ई० में चित्तौड़ वापस जीत लिया था। इस समय से लगा कर कुम्भा के गद्दी पर बैठने तक के समय के बीच में मुसलमानों ने चित्तौड़ को जीतने के अनेक प्रयास किये। गोरी के समय से लगाकर कुम्भा के समय तक के दो सौ पचीस वर्ष के समय में मेवाड़ भूमि ने अनेकों आक्रमणों का सामना किया था। राणा हम्मीर के समय में 1340 के आगे राणा राज्य विस्तार की बात सोचने लगे। अलाउद्दीन के बाद विजयनगर, गोलकुण्डा, मालवा, गुजरात, जौनपुर और कालपी जैसे अनेक राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। राणा हम्मीर के समय दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया किन्तु उसे पराजित होना पड़ा। ओझाजी का ऐसा विचार है जबकि विदेशी लेखक बाउन यह मानते हैं कि—"मुहम्मद तुगलक ने राजपूताने के मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई।"

फीरोज तुगलक के समय मेवाड़ एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। तभी तैमूर ने 1398 ई० में भारत पर भीषण आक्रमण किया और दिल्ली के सुल्तानों की रही सही इज्जत को मट्टी में मिला दिया। उसके सेनापतियों ने दिल्ली में नये सैय्यद वंश की नींव डाली जिसे देश के अन्य प्रान्तों के मुसलमान शासक अपना सुल्तान मानने को तैयार नहीं थे। यह वंश 1451 तक चलता रहा। निर्बल सैय्यदों के समय में मेवाड़ का राणा कुम्भा था। सन् 1451 से आगे 1526 तक दिल्ली में लोदी वंश का राज्य रहा। ये भी निकम्मे और अयोग्य शासक ही थे। अतः दिल्ली की डाँवाडोल परिस्थिति ने कुम्भा को राज्य विस्तार का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। उसका शासनकाल, 1433 से 1468 तक का समय, मेवाड़ के राज्य विस्तार व संगठन का काल बन गया।

माना कि दिल्ली के सुल्तान निर्बल थे किन्तु मेवाड़ के पास के दो मुसलमान शासक कुम्भा के कट्टर शत्रु थे। मालवा या माँडू और गुजरात के नवाब मेवाड़ की प्रगति नहीं देख सके। साथ ही उसके भाई ऊदा और चाचा चूण्डा ने इन मुसलमान राज्यों में शरण लेकर मेवाड़ और मालवा व गुजरात के सम्बन्धों को खराब कर दिया। कुम्भा अभी अपनी आन्तरिक दशा को ठीक भी नहीं कर पाया था कि गुजरात और माँडू (मालवा) के नवाबों ने 1440 ई० में मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। इन आक्रमणों का हम अलग से वर्णन करेंगे किन्तु यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि दिल्ली की शक्ति क्षीण होते हुए भी मेवाड़ को तंग करने के लिए पड़ौसी मुसलमान राज्य सदा तत्पर रहते थे और कुम्भा के समय उन्हें करारी मात खानी पड़ी। इतना

स्पष्ट है कि कुम्भा ने अपने सभी प्रतिद्वन्दियो को पराजित कर मेवाड की सेना को महान् बना दिया था। दिल्ली के सुल्तान मेवाड विजय का स्वप्न त्याग चुके थे और पडौसी मुसलमान राजा (मालवा का नवाब मोहम्मद खिलजी) मेवाड की जेलो का पानी पीकर राजपूतों की वीरता के गीत गाने लगा था। कुम्भा ने अपने समकालीन मुसलमान शासको पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

उपाधियाँ—भारत के हिन्दू शासक अपने आपको अनेक उपाधियों से अलकृत करते रहे हैं। अशोक को लोग देवनाम्प्रिय व प्रियदर्शी सम्राट के नाम से पुकारते थे। राजा, महाराजा, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती सम्राट आदि अनेक उपाधियो का हिन्दू राजा प्रयोग करते थे। कुम्भा भी एक सफल व प्रभावशाली शासक था। स्वय कुम्भा ने एक ग्रन्थ लिखा था जिसका नाम 'रसिक प्रिया' था जो जयदेव के गीत गोविन्द की टीका के रूप मे लिखा गया था। इसके अतिरिक्त कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति के श्लोक 232 मे कुम्भा की उपाधियो का सविस्तार में वर्णन मिलता है। कीर्तिस्तभ के 148 वें श्लोक मे भी कुम्भा की उपाधियो का वर्णन मिलता है। इस प्रकार उसकी उपाधियों का वर्णन तीन साधनो मे मिलता है।

1. रसिक प्रिया—इस ग्रन्थ मे कुम्भा द्वारा धारण की गई उपाधियाँ 'नरपति', 'छापगुरु', 'अश्वपति' और 'गैनपति' आदि हैं, जिनसे पता चलता है कि कुम्भा छापामार युद्ध नीति मे प्रवीण था तथा एक शक्तिशाली विजेता और कुशल शासक था।

2. कीर्ति स्तम्भ—चित्तौड में 1460 मे बनवाये इस स्तम्भ पर कुम्भा की कुछ और उपाधियो का पता चलता है। इस स्तम्भ के 148 वें श्लोक मे कुम्भा को 'राजगुरु', 'दीनगुरु', 'हालगुरु' और 'परमगुरु' की उपाधियो से सुशोभित किया गया है। अर्थात वह महान् दानी था, कई पहाड़ी दुर्गों का स्वामी था, और अपने शासन काल का सबसे अच्छा शासक था।

3. कुम्भलगढ़ प्रशस्ति—1460 मे कुम्भलगढ़ के अन्दर मामादेव के मन्दिर कुम्भा ने अपने राज्य का वर्णन पाँच बड़ी बड़ी चट्टानो पर खुदवाया था। जिनमे से दो नष्ट हो गई है और शेष तीन से काफी जानकारी कुम्भा के बारे मे मिलती है। इन लेखो मे 232 श्लोक में कुम्भा की उपाधियो का वर्णन है जिनमे उसे 'महाराजाधिराज', 'रायरायन', 'रणरासो', और 'महाराणा' कहकर पुकारा गया है। अर्थात वह राजाओ मे महान् साहित्यकारों को आश्रय देने वाला पराक्रमी महाराणा था।

इन उपाधियो से स्पष्ट होता कि कुम्भा के जीवन मे ऐसे अनेक

वसर आये थे जब उसने अपने आपको नई नई उपाधियों मे सुशोभित किया था। उसकी ये उपाधियाँ उसके बढ़ते वैभव और सफलताओं का प्रतीक हैं। ... उतनी अन्य राजाओ ने नही की।

रणमल और कुम्भा—राणा मोकल की हत्या का समाचार सुनकर जोधपुर (मंडोवर) का राव रणमल राठौर अपने भानजे कुम्भा की सहायता के लिए चित्तौड़ आया। रणमल ने अपने बहनोई के हत्यारो को मारने की प्रतिज्ञा की थी। वह उन्हें मारने मे सफल हुआ। कुम्भा अभी नाबालिग था इसलिए राज्य का सारा काम रणमल के हाथ में आ गया। रणमल का बढता हुआ प्रभाव स्वाभाविक रूप से चित्तौड के दूसरे सरदारों को अखरता था। छोटी एक छोटी मोटी बातों को लेकर रणमल और कुम्भा के दूसरे चाचा राघवदेव में शत्रुता बढ़ने लगी। यह शत्रुता चूण्डा और मेवा को मारने के बाद रणमल उनके साथियों की स्त्रियों को देलवाडा ले गया और उन्हें राठौरों के घर में डाल देने का आदेश दिया। राघवदेव को यह व्यवहार बुरा लगा और वह इन औरतों को अपने साथ चित्तौड़ ले आया। यही से रणमल राघवदेव का शत्रु बन गया।

सोमानी जी कहते हैं कि—"राव रणमल को मारवाड की रेतीली भूमि की तुलना में मेवाड़ की शस्य श्यामला भूमि अच्छी दिखाई दी। उसकी ललचाई आँखें वहाँ राठौड राज्य के सस्थापन की कल्पना कर रही थी।"* राजदादी हँसाबाई जो जोधपुर की थी अभी जिन्दा थी। उसके सरक्षण मे रणमल ने प्रमुख पदों पर राठौरों की नियुक्ति कर दी। भाटी शत्रुशाल को चित्तौड का किलेदार बनाया गया। यह बात सभी सरदारों को खटकती थी किन्तु रणमल कुम्भा को सदा यह समझाता रहता था कि राघवदेव भी विद्रोही है। अन्त मे उसने एक दिन 'सिरोपाव' नामक वस्त्र (अगरखा) कुम्भा की तरफ से दरबार में राघवदेव को भेंट करवाया। इस कुडते की दोनो बाहें अन्दर से सिली हुई थी और जब राघवदेव ने इसे पहनने को अपने हाथ उसमे डाले तो रणमल के दो आदमियों ने कटार से उसे मार डाला। नैणसी ने अपनी ख्यात के भाग एक, पृष्ठ 30 पर लिखा है कि—"सिसोदिया राघवदेव राणा कुम्भा की धरती से बिगाड़ करता था। इसलिए राणा ने उसे मारने की सोची।" सकेतानुसार एक बाह राणा कुम्भा ने और दूसरी बाँह रणमल ने पकड़ ली और दोनो बगलों मे कटार घुसेड़ दी। राघवदेव ने खुले रूप मे रणमल का विरोध किया था जिस कारण उसकी हत्या कर दी गई। स्पष्ट है कि रणमल मेवाड़ के सूर्य पर छा रहा था।

* सोमानी—राणा कुम्भा—पृष्ठ 69.

राघवदेव की मृत्यु के बाद रणमल का प्रभाव शासन पर बढ़ गया। सिसोदिया चित्तौड़ के सरदार उन पर शक करने लगे थे। सिसोदिये ... लगे। अब इन सिसोदियों का शक भी राघवदेव की मृत्यु का ... चाहता था और राठौड़ों को मेवाड़ में निवास देना चाहता था। उस समय महपा पवार भाग कर चित्तौड़ आ गया था। इसे कुम्भा ने शरण दी था। ये सभी लोग राणा को समझाने लगे कि, "राठौड़ों का विश्वास नहीं है और चाची सिसोदियों के हाथ से गई और राठौड़ों ने ली।"

वीर विनोद के पहले भाग में पृष्ठ 320-21 पर रणमल के शासन का अन्त करने के प्रयत्नों का वर्णन किया है। कुम्भा को भी अनुभव हुआ कि रणमल उसके आदेशों का पालन नहीं करता। कुम्भा को रणमल के द्रोह की सूचना राजमहल की एक दासी भारमली ने दी। रणमल भारमली से प्रेम करता था और वह प्रतिदिन काम से निवृत्त कर रणमल के महल में अपनी रातें बिताती थी। इसी भारमली ने रणमल को एक रात अधिक शराब पिलाकर पगड़ी से चारपाई पर बांध दिया। उसी समय महपा पवार और अन्य सरदारों ने उस पर आक्रमण किया। नैणसी कहता है कि रणमल 16 आक्रमणकारियों को मार कर मारा गया। टाड ने वीर विनोद में कहा गया है कि सिर्फ तीन व्यक्तियों को मार कर रणमल मारा गया। साधारणतः रणमल पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह राणा को हटाना चाहता था किन्तु यह सत्य नहीं है। यदि रणमल को राज्य लेना होता तो जब कुम्भा बालक था तभी वह उसे मार सकता था। इसलिये रणमल पर लगाये गये आरोप मिथ्या हैं। उसे मरवा कर कुम्भा ने बड़ी भूल की। रणमल की हत्या से मेवाड़ और मारवाड़ के बीच युद्ध शुरू हो गये। रणमल का पुत्र और उत्तराधिकारी जोधा बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचा कर मेवाड़ से भाग आया। रणमल की हत्या से पड़ोसी राजपूत राज्यों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। मेवाड़ और मारवाड़ अगले 75 वर्ष तक आपस में लड़ते रहे। परिस्थितियां चाहें जैसी रही हों, सम्भव है रणमल अहंकारी और स्वार्थी भी हो गया हो लेकिन यह मानने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये कि रणमल ने कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइयों को समाप्त कर उसे मेवाड़ का राणा बना दिया। उसी के मार्ग दर्शन में कुम्भा मेवाड़ की शासन व्यवस्था को सुदृढ़ बना सका। रणमल पर इसलिए शक किया जाता है कि उसने अपने पुत्र जोधा को चित्तौड़ की तलहटी में ही रक्खा था और कुम्भा के कहने पर भी चित्तौड़ दुर्ग में नहीं बुलाया। सोमानी जी की राय में तो—"रणमल की मृत्यु राघवदेव की मृत्यु का बदला मात्र प्रतीत होती है।"‡

रणमल दोषी था या नहीं किन्तु उसकी मृत्यु ने राठोड़ों और सिसो-

‡ सोमानी—राणा कुम्भा—पृष्ठ 95.

राठौडों के दीर्घकाल से चले आ रहे अच्छे सम्बन्धो को समाप्त कर दिया। राठौडों को जोधपुर पर अधिकार करने मे अगले 15-16 वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा। रणमल की मृत्यु होते ही एक डोम ने तलहटी मे रहने वाले रणमल के पुत्र जोधा को संकेत किया कि रणमल तो मारा गया, जोधा भाग सके तो भाग।

सच तो यह है कि अनेको षडयन्त्र करने के बाद जब चूण्डा वापस मेवाड आया तो उसका चित्तौड मे रहना रणमल को अच्छा नहीं लगता था। रणमल को यह भय था कि चूण्डा अब कोई नया षडयन्त्र रचेगा। उसी के विरोध मे उसने अपने लड़के जोधा को चित्तौड की तलहटी मे भेज दिया था। जब कुम्भा ने रणमल की इच्छा के विरुद्ध चूण्डा को वापस मेवाड मे रहने की स्वीकृति प्रदान कर दी तो रणमल विरोधी हो गया था और अपना प्रभाव बढ़ाने लगा था। चूण्डा को वापस घर मे रख कर कुम्भा ने दूसरी भूल की जो रणमल के लिए ही नहीं वरन् आगे चल कर उसके खुद के लिए घातक सिद्ध हुई और उसी के भड़काने पर ऊदा ने कुम्भा की हत्या कर दी।

रणमल के पुत्र जोधा का मेवाडी सेना ने पीछा किया और इसी युद्ध मे जोधपुर पर भी मेवाड का अधिकार हो गया जो अगले 15-16 वर्ष तक रहा। चूण्डा ने अपने पुत्र कुन्तल, मानजा सूवा और भाला आदि को जोधपुर पर राज्य करने को छोड़ दिया और स्वयं चित्तौड लौट आया।*

वीर विनोद मे जोधपुर पर पुन जोधा और राठोडो को अधिकार दिलाने वाली राणा मोकल की माँ और कुम्भा की दादी थी। जो रणमल की बहन भी थी। इन्हीं के आग्रह करने पर कुम्भा ने अपनी शक्ति को जोधपुर से हटा लिया और दादी माँ से कहा कि वे जोधा को लिख भेजें कि वह जोधपुर पर अधिकार कर ले।* कुम्भा को इस उदारता से मेवाड और मारवाड के बिगड़े सम्बन्ध फिर से ठीक होने लगे। किन्तु कठिनाइयो मे उठाकर कुम्भा को मेवाड का राणा बनाने वाला मामा रणमल तो सिसोदिया की आपसी फूट का शिकार बन गया।

कुम्भा की विजय

महाराणा कुम्भा ने साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण किया। उसने अपने शासनकाल के प्रथम 20 वर्ष युद्ध और राज्य विस्तार मे व्यतीत किये।

---

* गहलोत—राजपूताने का इतिहास—पृष्ठ 210.

* वीर विनोद—भाग एक—पृष्ठ 323-324

उसने अपनी विजय का वर्णन कुम्भलगढ़ के शिलालेखों, ... मेल व चित्तौड़ दुर्ग के कीर्ति स्तम्भ पर खुदवा दिया था। उसने सम्पूर्ण राजस्थान पर अधिकार कर लिया था। कुम्भा के राज्य ... के समय मेवाड़ का केन्द्रीय भाग मात्र था। उसके ... उसके शत्रु थे। इसके पहले उसने आन्तरिक विद्रोहों का दमन किया ... सारे राजस्थान पर अपना अधिकार स्थापित किया। मेवाड़ का ... सागर था जिसके पास इतना बड़ा राज्य था। इसके राज्य की सीमायें तो दक्षिण में आबू व नागौर से उत्तर में पहोरी, ... आमेर, चाटसू आदि से पश्चिम में बयाना व रणथम्भोर तक ... वास्तव में उसका राज्य एक विस्तृत साम्राज्य था।

कुम्भा ने जहाँ मांडू (मालवा) गुजरात, मेवात और दिल्ली के मुसलमान शासकों को पराजय किया वहाँ उसने राजस्थान के अनेक हिन्दू राजाओं को भी पराजित किया था। "एकलिंग प्रशस्ति के दस वर्णन के श्लोक संख्या 54 में दिल्ली से लेकर पश्चिमी समुद्र तक के राजा का कुम्भा की सेवा करना वर्णित है। वस्तुतः उत्तरी भारत का उन समय सबसे बड़ा प्रतिभासम्पन्न हिन्दू राजा था।"[1]

कुम्भा ने मालवा, गुजरात के अतिरिक्त सिर्फ राजस्थान में ही महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी जिनका सविस्तार वर्णन तो यहाँ सम्भव न किन्तु संक्षिप्त रूप से टिप्पणी किये बिना भी उसके व्यक्तित्व के साथ न नहीं हो सकेगा। कुम्भा की राजस्थान विजय इस प्रकार हैं—

1 हाड़ौती विजय—बूंदी के राजा हाड़ा थे। कुम्भा के समकालीन महाराणा बैरीशाल और भाण थे। ये हाड़ौती राजा दीर्घकाल से मेवाड़ के अधीन थे किन्तु मोकल के अन्तिम दिनों में ये स्वतंत्र हो गये थे। इतना ही नहीं इन्होंने मांडलगढ़ और जहाज़पुर के आस-पास का भू-भाग जीतकर अपने अधीन कर लिया था। मालवा के सुल्तान ने जब मेवाड़ पर आक्रमण किया था तब ये हाड़ौती सुल्तान की तरफ से लड़े थे। मांडलगढ़ और जहाज़पुर मेवाड़ के पूर्वी भाग हैं और सीमावर्ती के दुर्ग हैं इनकी रक्षा आवश्यक थी अतः हाड़ाओं को इन दोनों स्थानों से दूर भगाने के लिये बूंदी विजय आवश्यक हो गई। इसके अतिरिक्त बूंदी के राजा भाण का भाई सांडा कोटा का राजा था जो भाण की इच्छा के विरुद्ध राणा सांगा की मुसलमानों के आक्रमण के समय छुप छुप कर मदद करता था अतः भाण ने मालवा के सुल्तान से कहा कि सांडा को हटाकर कोटा का राज्य भी उसे दिला दिया जाए।

[1]सोमाणी—राणा कुम्भा—पृष्ठ 104

कोटा के बदले में माण ने सुल्तान को एक लाख बीस हजार टंका कर के रूप मे देना स्वीकार किया। सॉडा ने अपनी रक्षा के लिये कुम्भा की सहायता माँगी। पूर्वी सीमा की रक्षा हेतु, मालवा के सुल्तान की सहायता करने के कारण बूंदी को पुन. मेवाड़ के अधीन करने के लिये और साडा की सहायता करने के उद्देश्य से इन चार कारणो से कुम्भा ने बूंदी पर कई आक्रमण किये और उसे जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया।

बूंदी से 12 मील दूर खटकड गाँव मे कुम्भा ने माण को पराजित किया। शिला लेखों मे बैरीशाल के पुत्र अर्सराज का कुम्भा के अधीन होना लिखा गया है। कुम्भा की यह नीति थी कि वह हिन्दू राजाओ को मुसलमानो की अधीनता व गुलामी करने से रोकता था। उसने खटकड बूंदी, जहाजपुर आदि स्थानो को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार मांडलगढ, बिजोलिया, अमरगढ़, जहाजपुर आदि मेवाड के पूर्वी पठार सदा के लिये मेवाड राज्य के अग बन गये।

2.-गागरोण विजय—मेवाड़ के दक्षिण पूर्व मे गागरोण का किला था। राणा मोकल के समय मे सन् 1443 मे मालवा के सुल्तान ने इस किले को जीत लिया था। इस आक्रमण मे बूंदी के राजा माण ने सुल्तान की सहायता की थी। अत: कुम्भा के लिये यह आवश्यक था कि गागरोण को भी वापस जीतता। मालवा के सुल्तान ने गागरोण को जीतकर गजनी खाँ को वहाँ का सूबेदार बना दिया था। कुम्भा ने 1494 वि० स० मे बडी सरलता से गागरोण को जीत लिया। किन्तु वह अधिक समय तक इसे अपने अधीन नहीं रख सका। सिर्फ छ. वर्ष बाद ही मालवा के सुल्तान ने उसे वापस जीत लिया। इस युद्ध मे कुम्भा का योग्य सेनापति दाहिर मारा गया और उसके बाद कुम्भा ने गागरोण को वापस जीतने की चेष्टा नही की। यह प्रदेश सिर्फ छ. वर्ष तक मेवाड का भाग रहा फिर वापस मालवा मे मिल गया।

3. नागौर विजय—यह रियासत राजस्थान के उत्तर पूर्वी भाग मे है जिस पर राणा मोकल का अधिकार था किन्तु मुसलमानो ने मोकल के अन्तिम दिनों मे इस प्रदेश को जीत लिया था। उस समय नागौर की गद्दी पर फीरोज खाँ बैठा था। फीरोज खाँ की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का शम्सखाँ नागौर की गद्दी पर बैठा। लेकिन वह अयोग्य था इसलिये इसका छोटा भाई मुजाहिद खाँ उसे गद्दी से हटाकर खुद गद्दी पर बैठ गया। शम्सखाँ सहायता के लिये गुजरात के सुल्तान के पास गया तो मुजाहिद खाँ ने राणा कुम्भा से सहायता माँगी। राणा कुम्भा तो अवसर की तलाश में था ही। उसने मुजाहिद खाँ की सहायता करना इसलिये स्वीकार कर लिया कि इस बहाने उसे नागौर के मामले में हस्तक्षेप करने का मौका मिल जायगा।

कुछ इतिहासकारो का मत है कि रणमल ने भी नागौर को घेरा था और नागौर का शासक फीरोज व उसका भाई रणमल के हाथो मारे गये किन्तु इसमें सचाई का अभाव है। वास्तव मे कुम्भा की सेना मे ही रणमल की सेना भी सम्मिलित थी। सम्भवतः कुम्भा चित्तौड मे अजमेर, मेडता होता हुआ नागौर पहुँचा था।

नागौर पर कुम्भा ने चार बार चढ़ाई की थी। प्रथम विजय सन् 1437 मे हुई जिसका वर्णन फारसी के इतिहासकार नही करते। इसी आक्रमण में रणमल भी नागौर गया था। दूसरा व तीसरा आक्रमण सन् 1456 व 1457 ई० मे हुआ था। फीरोज के मरने पर उसके लडको मे उत्तराधिकार युद्ध हुआ तो पहले बडा लडका शम्सखाँ जिसे इसके छोटे भाई मुजाहिद खाँ ने गद्दी से उतार दिया था राणा के पास मदद के लिये आया। राणा ने इस शर्त पर शम्सखाँ को वापस मेडता की गद्दी पर बिठाया कि वह नागौर की किले बन्दी भग कर देगा। और राणा को वार्षिक कर देता रहेगा। राणा के जाते ही मुजाहिद खाँ ने गद्दी वापस सौप दी किन्तु शम्सखाँ ने अपने किले की एक भी बुर्ज नही तोडी। अत राणा ने फिर आक्रमण किया और शम्सखाँ को पराजित कर उसके छोटे भाई मुजाहिद खाँ को गद्दी पर बिठा दिया। सोते समय राणा ने खाटू, डीडवाणा, सीकर और खडेला को भी जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार नागौर विजय के आधार पर उसने उत्तर पूर्वी राजस्थान के सभी महत्वपूर्ण प्रदेश जीत लिये। नागौर का चौथा आक्रमण सन् 1458 ई० मे हुआ। इस आक्रमण मे नागौर की सेना को राणा ने बुरी तरह हराया, सम्पूर्ण कृषि और नागरिको को विनष्ट कर दिया। खाई को भर दिया, किले को नष्ट कर दिया और गुजरात के राजा का तिरस्कार करते हुए दुष्ट-यवनो को दंडित किया। इतिहासकार फरिश्ता भी इस बात को मानता है कि राणा कुम्भा ने नागौर की सेना को बुरी तरह हराया और नागौर को अपने राज्य मे मिला लिया।

4. सिरोही विजय—मोकल के समय सिरोही के राजा मेवाड के विरोधी हो गये थे। सिरोही का राजा सहस मल्ल बडा प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। उसने वर्तमान सिरोही नगर की स्थापना की। मेवाड और नागौर के राजाओं के आपसी युद्धो से लाभ उठाकर उसने पिण्डवाडा से लगते हुए कई गांव छीन लिये जो कोटडी तहसील के गाँव होगे। राणा ने सिरोही पर सन् 1437 ई० मे आक्रमण किया और सिरोही राज्य का पूर्वी भाग जीत कर अपने अधीन कर लिया जिससे गुजरात के विरुद्ध सीमा सुरक्षा सुदृढ हो गयी। सिरोही राज्य की ख्यातों के अनुसार कुम्भा ने आबू को धोखे से जीता था।
वीरविनोद के अनुसार महाराणा ने नरुभाण के बेटे डोडिया नरसिंह को सेना

कर भेजा था।[1] कीर्ति स्तम्भ के अनुसार 'कुम्भा ने शीघ्रगामी घोड़ों को जकर किले को अपने अधिकार मे कर लिया। आबू विजय का बड़ा महत्व । सिरोही के राजा सहसमल ने इसे वापस पाने के अनेक प्रयत्न किये और जरात के सुल्तान से भी सहायता मांगी किन्तु वह आबू और पूर्वी सिरोही ज्य को वापस नहीं ले सका।

5. मेरों का दमन—बदनोर के आसपास मेरो की बड़ी बस्ती थी। लोग महाराणा लाखा के समय से मेवाड़ के अधीन थे। कुम्भा के राज्य ाल में इन लोगों ने विद्रोह खड़ा कर दिया और स्वतन्त्र हो गये। कुम्भा ने न्हें दबाने के लिये राव सुरत्राण को भेजा जो पुर का जागीरदार था। मेरों ा नेता एक मुसलमान सरदार मुनीर था। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि नीर गुजरात के सुल्तान का एक सेनापति था जिसे डूँगरपुर आदि प्रदेश टने को व विद्रोह भड़काने को मेवाड़ में भेजा गया था। किन्तु मेरों का नेता नीर और गुजरात का सेनापति मुनीर कदाचित अलग अलग आदमी थे। म्भलगढ़ प्रशस्ति में इसका वर्णन है कि सुरत्राण ने मुनीर के विद्रोह का ठोरता से दमन कर दिया।

6. मंडोवर और सोजत विजय—रणमल की मृत्यु, के बाद उसका ड़का जोधा जान बचाकर मारवाड़ मे भाग गया। चूँडा ने उनका पीछा या। वह रणमल से चाचा, मेरा और राघवदेव की मृत्यु का बदला लेना ाहता था। उसने चित्तौड़ के समीप ही भागते हुए राठौड़ों पर आक्रमण कर या। इस युद्ध मे अनेक महत्वपूर्ण राठौड मारे गये। मांडल के पास दोनो लों में फिर युद्ध हुआ और राठौड मारवाड़ में भाग गये। चूँडा बराबर पीछा रता रहा और अर्वली के पास युद्ध में जोधा पूर्ण रूप से हार कर भाग गया। ूँडा ने मडोवर (जोधपुर) और सोजत पर अधिकार कर लिया और मडोवर ी व्यवस्था अपने लड़के कुन्तल को सौंप कर खुद चित्तौड़ लौट आया। इसके ाद 15 वर्ष तक मडोवर पर कुम्भा का अधिकार रहा और अन्त मे जब सकी माता ने उसे समझाया और रणमल के मन्त्रेश्वरों की तरफ कुम्भा ा ध्यान आकर्षित किया तो कुम्भा ने जोधपुर, सोजत और मडोवर जोधा ो वापस लौट दिये। इस प्रकार कुम्भा का राज्य एक लम्बे समय तक ारवाड़ पर भी स्थापित हो गया था।

7. डूँगरपुर विजय—मोकल के समय डूँगरपुर जावर आदि मेवाड़ े राज्य में थे। किन्तु डूँगरपुर का रावल गोपीनाथ या गोपाल, मोकल की ुर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गया था। कुम्भा ने 1446 ई० में इस देश पर आक्रमण किया। गोपीनाथ या गोपाल राज्य छोड़कर भाग गया

[1] वीर विनोद—भाग एक पृष्ठ 332

10. कुम्भा और मालवा—राजपूत व मुसलमान शासकों मे सदा ी वैमनस्य बना रहता था। दिल्ली के दुर्बल शासक इन दोनो की शत्रुता ारण बन गये। साम्राज्यवादी भावनाएँ तथा विद्रोहियो को शरण देना ऐसी बातें थी जो दोनों के बीच मतभेद की दरार को और गहरी करती । यह स्पष्ट है कि मालवा का सुल्तान महमूद खिलजी और कुम्भा के ्य कभी अच्छे नहीं रहे। श्री हर विलास शारदा का विचार है कि राणा कुम्भा और महमूद खिलजी के बीच 1440 ई० मे पहले पाँच युद्ध ुके थे और प्रत्येक मे विजय श्री कुम्भा के हाथ लगी थी। जब कई बार ़ हार गया तो उसने 1451 में गुजरात के सुल्तान से साँठ गाँठ कर ़ पर सयुक्त आक्रमण किया।

इस धारणा के विरुद्ध डॉ० उपेन्द्रनाथ ने अपने शोध प्रबन्ध मिडिवियल वा' में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि 1439 तक मेवाड और वा में कोई लडाई नहीं हुई। उनका कहना है कि, "महमूद 1440 ई० दूसरी ही बातों में अत्यधिक व्यस्त था, अत मेवाड के साथ उसका ्रित होना सम्भव नहीं था।" किन्तु इस विचार को मानने के लिये हमारे कोई ठोस प्रमाण नहीं है जबकि चित्तौड का कीर्तिस्तम्भ इस बात का ़ और सबूत है कि कुम्भा ने महमूद को हराया ही नहीं बल्कि छः महीने चित्तौड मे बन्दी बनाकर रखा। टाड महोदय का कहना है कि सन् 1440 ो मालवा और गुजरात के सुल्तानो ने मेवाड पर सयुक्त आक्रमण कर ा था। कुम्भा की विजय को मुसलमान इतिहासकार भी मानते हैं। अबुल ़ ने भी कुम्भा की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "राणा कुम्भा ने बिना ो जुर्माने के अपने शत्रु मोहम्मद खिलजी को कैद मे छोडकर अपने श्रेष्ठ ़ का परिचय दिया था।"

इसी प्रकार टाड महोदय कहते हैं कि "मोहम्मद खिलजी पूरे छः महीने चित्तौड़ की जेल मे रहा।"[1] राणा ने मोहम्मद का ताज अपनी विजय ्माण स्वरूप अपने पास रखकर उसको छोड़ दिया। इस उदारता के बदले ्हमूद खिलजी ने दिल्ली के बादशाह के आक्रमण के समय कुम्भा की मदद थी। टाड महोदय तो यहाँ तक कहते हैं कि महमूद की सेनाएँ कुम्भा के मिलकर दिल्ली के बादशाह से लडी थी जिसमे विजयश्री कुम्भा को मे श्री सोमानी, श्री ओझा और वीर विनोद भी इस मत को मानते हैं कि राणा कुम्भा ने पराजित कर मार भगाया था और एक बार बन्दी बनाकर रखा था। जो भी हो इतना तो

[1] टाड—राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 166

बराज माग गया और मालवा की गद्दी फिर खाली हो गई। इस बार सुल्तान शाहजाद के दूसरे लड़के उमर खां ने राणा कुम्भा से सहायता मांगी उसी बीच महमूद मालवा का सुल्तान बन गया और उसके मन में बदले की भावना जाग्रत हुई। उमर खां की सहायता करने के लिये कुम्भा ने वचन दे दिया। मसूद खां ने गुजरात के सुल्तान से सहायता मांगी दुर्बल दिल्ली इस झगड़े, मे कुछ न कर सकी। अपने अपने उम्मीदवार को मालवा की गद्दी पर बिठाने के लिए कुम्भा और गुजरात का सुल्तान सेना लेकर मालवा पर चढ़ गये। किन्तु महमूद खिलजी इससे बिलकुल नहीं घबराया। उसने छापामार युद्ध मे उमर खां को किले में घेर कर पकड़ लिया और मार डाला। कुम्भा जिसका समर्थन करने जा रहा था जब वही न रहा तो कुम्भा लौट पड़ा किन्तु मेवाड़ और मालवा के सम्बन्ध बिगड़ गये। इसी प्रकार गुजरात की सेना मे से प्लेग फैल जाने से महमूद वापस गुजरात भाग गया और उसने फिर कभी अपने पूर्वजों का राज्य मालवा पाने की चेष्टा नही की। मालवा मे महमूद खिलजी का राज्य हो गया। अब उसने अपने पड़ोसी हिन्दू प्रतिद्वन्द्वी राणा कुम्भा को कमजोर करने के लिये धीरे-धीरे मेवाड़ के चारों तरफ के प्रदेशों पर अपना अधिकार करना शुरू कर दिया। उसने मन्दसौर, माण्डलगढ़, गागरोन, अजमेर और बदनौर आदि को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इन राज्यों में से अधिकांश मोकल के समय मेवाड़ के अंग थे। अब राणा के लिये आवश्यक हो गया कि अपने प्रतिद्वन्द्वी महमूद खिलजी को राजस्थान से बाहर खदेड़ कर इन प्रदेशों को वापस प्राप्त करे। महमूद की मेवाड़ को क्षीण बनाने की नीति युद्ध का कारण बन गई।

3. महपा पंवार-चूंडा और खेमकरण—श्री सोमानी का कहना है कि—"मेवाड़ की ख्यातों में यह युद्ध महपा पवार के लिये जो मोकल का घातक था होना वर्णित है।"[1] किन्तु सोमानी जी ख्यातों के इस वर्णन से सहमत नहीं हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मालवा के सुल्तान महमूद ने मोकल के खूनी महपा पवार को अपने यहाँ शरण व जागीर दी थी। उसने विद्रोही खेमकरण व चूंडा को भी अपने राज्य मे जागीरें देकर मेवाड़ की सैनिक शक्ति व आन्तरिक दशा का पता लगा लिया था। इन लोगो से मेवाड़ की आन्तरिक फूट का हाल जान कर वह स्वयं मेवाड़ पर आक्रमण करने लगा था। उसने राणा के सैनिक बल का पता लगाकर अपनी सेना को और शक्तिशाली बना लिया। इस प्रकार तीन महत्त्वपूर्ण विद्रोहियों को शरण देकर महमूद ने कुम्भा को अपना शत्रु बना लिया। इस कारण युद्ध होने का वर्णन हमें वीर विनोद में मिलता है श्री श्यामल दास लिखते हैं कि "1439 ई. मे महाराणा कुम्भा ने

---

[1] सोमानी-राणा कुम्भा-पृष्ठ—89.

धोखा देने के लिये सेना का कुछ भाग मन्दसौर की तरफ भेजा और खुद ने 1455 में अजमेर पर आक्रमण किया । अजमेर का सूबेदार गजाधर सिंह बड़ी वीरता से लड़ा और उसने कई दिन तक महमूद को किला नहीं जीतने दिया । श्री हर विलास शारदा अपनी पुस्तक 'अजमेर' के पृष्ठ 149-150 पर कहते हैं कि—"अजमेर के शासक गजाधर सिंह ने चार दिन तक तारागढ़ किले की रक्षा की और फिर बाहर आकर सुल्तान पर टूट पड़ा । युद्ध में यह वीर मारा गया ।" राजपूत सैनिक सन्ध्या को वापस दुर्ग में लौट रहे थे तो मुसलमान सैनिक भी भेष बदलकर उनके साथ तारागढ़ में घुस गये । और किले पर अधिकार कर लिया । सुल्तान ने ख्वाजा नियामुद्दौला को अजमेर का शासक नियुक्त किया और खुद वापस लौटने लगा तभी राणा ने उसे माडलगढ़ के पास पराजित कर भगा दिया और कुछ ही महीने बाद राणा नागौर विजय को जा रहा था तो अजमेर को भी वापस जीत कर अपने राज्य में मिला लिया । इस प्रकार अजमेर का धार्मिक महत्व भी दोनों के युद्ध का एक कारण बन गया । महमूद ने कुम्भा की मृत्यु के बाद अजमेर को फिर जीत लिया था ।

6 गुजरात मालवा सन्धि—मालवा का सुल्तान अपने खोये हुए प्रदेश, जिनमें मन्दसौर भी था, वापस लेना चाहता था । उसने कई आक्रमण अकेले करके देख लिया था और हर बार उसे मुँह की खानी पड़ी थी । अतः वह राणा कुम्भा के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहता था । उसे यह भय बना रहता था कि जब वह कुम्भा से लड़ रहा हो उस समय गुजरात मालवा पर आक्रमण न कर दे । अतः उसने ताजखाँ की अधीनता में सन्धि का एक प्रस्ताव भेजा कि दोनों मिलकर मेवाड़ पर आक्रमण करें और जो प्रदेश गुजरात जीते वह गुजरात में मिला लिया जायगा । मेवाड़ का उत्तरी पूर्वी भाग मालवा को और आबू गुजरात को मिलेगा । इस प्रकार बँटवारा करने के बाद दोनों ने आक्रमण किया । स्पष्ट है कि इस सन्धि ने महमूद के हौसले बढ़ा दिये थे । सोमानी अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' के पृष्ठ 135 पर कहते हैं कि—"इस सन्धि का बड़ा महत्व है । गुजरात और मालवे के शासक परम्परा से एक दूसरे के शत्रु थे । इतिहास में इनकी संधि के उदाहरण बहुत थोड़े हैं । इस संधि से मालवे के सुल्तान ने अपने राज्य को गुजरात के स्वभाविक आक्रमण से रक्षित कर लिया एवं राज्य बढ़ाने का लोभ देकर गुजरात के सुल्तान को भी मेवाड़ के विरुद्ध आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया ।" इन कारणों से दोनों में युद्ध हुए ।

युद्ध—हम देखते हैं कि राणा कुम्भा और मालवा के सुल्तान महमूद के सम्बन्ध राज्याभिषेक से ही अच्छे नहीं थे । यदि उपेन्द्रनाथ का मत मान

लिया जाय तो प्रथम छः वर्ष तक महमूद ने मेवाड़ पर कोई आक्रमण नहीं किया फिर भी दोनों के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे जहाँ कुम्भा ने उमर खाँ को सहायता दी वहाँ महमूद ने मोकल के हत्यारे महपा पवार, चूँडा, और सेमकरन को अपने यहाँ शरण देकर आपसी सम्बन्ध बिगाड़ लिये थे। दोनों में लड़ाई के कारण उनके सम्बन्धो को बिगाड़ने के लिये पर्याप्त थे। धार्मिक शत्रुता साम्राज्य पिपासा, गुजरात मालवा गठबन्धन, मेवाड़ पर महमूद के लगातार अभियान आदि बातें दोनो की मित्रता के बीच दीवार बनकर खड़ी थी अतः दोनो आजीवन लड़ते रहे।

मेवाड़ मुसलमानी राज्यो से घिरा हुआ था। उत्तरपूर्व नागौर, पश्चिम दक्षिण मे गुजरात और दक्षिण मे मालवा था।

सबसे पहले कुम्भा ने उमर खाँ को सहायता दी जो सारंगपुर के पास लड़ाई मे मारा गया। यह घटना लगभग 1435 की है। उसके बाद महमूद ने मन्दसौर, मांडलगढ़, गागरोल, अजमेर और बदनौर आदि को जीता। जिन्हे कुम्भा ने समय समय पर वापस जीत लिया। दोनो मे आमने सामने लड़ाई 1440 के बाद शुरू हुई। किन्तु हर बिलास शारदा के अनुसार महमूद और राणा मे 1440 के पहले पाँच युद्ध हो चुके थे। आधुनिक इतिहासकारों मे टाड, गहलोत यह मानते है कि 1437 मे सारंगपुर के युद्ध मे महमूद हार कर माँडू भागा। राणा ने माँडू को घेर लिया और महमूद को पकड़कर चित्तौड़ ले आये।" महमूद को छः महीने तक अपने यहाँ कैद रखकर बाद में बिना किसी शर्त के छोड़ दिया।"[1]

इस विजय की स्मृति मे महाराणा ने चित्तौड़ मे एक विशाल कीर्ति स्तम्भ बनवाया जो आज तक विद्यमान है।

वीर विनोद मे महमूद की पराजय और कैद होने का समय 1439 बताया है। इसी ग्रन्थ के अनुसार—"महमूद पर चढ़ाई करने के वक्त महाराणा कुम्भा के साथ एक लाख सवार और 1400 हाथियों की जमइयत होना मशहूर है। जब मेवाड़ की सरहद पर दोनों फौजों का मुकाबला हुआ, तो बड़ी सख्त लड़ाई होने के बाद बादशाह महमूद ने भागकर मांडू के किले मे पनाह ली। महाराणा कुम्भा भी पीछे से वहाँ जा पहुँचे और किला घेर लिया। महपा पवार तो पहिले ही किले से निकल कर भाग गया था, महमूद ने किले से निकलकर मेवाड़ की फौज पर फिर हमला किया, लेकिन राव रणमल ने बादशाह को गिरफ्तार कर लिया, उसकी कुल फौज तितर बितर हो गई।

[1] गहलोत-राजपूताने का इतिहास-पृष्ठ 209

और महमूद को लेकर राणा चित्तौड आये जहाँ छ महीने तक कैद रखने के बाद कुछ दण्ड लेकर छोड दिया। यह जिक्र फरिश्ता वगैरह फारसी इतिहासकारो ने नहीं लिखा था। लेकिन इस फतह का चिह्न किले चित्तौड पर कीर्ति स्तम्भ अब तक मौजूद है, जो इस लड़ाई की यादगार के वास्ते 1448 ई० मे बनाया गया था। जिसकी प्रशस्ति भी वहाँ पर मौजूद है।"[1]

टाड महोदय का मत है कि—"राणा कुम्भा ने महमूद खिलजी के ताज को अपनी विजय के प्रमाण मे अपने पास रखकर उसको छोड दिया।"[2]

महमूद ने कुछ समय तक शक्ति सगठन किया और गुजरात से सन्धि करने के बाद 1442 में कुम्भलगढ पर आक्रमण किया। महाराणा इस समय बूंदी की तरफ गया था। महमूद ने केलवाडा के पास गौडेड और पावा गावो को पूर्ण रूप से नष्ट कर कुम्भलगढ को घेर लिया किन्तु सफल नहीं हो सका। राणा चित्तौड़ लौट आया था अत महमूद ने चित्तौड पर भी आक्रमण किया किन्तु सफल न हो सका। वर्षा के कारण उसे घेरा उठाना पडा और वह वापस माडू चला गया।

यहाँ से निराश होकर उसने सीमा प्रदेशो पर आक्रमण किये। सन् 1443 मे गागरोल विजय की। उसी वर्ष माडलगढ़ का घेरा भी डाला, सफल न हो सका। तीन साल बाद 1445 में मॉडलगढ़ को फिर घेर लिया। उसके बाद महमूद ने बयाना और ग्वालियर के राजाओं पर आक्रमण किया किन्तु उसे सफलता नही मिली। सुल्तान जब दक्षिण भारत की घटनाओं मे व्यस्त था तो कुम्भा ने रणथम्भौर वापस जीत लिया अत 1454 मे महमूद ने चित्तौड पर, फिर आक्रमण किया उसका लडका गयासुद्दीन रणथम्भौर विजय करने गया किन्तु उसकी भी हार हुई। मुसलमान इतिहासकार महमूद की हार को छिपाने के लिये कहते हैं कि कुम्भा ने अपने राज्य की रक्षा के लिये सुल्तान को भारी रकम देकर लौटा दिया। किन्तु 'तवारीख ए–फरिश्ता' की यह कहानी, मनघडन्त है। उसके बाद 1455 मे महमूद ने अजमेर जीता जिसे कुछ ही महीने बाद राणा ने वापस जीत लिया। अन्त में 1457 ई० मे कुम्भा को मालवा और गुजरात की सगठित सेना का सामना करना पडा जिसे उसने हरा कर भगा दिया। यह शत्रुता कुम्भा और महमूद की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारियो को पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में मिली।

[1] वीर विनोद—भाग एक—पृष्ठ—320.

[2] टाड, राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ—166.

परिणाम—निरन्तर युद्धो के बावजूद कुम्भा राज्य विस्तार में सफल हुआ और मेवाड की मुख्य भूमि के अतिरिक्त गोडवाड, आबू [illegible] पिंडवाडा, मारवाड राज्य के पाली जोधपुर जिलो का भू भाग आदि गागरोल, मन्दसौर, नराणा, आदि जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिये ।[1]

महमूद को अपनी राजनीतिक पैंतरेबाजी मे कोई सफलता नहीं मिली कुम्भा ने उससे माडलगढ व अजमेर आदि वापस छीन लिये । उसको [illegible] को काफी ठेस लगी और उसने राणा की मृत्यु के बाद अजमेर आदि वापस जीत लिया दोनो परिवारो मे स्पर्द्धा शत्रुता का आरम्भ हो गया ।

कुम्भा और गुजरात

1. अहमदशाह—1411—1442 ई०
2. मुहम्मदशाह—1442—1451 ई०
3. कुतुबुद्दीन अहमद और दाऊद—1451 से 1458 ई०
4. अब्दुलफतेह खाँ—1458 से 1511 ई०

राणा कुम्भा और अहमदशाह के बीच कोई लड़ाई नहीं हुई और 1442 तक का समय गुजरात-मेवाड़ के सम्बन्धो मे शान्ति का युग है। यहाँ तक कि मुहम्मदशाह के समय मे भी गुजरात की हरकतें नही के बराबर हैं। कुम्भा को 1451 से आगे गुजरात से लगभग 15 वर्ष तक निरंतर संघर्ष करना पड़ा। यह संघर्ष मूल रूप से कुतुबुद्दीन अहमद और दाऊद के समय मे हुआ और फतेहखाँ या मोहम्मद बेगड़ा ने भी गद्दी पर बैठते ही 1458 मे मेवाड़ पर आक्रमण किया था।

ये आक्रमण तीन बार हुए या तीन परिस्थितियो मे किये गये—(1) नागौर के प्रश्न को लेकर (2) मालवा गुजरात की सन्धि के बाद और (3) अब्दुल फतेहखाँ 'मेहमूद बेगड़ा' की राज्य विस्तार नीति के अधीन। मूल रूप से ये ही तीन कारण हैं जिनको लेकर गुजरात मेवाड़ युद्ध हुए।

कारण

राणा कुम्भा और गुजरात के सुल्तानों के बीच युद्ध के मूल कारण निम्नांकित हैं—

नागौर उत्तराधिकार प्रश्न—वीर विनोद के पहले भाग मे पृष्ठ 327 पर नागौर के उत्तराधिकार का प्रश्न दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार नागौर का स्वतन्त्र रईस फीरोजखाँ के अधीन था। फीरोज खाँ का देहान्त 1455 ई० मे हो गया। उसके छोटे भाई मुजाहिद खाँ ने नागौर पर अधिकार कर लिया और फीरोज खाँ का लड़का शम्स खाँ भागकर राणा कुम्भा के पास सहायता लेने आया। महाराणा कुम्भा ने मुजाहिद खाँ को सजा देने के लिये शम्सखाँ के साथ अपनी फ़ौज भेजी। जब राणा नागौर के पास पहुँचे तो मुजाहिद खाँ डर कर गुजरात की तरफ भाग गया। महाराणा ने शम्स खाँ को गद्दी पर बैठा दिया परन्तु गद्दी पर बैठने के बाद वह उस एहसान को भूल गया और महाराणा पर शक करने लगा कि वह नागौर छीन लेंगे। तवारीख फरिश्ता मे लिखा है कि 'महाराणा ने शम्सखाँ से कहा कि नागौर के किले के तीन कांगूरे (बुर्ज) हमको गिराने दो लेकिन शम्स खाँ के सरदारो ने इसे अपमान समझा और स्वीकार नहीं किया और राणा का विरोध शुरू कर दिया। उसने बुर्ज को गिराने के बजाय उसकी मरम्मत करवानी शुरू कर दी। राणा

3. मालवा गुजरात का सम्मिलित आक्रमण 1457 ई०
4. कुम्भा की नागौर विजय 1458 ई०
5. कुम्भलगढ़ पर आक्रमण—1458 ई०
6. महमूद बेगड़ा का आक्रमण—1459 ई०

1. नागौर युद्ध—नागौर के शासक फीरोज खाँ ने कुम्भा के पिता [illegible] को पराजित करने की खुशी में नागौर में एक बुर्ज बनवाई थी। इसी [illegible] को राणा ने फीरोज के लड़के शम्सखाँ को पराजित कर गिरवा दिया। नागौर के पहले युद्ध में गुजरात के सुल्तान ने अपने सेनापति राय [illegible]चन्द्र और मलिक गदई को भेजा था जिन्हें राणा कुम्भा ने पूर्ण रूप से [illegible]जित कर भगा दिया था। अपनी सेना की हार का बदला लेने के लिये और [illegible]स खाँ को गद्दी पर बिठाने के लिये सुल्तान कुतुबुद्दीन स्वयं फौज लेकर [illegible]ड़ पर चढ़ आया। उसने अपने सेनापति इमादुल्मुल्क को आबू विजय के [illegible]ये भेजा किन्तु वह हार कर भाग आया। इसी बीच कुतुबुद्दीन ने सिरोही [illegible] आक्रमण कर उसे जीत लिया। सिरोही के देवड़ा शासक पहाड़ों में भाग [illegible]। सिरोही जीत कर सुल्तान कुम्भलगढ़ की तलहटी में आ गया। राणा [illegible]गौर जीतकर कुम्भलगढ़ आ गये थे। कुतुबुद्दीन ने कुम्भलगढ़ का घेरा [illegible]ला। राणा ने बार बार बाहर निकल कई आक्रमण किये किन्तु घेरा नहीं [illegible] सका। सुल्तान भी किला नहीं जीत सका और किले की मजबूती देख-[illegible] वापस लौट गया इस प्रकार पहले युद्ध में नागौर पर राणा कुम्भा की [illegible]जय हुई और सुल्तान को खाली हाथ वापस लौटना पड़ा। कुम्भा ने नागौर [illegible] किले को नष्ट भ्रष्ट कर दिया और गुजरात के राजा का तिरस्कार करते [illegible] दुष्ट यवनों को दंडित किया। इस विजय का वर्णन कीर्ति स्तम्भ के श्लोक [illegible]3-20 तक में है और श्री ओझा ने उदयपुर का इतिहास भाग एक के पृष्ठ [illegible]02 पर इसकी पुष्टि की है।

2. गुजरात के सुल्तान का आक्रमण—सोमानी महोदय इस आक्रमण [illegible] कारण सिरोही का देवड़ा राजा बताते हैं जो खुद सुल्तान कुतुबुद्दीन के [illegible]स गया और उसने प्रार्थना की कि आबू को जीत कर वापस सिरोही को [illegible]। सुल्तान देवड़ा की सहायता करने को तैयार हो गया और उसने अपने [illegible]नापति इमादुलमुल्क को आबू जीतने भेजा जो स्थान से अपरिचित होने के [illegible]रण हारकर भाग आया। सोमानी जी अपनी पुस्तक 'महाराणा कुम्भा' पृष्ठ 141 पर कहते हैं कि राणा ने आबू सिरोही के राजाओं से ही छीना [illegible] अतः आबू पर आक्रमण करना ही अधिक उपयुक्त है। आबू के पश्चात् [illegible]ल्तान ने कुम्भलगढ़ पर चढ़ाई की। सुल्तान का यह आक्रमण तीन दिन [illegible]क चला जिसमें प्रदेश के सारे जानवर तक मारे गये यहाँ राणा की पराजय

का वर्णन भी मिलता है। इतिहासकार बेले अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑ
गुजरात' के पृष्ठ 150 पर कहते हैं कि 'नूर और पशुओं की बलि देते
एवं राणा कुंभा ने क्षमा मांग कर, फिर से नागौर पर चढ़ाई न करने
आश्वासन देकर एवं एक अच्छी रकम देकर आक्रमण से मुक्ति
की।" लेकिन बेले का यह मत मुसलमान इतिहासकारों के कथन पर आ
रित है जो एक पक्षी है। आधुनिक लेखक श्री ओझा 304 पृष्ठ पर
हरविलास शारदा पृष्ठ 57-58 पर इस कथन का खंडन करते हैं।
सुल्तान जीतकर लौटता तो पुनः मालवा के साथ मिलकर आक्रमण
करता। सुल्तान का दूसरा प्रयास भी बेकार गया।

3 मालवा गुजरात सम्मिलित आक्रमण—मालवा का सुल्तान
पहले हार गया था अब गुजरात का भी हार गया। इन दोनों के मन में
जय खटकती रही अत इस बार दोनो ने मिलकर मेवाड़ पर दो तरफ से आ
करने की योजना बनाई। पहले ही वर्ष 1457 राणा को गुजरात और मा
की संयुक्त शक्ति से लड़ना पड़ा। यह मेवाड़ के लिये जीवन मरण का
था। सिरोही के देवड़ा राजा भी विद्रोही थे और आबू को वापस पाने के लिये
गुजरात के सुल्तान से जा मिले थे। इधर नागौर का सूबेदार शम्स खाँ, जि
बड़ी मिन्नतों के बाद राणा से नागौर का सूबेदार बनने की स्वीकृति पा
थी, फिर भी पुन स्वतन्त्र होने के लिये शक्ति संगठन करने लगा। राणा
भी आस पास के राजपूत सरदारों को इकट्ठा किया और युद्ध के लिये तैय
हो गया। गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन ने पहले आबू जीतना चाहा कि
विफल रहा। बाद में कुम्भलगढ़ पर आक्रमण किया। राणा के पास 40,000
घुड़सवार और 200 हाथी थे। पाँच दिन तक भयानक युद्ध चला जिसमें कि
की भी जीत नहीं हुई। पानी की भारी कमी के कारण गुजरात के सुल्तान
वापस लौटना पड़ा। बेले कहता है कि राणा हार कर किले में चला गया।
फरिश्ता कहता है कि राणा हार कर पहाड़ी क्षेत्रों में भाग गया और बाद
कहता है कि राणा ने पराजित होने के बाद 14 मन सोना और दो हाथी
देकर सन्धि कर ली। दूसरे मुसलमान लेखक चार मन सोना और दो हाथी
देने की बात करते हैं। कुछ लोग इसे राणा की कूटनीति का खेल बताते
कि दो तरफ से आक्रमण होता देखकर राणा ने धन देकर गुजरात के सुल्ता
को वापस लौटा दिया और फिर महमूद खिलजी को परास्त कर भगा दिया
किन्तु वास्तविक यह है कि राणा ने कोई सोना या हाथी नहीं दिये थे। उ
अपने आक्रमण से सुल्तान को हराकर पानी के अभाव में लौटने पर बाध्य
दिया था। राणा का हारना, या माफी मांगना या भेंट आदि देना असत्य
राणा की विजय का वर्णन चित्तौड़ के शिला लेखों में है कि राणा ने म
... के सुल्तानों को पराजित कर उनके घमण्ड को चूर किया।

मालवे के सुल्तान महमूद ने पहले मदसौर और फिर रणथम्भौर पर आक्रमण किया और वह भी आगे बढ़ता हुआ चित्तौड़ के पास आ गया। इस प्रकार महमूद से अलग युद्ध होना चाहिये था, किन्तु वीर विनोद आदि मे दोनों सुल्तानो की सयुक्त सेना कुम्भलगढ के पास एक ही युद्ध होने का वर्णन मिलता है। इसमे भी राणा की विजय हुई। इसका प्रमाण कीर्ति स्तम्भ, रसिक प्रिया, और गीत गोविन्द मे साफ मिलता है। इसी आधार पर ओझा व शारदा यह मानते हैं कि सुल्तान बुरी तरह हार कर गया। कुम्भा ने मालवा से लौटते हुए सुल्तान की सेना को खूब लूटा था। गुजरात के इतिहासकार इस युद्ध पर मौन है। यदि सुल्तान जीता होता तो इस घटना का वर्णन अवश्य होता। जहाँ तक सोना आदि पाने का सवाल है तो यह लगता है कि आबू और सिरोही के मन्दिरो को लूटकर गुजरात का सुल्तान कुछ धन अवश्य ले गया होगा। उपलब्ध सामग्री के अनुसार यह सिद्ध होता है कि राणा कुम्भा बहुत ही शूरवीर नरेश था, जिसने अपने दो मुसलमान महत्वाकांक्षी शत्रुओं के घमड को चूर चूर कर अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया था।

4. नागौर विजय—यह आक्रमण 1458 ई० में कुम्भा ने किया इसके कई कारण थे—(1) वीर विनोद के अनुसार नागौर का हाकिम शम्स खाँ और मुसलमानों द्वारा गौवध बहुत होने लगा था। किन्तु जैन ग्रन्थ कहते हैं कि नागौर मे धार्मिक स्वाधीनता थी। (2) जब मालवा के सुल्तान ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो शम्सखाँ ने उसे सैनिक सहायता दी थी। मालवा के सुल्तान को हरा देने के बाद यह आवश्यक हो गया कि विद्रोही सरदार को भी हराया जाय। (3) इसके साथ ही शम्सखाँ ने किले व बुर्ज की मरम्मत शुरु करवा दी थी। अतः राणा ने नागौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। गुजरात का सुल्तान शम्सखाँ की सहायता करना चाहता था किन्तु उससे पहले ही राणा जीत गया और सुल्तान की सेना रास्ते से वापस लौट गई। इस विजय का वर्णन कीर्ति स्तम्भ मे भी है।

5. कुम्भलगढ़ आक्रमण—नागौर युद्ध के कुछ महीने बाद 1458 ई० मे ही कुतुबुद्दीन ने बदला लेने के लिये पहले सिरोही और फिर कुंभलगढ़ पर हमला किया। सिरोही का राजा सुल्तान की पहली हार से राणा के पक्ष में हो गया था अत सुल्तान ने सिरोही को जीतकर नगर को जला दिया। फिर वह कुम्भलगढ़ की तरफ बढ़ा किन्तु राणा ने उसे फिर पराजित कर वापस लौटने पर बाध्य कर दिया सुल्तान को दूसरी बार राणा के हाथो मुँह की खानी पड़ी उसके सैकड़ों सैनिक व घोड़े मारे गये। उसने गुजरात जाकर सैनिकों को बहुत से घोड़े खरीदने के लिये राजकीय धन दिया था जिसका समर्थन फरिश्ता भी करता है। इस आक्रमण से सुल्तान को अपनी सैनिक

कमजोरी का पता लग गया । कुतुबुद्दीन मेवाड़ विजय का अधूरा सपना लि
25 मई 1458 को सदा के लिये संसार से कूच कर गया ।

6 महमूद बेगड़ा का आक्रमण—कुतुबुद्दीन के बाद महमूद बे
गुजरात का सुल्तान बना । उसने 1459 ई० में जूनागढ़ पर आक्रमण कि...
वहाँ का राजा कुम्भा का दामाद था अत: कुम्भा उसकी सहायता के लिये व
पहुँचा और गुजरात के सुल्तान को पराजित होकर वापस लौटना पड़ा । मह
बेगड़ा को उकसाने वाला कुम्भा का एक छोटा भाई देवसिंह था । इसी
आगे चलकर षडयन्त्र द्वारा कुम्भा को मरवाया था । इन सब लड़ाइयों से
है कि कुम्भा का गुजरात से सदा युद्ध होता रहा । दोनों राज्यों में कभी भि
पूर्ण सम्बन्ध नहीं रहे । मुसलमानों से लड़ाई के कारण मेवाड़ का
सिरोही, नागौर, मन्दसौर, आदि स्थानों पर स्थायी आधिपत्य स्थापि
गया । राणा ने अपने पराक्रम और शौर्य का परिचय देकर मालवा
गुजरात के शासकों को चुप बैठने पर बाध्य कर दिया । इन्हीं दो र
निरंतर संघर्ष में कुम्भा की वीरता, धीरता और सैनिक सफलता निहि

कुम्भा का व्यक्तित्व

श्री गहलोत अपनी पुस्तक "राजपूताने का इतिहास" के पृष्ठ 211-
212 पर कुम्भा के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि—"कुम्भा
बड़े वीर और साहसी थे । उन्होंने मुसलमानों से देश की रक्षा करने के लिये
कुम्भलगढ़ आदि कई किले बनवाये । कुम्भलगढ़ के शिलालेख में उन्हें धर्म
और पवित्रता का अवतार और उन्हें विद्वान और दानी राजा भोज व क
से भी बढ़कर लिखा है । वे प्रजापालक और सब धर्मों को एक दृष्टि से दे
वाले नरेश थे । उन्होंने आबू पर जाने वाले जैन यात्रियों पर जो कर लि...
जाता था उसे हटा दिया था ।"

टाड महोदय 'राजस्थान के इतिहास' के पृष्ठ 166 पर कहते हैं कि—
"राणा कुम्भा में लोकप्रियता का गुण था । मेवाड़ की प्रजा उस पर बहु
श्रद्धा रखती थी । राणा ने प्रजा की सुविधाओं और राज्य के हितों के लि
बहुत से अच्छे कार्य किये थे और उन्हीं कारणों से सम्पूर्ण राजस्थान में उ
बहुत ख्याति मिली ।"

टाड महोदय आगे कहते हैं कि—"कुम्भा ने अपनी ही शक्ति
पर विजय प्राप्त की । उसने अपने राज्य को सुदृढ़ दुर्गों द्वारा स
... निर्मित करके अपने नाम को चिरस्थायी बना लिया ।"

यह स्पष्ट है कि महाराणा कुम्भा केवल वीर ही नहीं था। विजय श्री दा उसके कवच में निवास करती थी। मृत्यु से भयंकर कठोरता रखते हुए ी उसके दिल मे कवियों सी सरसता और शासको का सरक्षण निवास करते । वह कलाकारो का सरक्षक, विद्वानो का आश्रयदाता और सगीत, नाट्य, स्तुकला आदि कलाओ का महान प्रेमी था। उसके व्यक्तित्व के बारे मे हम क्षेप मे इन बातों का उल्लेख करेंगे—

1. अपार साहसी—कुम्भा तो साहस की कसौटी पर शुरू से ही खरा ाया जाता है। वह जब छोटा सा था तो उसके पिता मेवाड़ पर चारो तरफ मँडराते विपदा के बादल छोड़ गये थे। उसने अपार धैर्य और साहस के ाथ आन्तरिक विद्रोहों का दमन किया। विदेशी मुसलमानो की चुनौती ा उत्तर दिया और मेवाड पर राठौडो के बढ़ते प्रभाव को समाप्त किया। सने साहस की पराकाष्ठा का प्रदर्शन मालवा और गुजरात के संयुक्त आक्रमण े समय किया। दोनो सुल्तानो की सेना और शक्ति कुम्भा से कही अधिक थी। दोनों मेवाड़ के विभाजन का सकल्प लेकर आये थे किन्तु कुम्भा के साहस ने उन्हें निराशकर लौटने पर बाध्य कर दिया। कुम्भा के स्थान पर उस समय कोई और शासक होता तो बूँदी और मेवाड दोनो पर मुसलमान राज्य स्थापित हो जाता। कुम्भा के अटूट साहस ने मेवाड के प्राण बचा लिये।

2 महान वीर—कुम्भा महान वीर था। उसने मेवाड़ भूमि के अति-रिक्त गोडवाड, अजमेर, मन्दसोर, आबू, मडोर, नागौर, माडलगढ, बूदी, सांभर, रणथम्भोर, डूगरपुर, जावरा आदि प्रदेश जीते थे। उसने बूदी के हाड़ा, सिरोही के देवडा, सोजत और मडोवर के राठौड आदि बडे राजपूत ठिकाणों को पराजित कर अधीनता मानने पर बाध्य किया था। इतना बडा राज्य मेवाड मे पहले किसी का नहीं था। यह कहना सत्य है कि साँगा के विशाल राज्य की नीव कुम्भा के हाथो से रखी गई थी।

3. कुशल राजनीतिज्ञ—कुम्भा अवसर से काम लेता था। वह अन्य राजपूतों की भाँति केवल बहादुरी से मर जाने में विश्वास नहीं रखता था। आवश्यकता पडने पर पहाडों में छिपकर अचानक आक्रमण करता था। उसने अपने शुरू के समय मे गुजरात और मालवा की शत्रुता का लाभ उठाकर गुज-रात के सुलतान अहमदशाह को मेवाड पर कभी आक्रमण नही करने दिया। उल्टा दिल्ली और गुजरात के सुल्तानों ने हिन्दू सुरत्ताण की उपाधि दी। गुजरात से उसके सम्बन्ध नागौर विजय के बाद ही बिगडे थे। कुम्भा राज्य को आवश्यकता से अधिक बढ़ाने मे विश्वास नही रखता था। वह जीते हुए प्रदेशों से सालाना कर लेकर उन्हें राज्य वापस दे देता था। इस प्रकार के राज्य बूँदी सिरोही, नागौर आदि थे। वह शत्रुओ मे फूट डाल कर भी उन

पर शासन करता था। उसने राठौड़ों को गोमल आदि की जागीर दे 15 वर्ष तक जोधपुर के राठौड़ों को अपने अधीन रखा। वह वीर सरदारों को जागीरें देकर उन्हें प्रसन्न रखता था। इस प्रकार जागीरें देना, युद्ध करके जीतकर उत्तरदायित्व से मुक्ति पा लेना, शत्रुओं को संगठित न होने देना और छापामार युद्ध का प्रयोग आदि उसकी कुशल राजनीतिज्ञता प्रमाणित करते हैं।

4. प्रजापालक—जहाँ कुम्भा राज्य की रक्षा के लिये सदा ही युद्ध में व्यस्त रहता था, वह प्रजा का पालक भी था। इतने वर्षों तक निरंतर युद्ध में व्यस्त रहने के बाद भी कुम्भा अपनी प्रजा के हितों को नहीं भूला था। उसने चित्तौड़ दुर्ग, गढ़, आबू, सिरोही और वसन्तपुर में गढ़ के तालाब, बावड़ियाँ, कुएँ बनवाये। उसने सिर्फ आबू के अचलगढ़ में एक सरोवर और चार बावड़ियाँ बनवाईं। वसन्तपुर में सात बावड़ियाँ और एक बाग लगवाया। वह महान दानी भी था। उसकी तुलना भोज और कर्ण जैसे दानवीरों से की गई है। यही कारण है कि कवियों ने उसे कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में प्रजा पालक व विद्या दानी कहा है।

5. साहित्य का संरक्षक – इसमें तो कोई दो राय नहीं हो सकती कि कुम्भा विद्वान था। वह स्वयं अच्छी संस्कृत लिख और बोल सकता था। वह स्वयं विद्वान ही नहीं विद्वानों का आश्रयदाता भी था। परमार राजा भोज और चौहान राजा विसलदेव की तरह वह भी संस्कृत का विद्वान था। इसे अन्य भाषाओं का ज्ञान भी था जिनमें गुजराती, मराठी और कन्नड़ी उल्लेखनीय है। उसकी खुद रचना 'रसिक प्रिया' इस बात का प्रमाण है कि कुम्भा स्वयं साहित्यकार था। जहाँ कुम्भा भवानी का उपासक था वहाँ वह सरस्वती का प्रिय पुत्र भी था। दोनों देवियों की उस पर समान कृपा थी। उसने 'संगीत राज' नामक एक ग्रन्थ लिखवाया जिसमें 16,000 श्लोक थे। कीर्ति स्तम्भ में कुम्भा द्वारा रचित चार नाटकों का भी वर्णन मिलता है। अत्रि और महेश मण्डन के द्वारा उसने कुम्भलगढ़ और कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति बनवाई थी। कुम्भा के दरबार में कई पंडित रहते थे। कान्हव्यास, अत्री महेश, एकनाथ, और कुम्भलगढ़ के भृगु परिवार को उसने राजकीय सम्मान दिया था। परिणाम स्वरूप मेवाड़ में शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछ गया और विद्या का विकास हुआ। उसने खुद ने 'संगीत राज', 'संगीत मीमांसा', 'संगीतामृत' नामक ग्रन्थ रचे थे। 'गीत गोविन्द' और 'चण्डीशतक' की टीका दी और चार नाटक लिखे थे। 'एकलिंग महात्म्य' का पिछला भाग सुन्दर व मधुर कविता में खुद ने रचा था भवन निर्माण विद्या पर आठ पुस्तकें बनवाई थी।
१ एक अच्छा कवि भी था।

6. निर्माता कुम्भा—कुम्भा के समय में जितना निर्माण कार्य हुआ

तना मेवाड़ के इतिहास में और किसी के समय में नहीं हुआ। उसने चित्तौड़ में ही कीर्ति स्तम्भ, कुम्भस्वामिका मन्दिर, वराह का मन्दिर, शृंगार चवरी, जैन कीर्ति स्तम्भ के पास महावीर जी का मन्दिर आदि बनवाये थे। उसके बनवाये हुए मन्दिरों में कुम्भलगढ़ में मामादेवजी का मन्दिर अचलेश्वर में जैन और कुम्भस्वामी के मन्दिर विशेष आकर्षक और उल्लेखनीय हैं। उसे मूर्ति निर्माण का भी काफी शौक था। कीर्तिस्तम्भ को आज भी हिन्दू पौराणिक देवी देवताओं की मूर्तियों का संग्रहालय कहते हैं। उसने विष्णु की ही नहीं महावीर स्वामी की भी देवशाला में विशालकाय मूर्ति बनवाई। श्री सोमानी का मत है कि "इस प्रकार कुम्भा के शासन काल को वास्तुकला के क्षेत्र में मेवाड़ का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। उसने रणपुर और एकलिंगजी के मन्दिरों को बनवाया। हर विलास शारदा का मत है कि "कुम्भलगढ़ और चित्तौड़ की कीर्ति स्तम्भ उन नमूनों में से है जो राणा कुम्भा को एक सेनानायक व महान शासक के रूप में सदैव याद दिलाते रहेंगे।"

मन्दिर और जनहित के निर्माणों के सिवा कुम्भा ने अनेक दुर्ग भी बनवाये। टाड महोदय का कहना है कि—"मेवाड़ राज्य में चौरासी दुर्ग हैं। उनमें 32 राणा कुम्भा ने बनवाये थे। इन 32 किलों में कुम्भलमेर का दुर्ग सबसे अधिक प्रसिद्ध है।" इस कथन का समर्थन कवि श्यामलदास 'वीर विनोद' के पृष्ठ 334 पर करते हैं। "इन महाराणा की बनाई हुई बहुत सी इमारतें अभी तक मौजूद हैं। कुम्भलमेर का किला एकलिंगजी के मन्दिर का जीर्णोद्धार आदि मिलाकर 32 किले और बहुत से देवल व इमारतें वगैरह इनकी बनवाई हुई हैं। जिनको देखकर आश्चर्य होता है कि एक पुश्त में इतनी इमारतें कैसे तैयार हुई होंगी।"

कुम्भलगढ़ का किला उसने अपनी पत्नी कुम्भलदेवी की स्मृति में बनवाया था। इस पहाड़ी दुर्ग में संकटकालीन स्थिति में 40 हजार व्यक्तियों को जल देने के लिये एक तालाब बना है। इस किले में बने मन्दिरों की प्रशंसा कर कलापारखियों ने कुम्भा की महती प्रशंसा की है। कलापारखी फर्गुसन ने कुम्भा की इमारतों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ उसकी ख्याति के चिरस्थाई स्मारक के रूप में सदैव बना रहेगा।" फर्गुसन ने इस कीर्ति स्तम्भ को रोम के टावर से अधिक महत्वपूर्ण और कलापूर्ण बताया है। यह कीर्ति स्तम्भ राणा ने मालवा के सुल्तान महमूद को पराजित करने की खुशी में 1449 में चित्तौड़ में बनवाया था। जब तक यह कीर्ति स्तम्भ रहेगा, कुम्भा का गौरव नभ के सितारों की भांति हंसता चमत्कार रहेगा।

7. धर्म रक्षक—कुम्भा धार्मिक सहिष्णुता में भी विश्वास रखता था।

उसने सभी धर्मों की रक्षा की। आबू जाने वाले जैनी यात्रियों से कालिंग कर
लेना बन्द कर दिया। वह बनारस, इलाहाबाद आदि धार्मिक स्थानों को भें
भेजा करता था और इसके साथ ही ब्राह्मणों के शत्रुओं का नाश करने
था और उसने जैन और वैष्णव मन्दिरों का निर्माण भी किया। शैव मन्दि
का भी जीर्णोद्धार करवाता। वह हिन्दू, जैन, शैव सभी मतों का संरक्षक था।
इससे स्पष्ट है कि वह धर्म रक्षक था। उसने अपने अधीन मुसलमान प्रजा पर
भी कभी कोई आनवश्यक अत्याचार नहीं किया। नागौर में जब गो वध अधिक
होने लगा तब कुम्भा ने उस पर आक्रमण किया था। अन्यथा धर्म उसकी
राजनीतिक में कोई बाधा नहीं था।

कुम्भा की प्रशंसा का समापन हम श्री सोमानी के इस वाक्य से क
ना अधिक उत्तम होगा। सोमानी जी कहते हैं कि—"मेवाड़ के निर्बल
राजाओं में सांगा को छोड़कर अन्य कोई राजा कुंभा के समान इतना अधिक
शक्तिशाली नहीं था जिसे वर्षों तक मुस्लिम सुल्तानों के साथ बराबर युद्ध करने
को बाध्य होना पड़े और उसमें भी उसकी निरन्तर विजय हो। उसकी सफ
लता का कारण उसका विशिष्ट व्यक्तित्व था। उसके व्यक्तिगत गुण उसे मानव
से अति मानव बना देते हैं और इसी कारण पश्चात् कालीन लेखकों ने उसमें
कई अलौकिक गुणों तक की कल्पना की है।"

अध्याय 9

राव चूंडा

राव चूंडा

मारवाड़ राज्य के संस्थापक राठौड़, कन्नौज के शासक जयचन्द के वंशज हैं। कन्नौज के पतन के बाद जयचन्द के पौत्र सियाजी और सेतराम अपने कुछ और वैभव की खोज में दक्षिण पश्चिम की ओर चल दिये। कुछ लेखकों की धारणा है कि ये दोनों धार्मिक स्थानों के दर्शन की इच्छा से कन्नौज से चले थे। इस समय तक कन्नौज की शक्ति का पूर्ण अन्त हो चुका था। जब सियाजी ने कन्नौज छोड़ा तो उनके साथ सिर्फ दो सौ राठौड़ घुड़सवार थे। शहाबुद्दीन गोरी ने जिस प्रकार दिल्ली और अजमेर के चौहानों को पराजित कर चौहानों का अन्त किया उसी प्रकार उसने कन्नौज पर आक्रमण कर जयचन्द का भी अन्त कर दिया। युद्ध के मैदान में गोरी से हार कर जयचन्द भाग खड़ा हुआ और दुर्भाग्य से उसकी नाव गंगा में उलट गयी और वह डूब कर मर गया। जयचन्द की मृत्यु 1193 ई. में हुई। उसकी मृत्यु के बाद से 1212 तक उसके वंशज कन्नौज में अपनी सत्ता स्थापित करने की व्यर्थ चेष्टा करते रहे और अन्त में अपनी वास्तविकता का अनुमान लगाकर जयचन्द के पौत्र सियाजी ने कन्नौज छोड़ देना ही उपयुक्त समझा। स्पष्ट है कि मारवाड़ राज्य के संस्थापक राठौड़ कन्नौज के जयचन्द के वंशज थे। कन्नौज में अपमानजनक जीवन व्यतीत करने से तो यही अच्छा था कि सियाजी दूर मरुभूमि में जाकर अपना नया राज्य बसा ले ताकि पराजय की हार का काँटा सदा आँखों में खटकता न रहे। राजस्थान के इतिहास के दृष्टिकोण से तो हम यही कह सकते हैं कि कन्नौज छोड़ कर सियाजी ने अच्छा ही किया अन्यथा कि मारवाड़ के राठौड़ों का उत्थान होना था नहीं इसमें संदेह रह जाता।

1. मारवाड़ की दशा—जिस समय सियाजी ने मारवाड़ की मरुभूमि में प्रवेश किया उस समय यद्यपि आमेर, तोमर और अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था और कन्नौज की लड़ाई में कछवाहों का पराक्रमी राजा पजौन कन्नौज के युद्ध में जयचन्द की तरफ से लड़ता [illegible] गया था फिर भी अरावली के अनेक दुर्ग राजपूतों [illegible]। मरु भूमि में अन्य स्वतंत्र राजाओं ने [illegible]। के प्रतिनिधि राज्य करते थे।

से फिर युद्ध किया। इस युद्ध मे लाखा मारा गया और सियाजी की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी। इस ख्याति के साथ सियाजी ने लूनी नदी की तरफ प्रस्थान किया और महेवा नगर के राजा को मारकर महेवा मे अपना राज्य स्थापित किया। ख्यातों व भाटो के ग्रन्थ में यह वर्णन नहीं मिलता कि महेवा जीतने के बाद सियाजी तीर्थ यात्रा को गया या नहीं। इस प्रकार तीर्थ यात्रा का सफर और लाखा का अन्त दोनो घटनाओ के समावेश ने मारवाड़ में राठौड़ राज्य के बीज बो दिये।

प्रारम्भिक विजयो ने सियाजी के मन में राज्य स्थापना की लालसा उत्पन्न कर दी। महेवा पर अधिकार करने के बाद सियाजी ने खेयधर के गोहिल राजा महेश दास को हराकर उसका राज्य अपने अधीन कर लिया। पाली के ब्राह्मणों की प्रार्थना पर मीना जाति पर आक्रमण कर उन्हें मार भगाया। फिर पाली के ब्राह्मण सरदार को मार स्वयं पाली के शासक बन गये। इस प्रकार सियाजी ने महेवा खेरधर, और पाली पर अधिकार कर मारवाड़ राज्य की स्थापना की। सियाजी के तीन लडके थे। जिन दिनों सियाजी ने पाली पर अधिकार किया था उन्ही दिनों उनके योग्य पुत्र आसथाम ने ईडर पर अधिकार कर लिया। यह प्रदेश गुजरात की सीमा पर है। सियाजी के तीसरे पुत्र अजमल ने सौराष्ट्र के राजा भीयमशाह को मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। आज तक भी द्वारिका के आस पास अजमल के ही वंशजों का राज्य है। इस प्रकार कन्नौज के निस्कासित राठौडो ने पाली, ईडर और सौराष्ट्र के प्रदेशों को जीत कर मारवाड़ राज्य का शुभारम्भ किया।

सियाजी के बाद आसथाम ने राज्य किया। आसथाम के लडके दूँहड ने अपने पूर्वजों का देश कन्नौज वापस लेना चाहा किन्तु मन्दोर विजय अभियान में मारा गया उसके लडके रायपाल ने परिहार राजाओं से मन्दोर भी जीत लिया। राजपूतों का जीवन बड़ा अनिश्चित है। और पतन रात दिन की तरह उनके जीवन से बँधे हैं। सियाजी के बाद आसथाम, दूँहड, रायपाल कनुहल, जाल्हन, छाडा और टीडा आदि राजाओ ने राज्य किया। आठ पुश्त निकल जाने के बाद मारवाड के विस्तार के और वास्तविक शासको का नम्बर आता है। वैसे तो अगले अध्यायों में हम मारवाड के मुगल कालीन शासक, मालदेव, चन्द्रसेन, यशवन्त सिंह, दुर्गादास और अजीतसिंह आदि विख्यात राजाओं का अध्ययन करेंगे किन्तु मारवाड का वास्तविक इतिहास जानने के लिये सियाजी, चूँडा, रायमल और जोधपुर नगर के निर्माता जोधा के बारे में भी संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। चूँडा, रायमल और जोधा

रही नीति ने मिलकर आधुनिक मारवाड़ राज्य को सुनिश्चित कर [illegible]
और स्थायित्व प्रदान की है। आस्थान के समय से लेकर और इसके
बढ़ते हुए आधिपत्य के इन लगभग 250 वर्ष के मारवाड़ के इति-
हास में (1273-1515 ई. तक) चूंडा, रणमल और जोधा ही विशेष
उल्लेखनीय हैं।

3 प्रारम्भिक विजय—सियाजी 1273 ई. में मुसलमानों के आक्रमण
से रक्षा करते समय पाली में मारा गया था। उसके पुत्र आसथान के नेतृत्व
में राठौड़ों की शक्ति का नाभिक दक्षिण पश्चिम मारवाड़ में हुआ था।
मुसलमानों ने पाली पर अपना अधिकार कर लिया जैसे ही मारवाड़ में
मुसलमानों की शक्ति बढ़ रही थी। और मेवाड़ पर उनकी नजर लगी हुई
थी फिर भी पाली के व्यापारिक महत्व को ध्यान में रखकर कोई भी दिल्ली
का शासक उसे अपने अधीन करने को लालायित हो सकता था। इसी क्रम
की रक्षा के चक्कर में सियाजी मारे गये। उनकी मृत्यु के साथ राठौड़ों
व मुसलमानों का यह संघर्ष शुरू हुआ जो आगे वाली कई शताब्दियों तक
चलता रहा। एक तरफ दिल्ली में मुसलमानों की शक्ति बढ़ती जा रही थी
और दूसरी तरफ राजस्थान में राजपूत अपनी शक्ति सुदृढ़ कर रहे थे।
मेवाड़ के सिसोदिया भी तुर्कों का विरोध कर अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे।
उसी प्रकार सिया के पुत्र आसथान ने पाली से हटकर खेड़ नामक स्थान
को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाकर राज्य विस्तार शुरू किया। उसने ईडर के
भील सरदारों को पराजित कर ईडर का राज्य अपने छोटे भाई सोनग को
दे दिया। हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि सियाजी के तीसरे पुत्र ने मरुभूमि
के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार दक्षिण पश्चिम मरुभूमि पर
कन्नौज के राठौड़ों का अधिकार हो गया। अभी यह राज्य सुदृढ़ होने भी नहीं
पाया था कि जलालुद्दीन खिलजी ने पाली पर आक्रमण किया और अपने
पिता की तरह आसथान भी पाली की रक्षा करता हुआ 1291 ई. में वीर
गति को प्राप्त हुआ। उसके लगभग 140 साथी भी युद्ध में मारे गये
जिनका वर्णन नैणसी अपनी ख्यात के दूसरे भाग में पृष्ठ 55 से 57 तक
करता है।

आसथान के पुत्र व उत्तराधिकारी धुहड़ ने आस पास के 150 गाँवों
पर अधिकार कर लिया। इसके लिये उसे अन्य राजपूतों व तुर्कों से युद्ध करने
पड़े। उसने एक बार तो परिहारों से मण्डोर भी छीन लिया किन्तु
मंडोर की रक्षा के चक्कर में 1309 ई. में वह परिहारों के हाथ युद्ध में
मारा गया। उसके उत्तराधिकारी रायपाल ने जैसलमेर और मल्लानी प्र[illegible]
[illegible] स्थाई अधि[illegible]

ीं हो गया। मारवाड़ के इस राठौड़ वंश के अगले दो राजा जैसलमेर भाटियों की शत्रुता के कारण मारे गये। भाटी लोग जैसलमेर की पुनः ति के लिये तुर्कों से आ मिले राठौड़ों व भाटियों के इस संघर्ष में राव ग़ोपाल और उनका उत्तराधिकारी भीम दोनों भाटियों के हाथ से मारे गये। र भी सियाजी के वंशजों की राज्य सीमा बाक नदी तक फैल गयी।

बाँकी दास री वार्ता में इस बात का पता चलता है कि राव जालणसी सोलंकियों से भीनमाल और यवनों से मुल्तान भी जीत लिया था और उनके र छाड़ा ने तो अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर अपने पूर्वजों के हत्यारों से ा पूरा बदला लिया। उसके पिता को भी भाटी और तुर्कों की संयुक्त शक्ति ने राजित कर मार डाला था। छाड़ा की ख्याति और वीरता उल्लेखनीय । जैसलमेर के राव को हरा कर उसकी कन्या से विवाह कर लिया ताकि आगे से विद्रोह न करें। इसी प्रकार अमर कोट के सोढ़ों को हरा कर न्हें घोड़े देने पर बाध्य किया। जालौर तथा नागौर से तुर्कों को मार भगाया। ऊ अपने मारवाड़ का इतिहास भाग एक के पृष्ठ 51-52 पर छाड़ा की जयों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि उसने पाली, सोजत, भीनमाल, ालौर, नागौर, जैसलमेर और अन्य कई छोटे बड़े कस्बे जीत कर अपने धीन कर लिये थे। उसकी इस विजय से जलकर सोनगेर और देवड़ा ौहानों ने मिलकर जालौर के रामा नामक गाँव में छाड़ा को अचानक घेर लिया। इसी युद्ध में शत्रु का मुकाबला करते हुए 1344 ई में छाड़ा मारा या। छाड़ा के पुत्र ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और एक बार फर से भीनमाल को जीता सोनगेर व देवड़ा चौहानों को हराया। भाटी व सोलंकियों को पराजित कर दण्ड वसूल किया और मरुभूमि पर राठौड़ों का पुन. धिकार हो गया। तभी तुर्की सेना ने सिवाना पर आक्रमण किया। सिवाना की रक्षा करता हुआ छाड़ा भी मारा गया, किन्तु राठौड़ प्रभाव कम न हो सका। मारवाड़ का राज्य काफी शक्तिशाली हो गया था। छाड़ा के उत्तराधिकारी मल्लिनाथ में भी शौर्य की कमी न थी। उसने एक बार फिर े सभी पड़ोसियों को पराजित कर मारवाड़ राज्य को सुदृढ़ बनाया। सोलंकी भाटी, चौहान, देवड़ा, गोहिया, आदि मारवाड़ की अधीनता में आ गये। लगभग आठ पीढ़ी तक सियाजी के उत्तराधिकारी मारवाड़ की नींवें मजबूत करने में लगे रहे। इस संघर्ष के फलस्वरूप भीनमाल, अमरकोट, महेवा, पाली आदि प्रदेशों पर इनका स्थायी अधिकार स्थापित हो गया और मालवा, गुजरात, नागौर, जालौर आदि मुसलमान शक्तियाँ मारवाड़ से डरने लगी और यहाँ के राजाओं को सम्मान देने लगी। मल्लिनाथ की शक्ति इतनी सुदृढ़ थी कि मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र और सिन्ध के शासक उसको मान्यता

और शासकीय शक्ति के समर्थन का अभाव था। उसका विवाह एक परिहार
ा की लड़की से हुआ था फलस्वरूप उसे परिहारों का समर्थन मिलने लगा।
आधार पर उसने अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। चू डा के चौदह
के और एक लड़की थी। लड़की का नाम हंसा था। चू डा ने अपनी इस
ी का विवाह मेवाड़ के राजकुमार के साथ किया था जो आगे चलकर राणा
ा के नाम से मेवाड़ का शासक बना था। इस विवाह से चू डा का सम्मान
र वैभव इतना बढ़ गया कि उसे अपने पूर्वजों के राज्य पर पुन: अधिकार
ने मे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। चू डा ने लगभग 41 वर्ष तक राज्य
या और 15 मार्च, 1423 ई० को भाटी और साखला लोगों के धोखे मे
कर नागौर के किले के बाहर अपने एक हजार साथियों के साथ मारा गया।
सके शासन का समय (1382 से 1423 ई०) मारवाड के विकास व सगठन
ा समय है।

चूंडा की विजय:—डा० वी० एस० भार्गव अपने शोध ग्रन्थ मारवाड
एंड दी मुगल एम्परर्स के पृष्ठ 7 पर कहते हैं कि "1383 मे मारवाड की गद्दी
र चूंडा के बैठने के साथ राठौड़ो की महत्ता एक नये युग मे प्रवेश करती है
ो फीरोज तुगलक और उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के कारण अपने राज्य
स्तार से प्रारम्भ होता है।"

चू डा की वीरता व सफलता का वर्णन करते हुए टाड महोदय भी
पनी पुस्तक के दूसरे भाग के पृष्ठ 944 पर कहते हैं कि "इस और राठौड़ो ने
पने शौर्य और आक्रमणों से अपनी ओर ध्यान आकर्षित करा लिया था।
निका वश ग्यारह शाखाओं में बिखर गया था और अब उन्हें ऊपर उठाने मे
ठिनाई नहीं थी।"

चू डा का जीवन अनेक विजयों से प्रारम्भ होता है और इन्हीं विजयों
े आधार पर उसने मण्डोर के आस पास के सारे देश को अपने अधीन कर
लिया। यहाँ तक की नागौर भी उसके राज्य की सीमा में आ गया। चूंडा की
विजय की सबसे महत्वपूर्ण प्राप्ति मण्डोर था। अत: उसकी इस महत्वपूर्ण
विजय को सबसे पहले देखें।

मण्डोर विजय:—मण्डोर मारवाड़ का केन्द्रीय भाग है जो चूंडा के
समय मे मालवा के सूबेदार के अधीन था। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार
चू डा के कई पूर्वजों ने कई बार मण्डोर पर अधिकार किया था और उसकी
रक्षा हेतु अपने प्राण गँवा दिये थे। एक महत्वाकांक्षी शासक होने के नाते
चू डा की भी यह इच्छा थी कि वह मण्डोर पर अपना स्थाई अधिकार स्थापित

कर अपने पूर्वजों की कुर्बानियों को सफल बनावे। साथ ही मण्डोर मारा
था केन्द्र था और मण्डोर हाथ में न होने से चूंडा नागौर आदि दूर दूसरे
पर स्थायी अधिकार व नियन्त्रण नहीं रख सकता था। हमें यह भी विदित
कि उसने परिहार राजाओं की लड़की से विवाह कर अपनी शक्ति को दृ
लिया था और अपनी पुत्री हंसा का विवाह मेवाड़ के राजकुमार से करा कर
ने अपनी ख्याति और दबदबे को और भी बढ़ा लिया था। इन परिस्थिति
मे दिल्ली के अयोग्य तुगलक उत्तराधिकारियों ने चूडा के लिये स्वर्ण अवस
उपलब्ध कर दिया।

चूडा की मण्डोर विजय भी उतनी ही रोचक है जितनी शिवाजी
पूना में शाइस्ताखा पर विजय। चूडा अवसर की तलाश में था तभी मण्डोर
के सूबेदार ने इदा परिहारो से घोड़ों के लिये घास की मांग की। चूडा ने ए
योजना बनाई और परिहारो से मिल कर घास की गाडियों में हथियार बन
सैनिको को छुपा दिया। जब ये गाडियाँ मण्डोर दुर्ग मे पहुँच गयी तो राठो
सैनिक घास में से निकल कर अचेत मुसलमान सैनिको पर टूट पड़े। प्रबल
आक्रमण से मुसलमान सैनिको की हिम्मत टूट गयी और दुर्ग पर राजपूतो क
अधिकार हो गया। इदा परिहारो ने किले पर अधिकार होते ही चूडा से सम
झौता किया। उन्हे यह भय था कि जो मुसलमान जान बचाकर मण्डोर
भाग गये थे वे राजस्थान में स्थित अन्य मुसलमान केन्द्र नागौर व अजमेर
सहायता लेकर मण्डोर वापस लेने की चेष्टा करेंगे। इसके साथ ही उन्हें यह भी
भय था कि चूडा भी अवसर से लाभ उठाकर उसके राज्य मे लूटमार करेगा।
अत आने वाली कठिनाइयो का अदाज लगाकर इदा परिहारों ने मुसलमानों
से बैर मोल लेना उचित नहीं समझा और मण्डोर का किला चूडा को
दिया। बदले मे चूडा ने यह वादा किया कि वह इदा परिहारो के 84 गांवों
से लूटमार या हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसी अवसर पर इदा परिहारों ने अपने
सरदार की लडकी का विवाह चूडा के साथ कर दिया और मण्डोर का किला
दहेज मे चूडा को मिल गया। चूडा के चाचा मल्लिनाथ ने भी चूडा की इस
सफलता को मान्यता देकर मण्डोर पर चूडा का अधिकार मान लिया।
वह स्वय मण्डोर गया और चूडा से आतिथ्य पाकर अपने आपको धन्य
मानने लगा।

मण्डोर विजय का चूडा की सफलताओं पर भारी प्रभाव पड़ा। अ
तक इधर उधर बिखरी हुई राठोडों की शक्ति मण्डोर में चूंडा की अधीन
मे केन्द्रित हो गयी मण्डोर के राज्य मे रेऊ के अनुसार 342 गांव थे जो
इदा परिहारो के 84 गांवों को छोड़कर चूडा के अधीन आ गये। मण्डो

अन्य जागीरदार जिन्होंने चूंडा का प्रभुत्व व सरंक्षण स्वीकार किया वे बानेमो, आमायचो, मागलियो और काटेचों के घराने थे जिनके पास 84, 84; 55 और 35 गाँव क्रमशः थे। यदि हम संक्षिप्त रूप से मण्डोर विजय के परिणाम देखें तो इस प्रकार होंगे:—

1. मण्डोर चूंडा की अधीनता में मारवाड की शक्ति का केन्द्र बन गया। इसी केन्द्र पर 1396 ई० में जब गुजरात के जफरखां ने आक्रमण किया तो चूंडा ने उसे सरलता से पराजित कर पीछे खदेड़ दिया।

2. इस परिहारों व राठौड़ों की पुरानी शत्रुता सदा के लिये समाप्त हो गयी। ये परिहार पिछली कई पीढ़ियों से राठौड़ों की पराजय और पतन के कारण बन गये थे।

3. परिहारों ने अपने 84 गाँवों का सरक्षण चूंडा को सौंप दिया जिससे अन्य जागीरदार भी उसकी अधीनता में आ गये और एक सामन्त प्रथा का विकास हुआ जो जोधा के समय तक पूर्णरूप से प्रचलित व सगठित हो चुकी थी।

4. मण्डोर को केन्द्र बनाकर चूंडा ने राज्य-विस्तार का काम शुरू किया जिसके फलस्वरूप अन्य प्रदेशों की विजय हुई।

मण्डोर विजय ने चूंडा को राठौड़ों में सर्वोपरि व सर्वशक्तिमान बना दिया और राठौड़ों की शक्ति केन्द्रित हो गयी।

अन्य विजय:—चूंडा की अन्य विजयों में नागौर व फलौदी की विजय अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वैसे तो उसने नागौर के बाद खाटू, डीडवाना, साँभर, अजमेर और नाडौल आदि को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था फिर भी नागौर के तुर्कों और फलोदी के राजा, उसके भाई जयसिंह पर उसकी विजय बड़ा महत्त्व रखती है। मण्डोर जीतने के बाद चूंडा ने अपनी शक्ति का सगठन किया और नागौर के तुर्की शासक जलालखां खोकर पर अचानक आक्रमण कर दिया। जलालखां तुगलक वंश का सूबेदार था। इस समय दिल्ली की शक्ति अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण क्षीण होती जा रही थी। दिल्ली के सुल्तान नागौर की कोई सहायता नहीं कर सके। नागौर का सूबेदार जलालखां लड़ाई में मारा गया और नागौर पर चूंडा का अधिकार हो गया। नागौर चूंडा को इतना पसन्द आया कि उसने मण्डोर तो अपने दूसरे पुत्र सत्ता को दे दिया और स्वयं नागौर में रहने लगा। इस समय से लेकर अपनी मृत्यु तक चूंडा नागौर को ही केन्द्र बनाकर रहने लगा।

को सारे मारवाड़ का मालिक बना दिया। चूंडा की सफलताओं का अवलोकन हम ऊपर कर चुके हैं उसने किस चातुर्यता से मण्डोर पर विजय प्राप्त की, परिहारों की लड़की से स्वयं शादी कर हमेशा के बैर को समाप्त कर दिया और अपनी पुत्री हंसा का विवाह मेवाड़ के राजकुमार से कर अपना मित्र और बढ़ा लिया। इन विवाह सम्बन्धों में उसकी दूरदर्शिता और महत्वाकांक्षा छिपी है। वह एक सफल सेनापति भी था और जिस साहस व पराक्रम से उसने मण्डोर, नाडौल, खाटू, डिडवाना, नागौर, अजमेर व फलोदी जीते उससे स्पष्ट है कि वह महान विजेता भी था। राजपूत सामान्यतः वीर अवश्य होते हैं किन्तु उनमें दूरदर्शिता और कूट नीति का अभाव पाया जाता है। चूंडा में जहाँ पराक्रम था वहाँ नीति निपुणता भी कम न थी। उसने अपने पराक्रम से मारवाड़ के प्रभाव को बढ़ाया।

सामन्त प्रथा का प्रारम्भ कर उसने परिहारों चौहानों, आसायचों, मांगलियों, काटेचों और बालेसों को राठौड़ों के अधीन कर लिया। ये सामन्त आगे चल कर सारे राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था का अंग बन गये। चूंडा ने छोटे छोटे सामन्तों को संरक्षण प्रदान कर एक नई व्यवस्था का आरम्भ किया। इस प्रकार वह राजस्थान के प्रशासन आदर्शों का मार्गदर्शक भी बन गया।

ओझाजी अपने 'जोधपुर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 210 से 212 के बीच इस बात से सहमत नहीं होते कि चूंडा ने नागौर जीता था। उनकी धारणा है कि उस समय नागौर पर शम्स खाँ तथा फीरोजखाँ बराबर शासन कर रहे थे। किन्तु जोधपुर राज्य की ख्यात से साफ पता चलता है कि नागौर की रक्षा करते समय चूंडा 15 मार्च 1423 ई. को धोखे से मारा गया था। टाड महोदय भी इस बात का समर्थन करते हैं। हो सकता है कि वह नागौर पर स्थाई अधिकार न कर सका हो। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि चूंडा ने मारवाड़ के शासकों का मार्ग दर्शन किया और एक सम्भावित सीमा बना दी जिसे उसके उत्तराधिकारियों ने आगे चल कर मारवाड़ राज्य को ठोस रूप प्रदान किया। डा० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 249 पर चूंडा की योग्यता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"कुछ भी हो, चूंडा ने कुछ भागों पर क्षणिक विजय को भी स्थापित कर मारवाड़ के राजनीतिक प्रभाव में एक नवीन प्रगति अवश्य उत्पन्न की थी और भावी मारवाड़ के शासकों के कार्यक्रम का पथ प्रदर्शन किया था।"

चूंडा केवल योद्धा, कूटनीतिज्ञ, या सफल शासक ही नहीं था। राजनीति से परे वह एक प्रगाढ़ प्रेमी भी था। उसे अपने परिवार से बहुत प्रेम था। उसके 14 लड़के और एक लड़की थी। अपनी रानियों में वह

मोहिलाणी रानी से बहुत प्यार करता था। इसी प्यार से अन्धा होकर उसने मोहिलाणी रानी के पुत्र कान्हा को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। उसके इस व्यवहार से अप्रसन्न होकर उसका बड़ा लड़का रणमल मण्डोर छोड़ कर नागौर चला गया था। चूंडा के चरित्र की यह दुर्बलता थी वह मोहिलाणी रानी के प्यार में इतना अन्धा हो गया था कि उसे उचित अनुचित का ध्यान तक न रहा। फलस्वरूप अन्य राजपूत उससे नाराज हो गये। चूंडा की मृत्यु के बाद भाइयों में फूट पड़ गयी और जब सांखला व भाटियों ने मिलकर पर आक्रमण किया तो रणमल ने उसकी सहायता नहीं की व मेवाड़ चला गया। कान्हा इस लड़ाई में मारा गया और लगभग चार वर्ष तक मारवाड़ की शक्ति डांवाडोल होती रही। अन्त में कान्हा के पुत्र रणधीर ने 1421 ई. रणमल को मेवाड़ से वापस बुलाकर सम्बन्धों को सुधारा। चूंडा के बाद उसके उत्तराधिकारियों में रणमल और जोधा उल्लेखनीय हैं जिन्होंने ख्याति और 51 वर्ष तक राज्य कर पूरी पन्द्रहवीं शताब्दी में मारवाड़ के राठौड़ वंश का प्रभुत्व चरम सीमा तक पहुँचा दिया एवं जोधा ने तो जोधपुर नगर को बसाया। इस प्रकार चूंडा के इन योग्य उत्तराधिकारियों ने चूंडा के कार्य को पूरा किया।

अध्याय 10

राणा सांगा

महाराणा साँगा

"महाराणा साँगा का मँझला कद, मोटा चेहरा, बड़ी आँखें, लम्बे हाथ, और गेहुँआ रँग था। यह दिल के बड़े मजबूत थे। इनकी जिन्दगी में इनके बदन पर चौरासी जख्म शस्त्रों के लगे थे। एक आँख बेकाम, एक हाथ कटा हुआ और एक पैर लँगड़ा, ये भी लड़ाई की निशानियाँ उनके अँग पर मौजूद थीं।" राणा के प्रभावशाली व्यक्तित्व का यह रोचक वर्णन 'वीर विनोद' के पहले भाग में पृष्ठ 371 पर दिया है।

महाराणा साँगा का जन्म 24 मार्च 1481 ई. को हुआ था। ये सत्ताईस वर्ष की अवस्था में मेवाड़ की गद्दी पर बैठे थे। इनका राज्याभिषेक 4 मई 1508 ई. को हुआ था और बीस वर्ष शासन करने के बाद 30 जनवरी 1528 ई. को बसवा नामक स्थान पर उनका देहान्त हो गया।

टाड महोदय 'राजस्थान के इतिहास' के पृष्ठ 178 पर लिखते हैं कि—"वह अत्यंत साहसी और धैर्यवान था। पराजित शत्रु पर सदा रहम करता था और उसके साथ अपनी उदारता का परिचय देता था।"

श्री गहलोत अपनी पुस्तक राजपूताने का इतिहास के पृष्ठ 217 पर राणा की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि—"मेवाड़ के महाराणाओं में ये सबसे अधिक प्रतापी और योद्धा हुए। अपने पुरुषार्थ द्वारा इन्होंने मेवाड़ राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था। उनकी सेना में एक लाख योद्धा और पाँच सौ हाथी थे। सात बड़े राजा, नौ राव, और 104 रावत उनके अधीन थे। जोधपुर और आमेर के राजा उनका सम्मान करते थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकर, भोपाल, कालपी, चन्देरी, बूँदी, गागरौन, रामपुरा और आबू के राजा उनके सामन्त थे।......बाबर बादशाह का सामना करने से पहले भी इन्होंने 18 बार बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ दिल्ली और मालवा के सुल्तानों के साथ लड़ी।"

राणा साँगा अपने समय का पराक्रमी नेता था। उसके समान शक्तिशाली और वीर दूसरा राजा उस समय भारत में नहीं था। इतिहासकार स्मिथ अपनी पुस्तक दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया के पृष्ठ 322 पर राणा

तरा चाचा सूरजमल था जो तीनों के मर जाने पर स्वयं मेवाड़ का राणा बनना चाहता था। सूरजमल ने मालवा के बादशाह मुजफ्फर को भड़काया और चित्तौड़ पर आक्रमण किया किन्तु हारकर भागना पड़ा। इस प्रकार साँगा की अनुपस्थिति में पृथ्वीराज ने मेवाड़ की रक्षा की।

पृथ्वीराज को उसके बहनोई जो सिरोही के राजा थे, ने भोजन में जहर देकर मार डाला। इस राजा का व्यवहार पृथ्वीराज की बहन के प्रति अच्छा नहीं था। उसकी बहन ने उसे पत्र लिख कर मिलने को बुलाया था। पृथ्वीराज अपने बहनोई को समझा कर लौट रहा था उसके बहनोई ने मार्ग में खाने के लिये कुछ लड्डू रख दिये थे जिनमें जहर था। इन लड्डुओं को खाते ही पृथ्वीराज मर गया। राणा रायमल इस सदमे को नहीं सह सके और उनका भी देहान्त हो गया।

जब साँगा को यह पता चला तो वह फौरन चित्तौड़ आ पहुँचा और जो कमजोरियाँ राज्य में पैदा हो गई थी वे साँगा के आते ही अपने आप समाप्त हो गई। टाड महोदय का कहना है कि—"संग्रामसिंह न केवल शूरवीर और दूरदर्शी था, बल्कि वह एक सुयोग्य शासक भी था। राणा कुम्भा के बाद मेवाड़ राज्य ने जो कुछ खोया था, राणा संग्रामसिंह के अधिकार पाते ही राज्य ने उसे फिर पा लिया।"

भाइयों के इस आन्तरिक क्लेश का कारण कदाचित रायमल की विभिन्न रानियाँ थी जो अपनी सन्तान को मेवाड़ का राणा बनाना चाहती थी। एक तरफ तो मेवाड़ आन्तरिक लड़ाइयों का शिकार बन रहा था और दूसरी तरफ पड़ोसी राज्य शक्ति संचय कर रहे थे। मारवाड़ और आमेर की शक्ति बढ़ती जा रही थी। बूंदी के हाड़ा भी मेवाड़ के अधीन रहकर भी अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। कुम्भा की मृत्यु के बाद उदयसिंह ने अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये आबू सिरोही को लौटा दिया। अजमेर में तारागढ़ का किला जोधपुर को दे दिया। मेड़ता के सामन्त दूदा ने साँभर पर अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रकार राजस्थान के सभी अधिक राजा भी मेवाड़ के प्रभाव से मुक्त होकर मेवाड़ का अस्तित्व मिटाने को उत्सुक थे।

हिन्दू राजा ही नहीं पड़ोसी मुसलमान राजाओं ने भी मेवाड़ को अपना आखेट मैदान बना रखा था और आये दिन मेवाड़ पर चढ़ आते थे। मालवा और गुजरात के सुल्तान मेवाड़ के घोर शत्रु थे। दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को भी मेवाड़ की बढ़ती हुई शक्ति की भारी चिन्ता थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक जीवन में ही साँगा को अपने भाइयों का विरोध, पड़ोसी हिन्दुओं की ईर्षा, मालवा और गुजरात के सुल्तानों की बढ़ती

राज्य विपासा और दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी का प्रतिद्वन्द्वी सामना करना था। यह सांगा का ही अदम्य साहस था कि वह [illegible] विरोधो को समेटने मे तो सफल रहा किन्तु बाबर के विरुद्ध जीवन में दूसरी और आखरी बार उसकी पराजय हुई जिसके कुछ दिन बाद उसी के [illegible] ने उसे जहर देकर मार डाला। उसका सारा जीवन युद्धों में बीता, [illegible] शरीर के विभिन्न घाव उसके तगमे थे और कटा बढा शरीर भी उसके [illegible] व्यक्तित्व का प्रतीक था।

महाराणा के 28 रानियां थी और कुल सात पुत्र और चार [illegible] कुमारियां थी। उनके बाद जोधपुर की रानी धनबाई से उत्पन्न [illegible] मेवाड का राणा बना। अपने 20 वर्ष के शासन मे सांगा सदा युद्धों में [illegible] रहे अत भवन, मदिर या किले आदि का निर्माण नही कर सके। सांगा [illegible] विनम्र और नीतिकुशल थे। दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी से युद्ध में एक हाथ कट जाने और घुटने मे तीर लग जाने से उन्होंने अपने [illegible] अपाहिज समझकर दरबारियो से आग्रह किया कि सिंहासन पर किसी अन्य व्यक्ति को बिठा दें। उनकी घोषणा इस प्रकार थी—"जिस प्रकार एक टूटी मूर्ति प्रतिष्ठा-पूजने के योग्य नही रहती, इसी प्रकार मेरी आंख, हाथ पांव निकम्मे हो गये हैं। इसलिये मैं राजसिंहासन पर न बैठकर जमीन पर ही बैठूंगा। इस स्थान पर जिसे उचित समझें बिठावें।" इस विनम्रता से दरबारी बहुत प्रभावित हुए और सबने राणा से सिंहासन पर बैठने का आग्रह किया। सब बोले कि—"रण क्षेत्र मे अग भग होने से राजा का गौरव बढ़ता है न कि घटता।" और सबने मिलकर उन्हें सिंहासन पर बिठा दिया। जिस सिंहासन के लिये सांगा को अपने भाइयो से युद्ध करना पड़ा था उसी सिंहासन पर दरबारी उन्हें आग्रह कर बिठा रहे थे। यह राणा की योग्यता व नीति की पराकाष्ठा है।

उनके अन्तिम प्रतिद्वन्द्वी बाबर के हृदय मे भी राणा के लिये आदर श्रद्धा थी। उसने अपनी जीवनी मे स्वयं राणा के शौर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"राणा सांगा अपनी वीरता और तलवार के बल पर [illegible] बड़ा हो गया था। मालवा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हराने मे असमर्थ था। उसने लगभग दो सौ शहरों की मस्जिदें गिराई और बहुत से मुसलमानों को कैद किया। उसके राज्य की वार्षिक आय दस करोड़ थी। उसकी सेना में एक लाख सैनिक थे। महाराणा सांगा के [illegible] [illegible] वैसे ही [illegible] होते तो मुगलों का राज्य भारत में [illegible] नहि [illegible]।"

अब हम यह देखें कि बीस वर्ष के [illegible] [illegible] में कौन [illegible]

त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिन्होंने राणा को भारत के इतिहास में अमर
दिया।

1. हिन्दूपद—भारतीय इतिहास में केवल दो ही ऐसे हिन्दू राजा हैं
होंने ऐसे समय भारतीय धर्म, संस्कृति और परम्पराओं की रक्षा करते हुए
धर्म को विनाश से बचा लिया। एक शिवाजी और दूसरे राणा सांगा ने
समय देश को विनाश से बचाया कि यदि ये दोनों नहीं होते तो उस
य सारा भारत मुसलमानों के प्रभाव में आ जाता और कदाचित हिन्दुत्व के
तत्व को भारी आघात पहुँचता। शिवाजी ने मुगल बादशाह औरंगजेब
दमनकारी नीति का कड़ा विरोध किया और 'हिन्दू पद बादशाही' की
ना की। मराठा इतिहासकार सरदेसाई अपनी पुस्तक छत्रपति शिवाजी
न्हें हिन्दू सम्राट् के समान मानता है। उसी भावना से प्रेरित होकर
हरविलास शारदा अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में मेवाड के इस
राणा को हिन्दू धर्म का रक्षक, भारतीय संस्कृति का रखवाला और मुसलमान
के बढ़ते प्रचार को रोक लगाने वाला मानकर हिन्दू सम्राट् मानते हैं,
ने हिन्दूपद की रक्षा कर भारत में एक हिन्दू राज्य स्थापित किया। सांगा
हिन्दू सम्राट् बनाने वाले कुछ महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं—

1. आशावादी सन्देश—पृथ्वीराज के पतन के बाद से हिन्दू धर्म पर
... ढकर मस्जिदें बना देना, नौकरी
देना आदि ऐसी अनेकों घटनाएँ
... हा से भयभीत थे कि यदि यही
अनुयायी हो जायगा। ऐसे सकट
... के मुसलमान सुल्तान निरंतर
... हते थे उस समय राणा सांगा ने
... र नया आश्वासन देकर उनकी
... कन का कहना है कि—"उसके
... थे कि मेवाड की दुर्गम घाटी
... , एक स्थानीय शासन स्थापित
का प्रयत्न कर रहा है।"

2 हिन्दू परम्परा—हरविलास शारदा अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा'
ष्ठ 57 पर कहते हैं कि "महाराणा सांगा ने 16वीं शताब्दी में एक ऐसा
राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जो प्राचीन भारत की परम्पराओं
आधारित था। "राणा सांगा अपने पैतृक राज्य को प्राचीन भारतीय
टो के राज्य के समान बनाना चाहते थे जिसमें प्रजा का सुख ही राज्य
जा का एकमात्र लक्ष्य होता था। युद्ध में घायल होने के बाद एक हाथ,

एक टाँग व एक आँख न रहने पर उन्होंने गद्दी छोड़ देने का आग्रह किया था। स्पष्ट है कि सांगा राज्य अपने सुख के लिये नहीं, जनता के लिये समझते थे। राज्य पर निजी अधिकार के साथ साथ सांगा जनता को प्राथमिकता देते थे। उन्हें जनता के हित के लिये राज्य त्यागने में संकोच नहीं था। अपने पूरे शासन काल में राणा यही चेष्टा करते रहे कि प्राचीन हिन्दू राज्य परम्परा का पुनरुद्धार हो। इस दृष्टिकोण से भी वे हिन्दू राज्य स्थापना का समर्थन करते हैं।

3. हिन्दू राज्य—हर विलास शारदा लिखते हैं कि—"मेवाड़ के महाराणाओं में सांगा सर्वाधिक प्रतापी शासक हुए हैं। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से मेवाड़ को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था। यद्यपि वे भारत से मुसलमानों को निकालकर एक छत्र हिन्दू राज्य स्थापित करने में असफल रहे थे।" इस पद कहने का अभिप्राय यह है कि देश में हिन्दू राज्य स्थापित करने की... यही कारण है कि उन्होंने मालवा, गुजरात, दिल्ली, जौनपुर, बंगाल, और आदि शक्तिशाली मुसलमान राज्यों के विरुद्ध भारत के बीच एक हिन्दू शक्तिशाली राज्य स्थापित कर दिखाया। उन्होंने मालवा के सुल्तान को पराजित कर उसका आधा राज्य छीन लिया। दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को दोबार हराया और गुजरात के शासक के भी दाँत खट्टे कर दिये। इन शक्तिशाली शासकों की कभी मेवाड़ पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं हुई। अतः सांगा सफल हिन्दू राज्य संस्थापक था।

4 संस्कृति की रक्षा—राणा सांगा मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच एक दीवार बनकर खड़े थे। दिल्ली और मालवा आदि के मुसलमान जहाँ जहाँ अवसर मिलने पर हिन्दू संस्कृति को मिटा देते थे। राणा ने इसकी प्रतिक्रिया शुरू की। एक ही उदाहरण द्वारा उन्होंने यह बता दिया कि हिन्दू भी मुसलमानों के स्थान नष्ट कर सकते हैं उन्होंने ईडर की मस्जिद को नष्ट करके उसके स्थान पर एक मन्दिर बनवा दिया। श्री शारदा का मत है कि वे भारत से तुर्कों को निकाल कर हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहते थे। उनकी सेना व झण्डे के नीचे भारतीय अफगान लोग बाबर के विरुद्ध लड़े किन्तु फिर भी सांगा का हर युद्ध भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये और हिन्दू राज्य की स्थापना के लिये था। उन्हें आशा थी कि बाबर भी अन्य आक्रमणकारियों की तरह दिल्ली की शक्ति नष्ट करके चला जायगा और तब वे दिल्ली पर हिन्दू राज्य स्थापित करेंगे। किन्तु जब बाबर नहीं गया तो सांगा ने उससे भी युद्ध किया, यदि जीत जाते तो भारत में हिन्दू राज्य स्थापित होता और संस्कृति की रक्षा होती। कुछ इतिहासकार इस युद्ध को धर्म युद्ध नहीं मानते किन्तु सांगा ने समस्त हिन्दू राजाओं को

कर हिन्दू राज्य व धर्म की रक्षा के लिये तथा विदेशी आक्रमणकारी को भारत माता से बाहर निकालने के लिये ही यह युद्ध बाबर से लड़ा था। संस्कृति की रक्षा के यत्न में सांगा ने अपना राज्य व जीवन खो दिया।

5. सीमित अधिकार—प्राचीन हिन्दू परम्परा यह थी कि पड़ोसी राज्यों पर अपना प्रभुत्व थोपा नहीं जाता था। दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी दक्षिण भारत के राज्यों को जीतकर वापस उनके राजाओं को दे दिया था। सांगा ने भी मेवाड़ की परम्पराओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने वाले राजाओं पर थोपा नहीं था। अधीन राजाओं के लिये यह भी आवश्यक नहीं था कि वे प्रतिवर्ष निश्चित् कर या भेंट लेकर चित्तौड़ हाज़िर हों या युद्ध के समय अपनी सेना सहित राणा के अधीन खड़े रह कर युद्ध करें। राणा की सेना का खर्च भी अधीन राजाओं पर नहीं थोपा गया था। यह किसी दुर्बलता या भय का परिणाम न होकर सांगा की सीमित अधिकार नीति का [illegible] ज्यों की परम्परागत थी। इस दृष्टिकोण

6. [illegible] भावना—राणा सांगा एक विशाल साम्राज्य के स्वामी थे। उनके अधीन सात बड़े राजा, नौराव और 104 रावत थे। टाड महोदय अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 174 पर कहते हैं कि—"राणा संग्रामसिंह के शासन काल में मेवाड़ राज्य की सीमा बहुत दूर तक फैल गयी थी। उत्तर में बीना, पूर्व में सिन्धु नदी, दक्षिण में मालवा और पश्चिम में मेवाड़ की दुर्गम शैलमाला उनकी सीमा बन गयी थी। मेवाड़ के राज्य की यह उन्नति राणा संग्रामसिंह की योग्यता, गम्भीरता और दूरदर्शिता का परिचय देती है।" पूरे राजस्थान पर सांगा का अधिकार था। टाड महोदय 173 पृष्ठ पर कहते हैं कि—"संग्रामसिंह के सिंहासन पर पैर रखते ही मेवाड़ राज्य ने उन्नति आरम्भ की और कुछ समय के बाद वह भारत का चक्रवर्ती राजा माना गया।" इस वाक्य से सांगा की साम्राज्यवादी भावनाएँ स्पष्ट हैं। सांगा अन्य राज्य को अपने साथ मिलाकर रखने में भी विश्वास रखते थे जो संघात्मक शासन का रूप होता है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने विश्वासपात्र चतुर सामन्त हुसरो बालावत (चौहान) को अनेक राजाओं के पास भेजकर 'पातीपेसन' अर्थात् पत्र पाकर सहायता देने की परम्परा को अपनाया। बाबर के विरुद्ध युद्ध से पहले भी सांगा ने इसी व्यक्ति को भेजकर अन्य राजाओं से सहायता व संगठन प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि समकालीन राजा सांगा की शक्ति का लोहा मानते थे और उसके सैनिक बल व शक्ति से प्रभावित थे। उनका संगठन भावनाओं और सिद्धान्तों का था। अतः अप्रत्यक्ष रूप से सांगा साम्राज्यवादी भावनाओं का पालन कर रहे थे। पड़ोसी उनके आधिपत्य को स्वीकार कर सदा आज्ञा मानने को तैयार थे। इसी साम्राज्यवादी भावना

से प्रेरित होकर राणा सांगा ने पड़ोसी बड़े राजवंशों में विवाह सम्बन्ध स्थापित किये। मारवाड़, बूंदी और अन्य कई राजवंशों को मेवाड़ से विवाह सम्बन्ध में बांधकर सांगा ने अपने साम्राज्य को और अधिक सुदृढ़ बनाया। राणा सांगा के 28 रानियां थी। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसीन, कालपी, चन्देरी, बूंदी, गागरोन, रामपुर और आबू आदि कितने ही राज्यों के राजा मेवाड़ के सामन्त होकर चलते थे। सांगा ने एक हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की थी।

मालवा और सांगा

डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' का प्रारम्भ इस वाक्य से करते हैं कि—"वीर गहलोतों का मेवाड़ एक रोमांचकारी इतिहास रखता है जिसकी बराबरी करने वाला अन्यत्र नहीं मिलता।"

डॉ० गोपीनाथ जी सांगा के हिन्दू राज्य स्थापित करने के प्रयत्न के लिये उसे मान्यता देते हुए कहते हैं कि—"सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दू भारत का नेतृत्व उसके भाग्य में लिखा था।" हिन्दू राज्य की कामना करने वाले को पड़ोसी मुसलमानों से लड़ना स्वभाविक ही था। सांगा का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी मालवा का मुसलमान शासक महमूद खिलजी द्वितीय था। मालवा से सांगा के सम्बन्धों का अध्ययन करने से पहले हमें मालवा की दशा जान लेना आवश्यक है।

मालवा की दशा —1401 ई० से मालवा के तुगलक सूबेदार स्वतन्त्र हो गये थे। मालवा को महमूद तुगलक की अधीनता से मुक्ति दिलाने का श्रेय दिलावरखां था। उसके समय से 130 वर्ष तक अर्थात् 1530 ई० तक उसके उत्तराधिकारी पूर्ण स्वतन्त्र रूप से मालवा का शासन करते रहे थे। इस दौरान मेवाड़ से मालवा के सुल्तानों के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। राणा कुम्भा ने भी मालवा के सुल्तान को कई बार लड़ाई में हराया था और एक बार तो उसे बन्दी बना कर छह महीने तक चित्तौड़ की जेल में रखा था। मालवा में रहने वाले हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के अत्याचार होते थे, जिन्हें रोकने के लिये मेवाड़ के हिन्दू राजाओं ने अनेकों बार हस्तक्षेप कर धर्म रक्षा के लिये युद्ध किये थे।

फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद और तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की शक्ति को समाप्त कर दिया था। तभी कई मुसलमान सूबेदार स्वतन्त्र हो गये थे जिनमें से एक मालवा के सूबेदार भी थे। ये लोग धीरे धीरे अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहते थे। मेवाड़ का हिन्दू राज्य मालवा और दिल्ली के बीच में दीवार था। अतः मालवा के सुल्तान मेवाड़ को अपने अधीन कर अपनी शक्ति को उत्तर में बढ़ाना चाहते थे। राणा सांगा के समय में भी इसी प्रकार की योजनाएं चल रही थीं। मुसलमानों में साधारणतः उत्तराधिकार के लिये

द चलते रहते हैं। साँगा के समय मे भी यही हुआ और यही उत्तराधिकार
। प्रश्न मेवाड और मालवा के युद्ध का प्रमुख कारण बन गया। मालवा
हिन्दू विरोधी, साम्राज्यवादी भावनाओं से ओत-प्रोत था। फलस्वरूप दोनों मे
द्ध हुए।

द्ध के कारण:—

1. मालवा और मेवाड की सदियों पुरानी शत्रुता थी। सन् 1401 मे
पने जन्म से लगाकर 1530 मे अपनी स्वाधीनता के अन्त तक मालवा
ामिक भिन्नता के कारण मेवाड़ का शत्रु बना रहा। मेवाड के राणा भी
हिन्दुओं की रक्षा के लिये सदा मालवा से लडते रहे। यह शत्रुता एक उत्तरा
धकारी को विरासत मे मिलती थी।

2. साम्राज्य बढाने की भावना से दोनों एक दूसरे के शत्रु थे। मेवाड
ी सीमावर्ती रियासतों को मालवा के सुल्तान हजम कर जाना चाहते थे बूँदी,
डिलगढ़, जहाजपुर आदि क्षेत्रों पर अधिकार करने की अनेक चेष्टाएँ की
ईं। मेवाड में कुम्भा और सांगा जैसे पराक्रमी राणा हुए तो मालवा मे भी
हमूद प्रथम व द्वितीय बडे महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी सुल्तान थे। दो
राबर की शक्तियां एक साथ कैसे रह सकती थी अत दोनों ही सदा एक
सरे की दुर्बलता से लाभ उठाकर राज्य जीतने की चेष्टा करते रहे।

3. मालवा का उत्तराधिकार युद्ध इस लडाई का तत्कालीन कारण
ा। सन् 1511 ई० में मालवा के सुल्तान नासिरुद्दीन का देहान्त हो गया।
सका लडका महमूद द्वितीय मालवा का सुल्तान बना किन्तु तभी महमूद के
ाई माहिखां ने सरदारों को अपनी तरफ मिला कर षडयन्त्र रचा और
हमूद को हटाकर खुद सुल्तान बन गया। उस समय राजपूत सरदार मेदनी
राय ने महमूद को अपनी शक्ति के बल से वापस गद्दी पर बिठा दिया। महमूद
। प्रसन्न होकर मेदनी राय को अपना सेनापति बना दिया। साथ ही उसे
ालवा का वजीर भी नियुक्त किया। षडयन्त्रकारियों को अपनी असफलता
ा इतना अफसोस नहीं था जितना मेदनी राय के वजीर बनने का। अत
न्होंने मेदनी राय को पद से हटाने के लिये महमूद के कान भरने शुरू किये।
न्होंने गुजरात के सुल्तान से भी सहायता मांगी। जिस समय मेदनी राय
वद्रोहियों का दमन करने ही वाला था तभी गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह
े मालवा पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण विद्रोहियों के आग्रह पर किया
गया था। महमूद ने समझा कि यह सब परेशानी मेदनी राय के कारण है
अत: उसने मेदनीराय को मरवाने का षडयन्त्र रचा किन्तु असफल रहा।
षडयन्त्र में असफल रहने पर महमूद डरकर गुजरात के सुल्तान के पास सहायता

के लिये रवाना हुआ। गुजरात की सेना ने चन्देरी घेर ली और सुल्तान [illegible] चारों ओर की नाकेबंदी। मेदनीराय राजपूत था, [illegible] सहायता के लिए आया। सांगा ने मेदनीराय का अपनी सेना की [illegible] इस समय तक महमूद गुजरात की सहायता से मांडू पर अपना [illegible] चुका था पर अब उसे कोई लाभ नहीं था। राणा सांगा ने मेदनी[illegible] गागरोन ही जागीर दे दी। इससे भी महमूद चिढ़ गया और [illegible] नष्ट करने का बहाना मिल गया। महमूद अपने दरबार [illegible] मेदनीराय को इसलिये नहीं देख पाता था कि उसने [illegible] गुजरात बनाया था। जबकि राणा सांगा उसको इसलिए [illegible] था क्योंकि वह हिन्दू था। मेदनीराय को लेकर दोनों में युद्ध हो गया।

4 नत्थू का मारा जाना भी मेवाड़ द्वारा मालवा पर आक्रमण का एक कारण था। नत्थू मेदनी राय का लड़का था। वीर विनोद दूसरे जिल्द के पृष्ठ 356 पर यह कारण दिया है कि जब महमूद गुजरात के सुल्तान की सहायता लेकर मांडू पर चढ़ आया तो मेदनीराय दस हजार सवारों के साथ लेकर राणा सांगा से मदद लेने मेवाड़ में आया। उसी समय महमूद ने मांडू को घेर लिया। नत्थू को मेदनीराय यह एक महीने में सहायता ला लौट आने को कह गया था। नत्थू ने महमूद को आत्मसमर्पण करने का वचन दिया और एक महीने का समय मांगा किन्तु 20 दिन बाद ही महमूद ने मांडू का किला घेर लिया और चार दिन की लड़ाई के बाद रात्री को इसके सैनिक किले पर चढ़ गये। रात्री के युद्ध मे 19000 राजपूत और हजारों मुसलमान मारे गये। साथ में नत्थू भी मारा गया। मांडू पर महमूद का अधिकार हो गया। राणा की यह धारणा बन गई कि सहायता में विलम्ब हो जाने से शरणार्थी का पुत्र मारा गया। अतः उन्होंने इस हत्या का बदला लेने के लिये मालवा पर आक्रमण किया। गुजरात का सुल्तान इस समय वापस गुजरात चला गया था क्योंकि उसे खुद इस समय राणा सांगा के आक्रमण का भय था। नत्थू की मृत्यु ने युद्ध को और जल्दी शुरू करवा दिया।

युद्ध.—इधर महमूद भी चुप नहीं था। जब उसने देखा कि सांगा मेदनीराय की मदद को आते आते रास्ते से लौट गये तो उसकी हिम्मत बढ़ी और उसने अपनी पूरी शक्ति के साथ गागरोन पर आक्रमण कर दिया। गुजरात के सुल्तान ने उसे समझाया था कि आक्रमण करना हानिकारक सिद्ध होगा। किन्तु महमूद ने समझा राणा डर गया है जबकि राणा नत्थू की मृत्यु का हाल सुनकर लौट आये थे क्योंकि जिसकी मदद को जा रहे थे वही नहीं रहा तो जल्दी करने से लाभ। किन्तु महमूद ने एक के बाद दूसरी विजय पाने को आक्रमण कर दिया। युद्ध मे मुसलमानों की घातक पराजय हुई। इस लड़ाई

महमूद के 32 सेनापति और आमिफखाँ आदि हजारों बहादुर मारे गये
तान महमूद बडी वीरता से लडा आखिरकार घायल होकर घोडे से गि
ा। राजपूतों ने उसे उठाकर महाराणा के पास पहुँचा दिया। महाराणा ने
लकी मे बिठाकर उसको इज्जत के साथ चित्तौड ले आये। वहाँ उसका
ाज करवाया और ठीक होने पर बहुत सा धन और एक जडाऊ ताज लेकर
क हजार राजपूतो के साथ उसे माँडू भेज दिया। महमूद के एक लडके को
ने पास जावतें के लिये रख लिया कि फिर युद्ध न लडे। निजामुद्दीन अहमद
नी पुस्तक तवकाते अक्बरी' में लिखता है कि—'लडाई में फतह पाने के
द दुश्मन को गिरफ्तार करके पीछे उसको राज्य दे देना, यह काम आज
क मालूम नहीं, कि किसी दूसरे ने किया हो।" वैसे सिकन्दर ने पोरस को
दी बनाकर राज्य वापस दे दिया था। जो हो राणा इस युद्ध में विजयी रहे
र उन्होंने मालवा का आधा राज्य अपने राज्य में मिला लिया। हर विलास
रदा राणा सांगा के इस कार्य की कडी आलोचना करते हैं कि यह राज-
ीतिक अदूरदर्शिता का परिणाम था।

डॉ॰ गोपीनाथ [illegible] लिखते हैं कि—

कर बन्दी बनाया

साथ उसके घावों

[illegible], स्वयं उसकी देखभाल की और स्वस्थ होने पर एक हजार
ैनिकों के साथ उसे माँडू भेज दिया।"*

मालवा विजय का परिणाम अच्छा निकला। राणा को बहुत सा उप-
जाऊ प्रदेश प्राप्त हुआ जो आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभदायक था। इस लडाई
और विजय से राणा सांगा का हिन्दू साम्राज्य भी और विस्तृत हो गया। राणा
की ख्याति बहुत बढ़ गई और इतिहासकारों ने राणा की विजय का वर्णन
बडी श्रद्धा से किया है। मेवाड़ और मालवा के बीच इस राजनीतिक प्रभुत्व के
संघर्ष में राणा सांगा की विजय हुई।

साँगा और गुजरात

मालवा के साथ साथ, तैमूर के आक्रमण के बाद गुजरात भी 1401
में स्वतन्त्र हो गया था। यहाँ के सूबेदार जाफरखाँ ने अपने आपको सुल्तान
बना लिया था। तब से 1835 में हुमायूँ द्वारा गुजरात की विजय तक गुजरात
एक स्वतन्त्र राज्य रहा। इस बीच मेवाड और गुजरात के बीच सदा तनावपूर्ण

* डॉ॰ गोपीनाथ मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स—पृष्ठ 17।

स्वयं ईडर पर आक्रमण किया और उसे लूट लिया । वीर विनोद के अनुसार उसने एक जानवर का नाम सग्रामसिंह रख कर ईडर के दरवाजे मे बाध । सांगा को जब यह समाचार मिला तो वह फौज लेकर चढ़ आया । कारणों से दोनों में युद्ध हुआ ।

युद्ध.—महाराणा ने 1518 मे चित्तौड़ से कूच किया । एक ही दिन में र को जीत लिया । मुसलमानों ने पहले ही ईडर छोड़ कर अहमदनगर मे ण ले ली थी । सांगा ने अहमदनगर को घेर लिया । थोड़े से युद्ध के बाद मदनगर के किले का फाटक तोड़कर राजपूत अन्दर घुस गये । राजपूतों किले को लूटा और आगे बढ़ गये । इसी अभियान में राणा ने नगर, बीसलनगर और अन्य गुजरात के प्रदेश को लूटा और वापस चित्तौड़ गया ।

अपने सेनापतियों की हार का बदला लेने को सुल्तान ने 1520 ई मेवाड़ पर आक्रमण किया जिसमें 30,000 सवार, सौ हाथियो ने भाग या । उसने बांसवाड़ा को लूटा । सांगा भी फौज लेकर मदसौर के पास था और घमासान युद्ध हुआ किन्तु विजय किसी को नहीं मिली । राजपूतों संख्या अधिक देख गुजरात के सुल्तान ने सन्धि कर ली और वापस चला ।

आगे चलकर 1524 में गुजरात के सुल्तान का लड़का बहादुर खाँ ने भाई की शत्रुता और आमदनी की कमी के कारण नाराज होकर राणा गा के पास चित्तौड़ चला आया । महाराणा की माता ने उसे अपना बेटा माया और वह बहुत समय तक चित्तौड़ में रहा । सांगा ने अपने सफल अभियान में गुजरात को लूटा, ईडर पर अपना प्रभुत्व जमाया और गुजरात उत्तराधिकारी को अपने यहाँ शरण देकर अपने प्रभुत्व की धाक चारों र फैला दी ।

सांगा और इब्राहीम लोदी

राणा सांगा का तीसरा मुसलमान प्रतिद्वन्द्वी दिल्ली का सुल्तान ब्राहीम लोदी अपने पिता की नीति का अनुकरण करने वाला था । वह सारे रत को अपने अधीन करना चाहता था । इसलिये उसने राजस्थान के प्रमुख राज्य मेवाड़ पर आक्रमण किया । मेवाड़ की पराजय के बिना सुल्तान को समारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की आशा नहीं थी इसलिये उसने ने सेनापति मखन मियाँ की अधीनता में एक सेना तैयार की । उसके थ उस समय के विख्यात अफगान सेनापति मियां मारूफ को भी भेजा । इस

प्रकार इब्राहीम लोदी की सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करने की इच्छा मेवाड़ में रुकने पर बाधा कर दिया।

युद्ध का दूसरा कारण यह था कि राणा सांगा भी [illegible] में विश्वास करते थे। उन्होंने उत्तर में अपना राज्य बयाना तक [illegible] था जो मुसलमानों को एक चुनौती थी। आगरा के इतना नजदीक तक राज्य का विस्तार किसी भी दिल्ली आगरा के सुल्तान के लिये एक [illegible] थी। श्री हरबिलास शारदा अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में [illegible] कि — "जब इब्राहीम अपने भाई जलाल खाँ के विरुद्ध संघर्ष में लीन था उस समय राणा सांगा ने बयाना तक के प्रदेश पर अधिकार कर आगरा के सुल्तान को राजनीतिक चुनौती दी थी।" राणा सांगा ने दिल्ली के आन्तरिक [illegible] लाभ उठाकर बयाना जीत लिया था अब आन्तरिक क्लेश समाप्त होने पर इब्राहीम लोदी के लिये आवश्यक था कि वह बयाना ही वापस नहीं ले वरन् अपने प्रतिद्वन्द्वी हिन्दू राणा को भी पराजित करे।

डॉ० अवध बिहारी पाण्डे अपनी पुस्तक 'फर्स्ट अफगान एम्पायर इन इंडिया' में दोनों के युद्ध का मूल कारण मालवा को बताते हैं। मालवा पहले दिल्ली के अधीन था और बिना मालवा पर अधिकार किये दक्षिण भारत पर अधिकार सम्भव नहीं था। राणा सांगा भी इस पुराने पुश्तैनी शत्रु को पराजित कर मेवाड़ का क्षेत्र बढ़ाना चाहते थे। हम देख ही चुके हैं कि आगे चलकर राणा ने आधा भाग अपने राज्य में मिला लिया। अत. मालवा दो आक्रमणकारियों के बीच पड़े मांस की [illegible] था, जिसे दोनों ही उठा लेना चाहते थे। डॉ० अवधबिहारी पाण्डे के शब्दों में — "मालवा का राज्य राणा सांगा और सुल्तान इब्राहीम लोदी के [illegible] कबाब में हड्डी की तरह था।" अत: इसके प्रश्न को लेकर भी दोनों में युद्ध आवश्यक था।

वीर विनोद के पृष्ठ 354 पर एक और कारण दिया है कि राणा [illegible] ने गद्दी पर बैठते ही 1508 ई. मे अजमेर पर अपना अधिकार जमा लिया तथा अजमेर का नागौर का पट्टा कर्मचन्द पुवार के नाम लिख दिया। [illegible] कर्मचन्द की सेवाओं से बहुत प्रसन्न थे उन्ही के बदले में यह पट्टा कर्मचन्द के नाम लिखा गया। जब दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी ने यह सुना कि राणा ने शाही मुल्क पर अधिकार कर लिया है, तो वह खामोश न रह सका और भारी सेना के साथ मेवाड़ की तरफ कूच किया।

युद्ध — इब्राहीम लोदी की सेना में 30,000 घुड़सवार और [illegible] हाथी थे। जैसे ही वह मेवाड़ की सीमा के पास पहुँचे कि राणा ने उनका मुकाबला किया। मेवाड़ के वर्तमान जिले [illegible] में स्थित खातोली के [illegible]

करौल के मैदान मे युद्ध हुआ । यह युद्ध खातोली के नाम से विख्यात है । पहर तक युद्ध चलता रहा । लगभग नौ बजे से दो बजे तक पाँच घन्टे मे ही फौज भागने लगी । दिल्ली सेना का भारी संहार हुआ । मियां मक्खन था उसके सैनिक घबरा कर भाग खड़े हुए । इब्राहीम ने अपनी भागती फौज को रोकने की बहुत चेष्टा की पर असफल रहा और खुद भी भाग खड़ा हुआ । सी युद्ध मे सांगा का एक हाथ कट गया और घुटने मे तीर लगने से वह लँगड़ा भी हो गया । राजपूतो ने बूँदी के पास खाटोली मे भागती मुसलमान ना पर आक्रमण किया और भारी संख्या मे उन्हे मार डाला । इब्राहीम लोदी की इस पराजय का वर्णन बाबर ने अपनी आत्मकथा मे भी किया है ।

इब्राहीम लोदी ने अपनी हार का बदला लेने के लिये फिर आक्रमण किया किन्तु दूसरी बार भी वह हार गया । इस विजय के बाद राणा सांगा ने डावती और मेवात की भूमि को अपने राज्य मे मिला लिया । बयाना पर उनका स्थायी अधिकार हो गया । इस विजय के साथ राणा सांगा की उत्तर विजय पूर्ण हो गई । हर बिलास शारदा का मत है कि राणा चाहता तो इसी समय भागते हुए सुल्तान का पीछा कर और आगरे पर अधिकार कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार कर सकता था किन्तु युद्ध मे स्वयं भी घायल हो गया था अतः उत्तर भारत विजय की नहीं सोच सका ।

इस विजय से सारे राजपूत राजाओ ने सांगा का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया । राणा ने अपनी चमत्कारपूर्ण विजयो से मेवाड को राजस्थान का सूर्य बना दिया और राजस्थान के शासकों मे 16 वीं शताब्दी का सर्व शक्तिमान शासक होने के नाते उसे 'हिन्दू पद' की उपाधि से सुशोभित किया । सांगा उत्तरी भारत की एक मात्र संगठित शक्ति बन गया और भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा रखने वाले किसी भी आक्रमणकारी के लिये राणा सांगा से बिना टकराये भारत मे सांस लेना असम्भव सा हो गया । यही कारण है कि अपना प्रभुत्व जमाने के लिये बाबर को सांगा से लड़ना पड़ा । इब्राहीम लोदी पर विजय पाते समय शरीर पर अनेकों घाव हो जाने व एक टांग व हाथ चले जाने पर भी राणा लड़ता रहा था । उसकी इस प्रभावशाली दशा से प्रभावित होकर टाड महोदय ने सांगा को "सैनिक का भग्नावशेष" कहा है ।

- डॉ० ए. एल श्रीवास्तव कहते हैं कि "लगभग दो सौ राजपूत सरदार उसके पक्के अनुयायी थे । राणा सांगा की सबसे बड़ी आकांक्षा दिल्ली पर हिन्दू राज्य स्थापित करने की थी ।"[1] इस प्रकार राणा सांगा उत्तरी भारत का महान शासक सिद्ध हुआ । सारे देश मे उसका महत्वपूर्ण स्थान था ।

[1] डॉ. ए. एल. श्री वास्तव—'मुगल कालीन भारत'—पृष्ठ चार

डॉ० गोपीनाथ अपनी पुस्तक मेवाड एण्ड मुगल एम्परर के पृष्ठ पर लिखते हैं कि—यद्यपि राणा साँगा ने अपने समय के सबसे बड़े सेनानायकों मे से एक की तरह ख्याति कर ली थी और कुशल शासक और राजनीतिज्ञ के समान योग्यता प्रमाणित कर दी थी फिर भी अभी उसे बाबर से टक्कर लेनी थी जो उसका वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी और हर क्षेत्र मे अधिक चतुर था। इधर वह हिन्दू भारत का अद्वितीय नेता और सबसे बड़ा राजपूत सरदार था जो सफलता पूर्वक सारे राजस्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर, मालवा और गुजरात को अपने प्रभाव मे लाकर, हिन्दुस्तान की राजनीति का मार्गदर्शक बनना चाहता था ।

साँगा ने अपने जीवन मे राजपूत पुरुषत्व का प्रदर्शन किया और इस देश मे विदेशी मुगलो के राज्य को स्थापित होने से रोकने के लिये अपने प्राणों की आहुति दे दी । एक तरफ राणा साँगा का प्रभाव और शक्ति बढ़ रही थी दूसरी तरफ बाबर दिल्ली की दुर्बलता से लाभ उठाकर भारत मे मुगल साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था । अतः इन दोनों मे युद्ध होना था । अब हम इन दोनो के बीच लडे गये, भारतीय इतिहास के निर्णायक युद्ध के कारणों को देखें—

: कारण :

1. हिन्दू राज्य —पृथ्वीराज को तराइन के युद्ध मे हरा कर मुसलमान सरदार मुहम्मद गोरी ने भारत पर मुसलमान राज्य स्थापित कर दिया था। तब से अब तक मेवाड और राजस्थान के अन्य राजपूत सरदारों को निरन्तर मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करना पड़ रहा था । मुसलमानों ने राजस्थान के हिन्दू राजाओं के राज्य को समाप्त कर मुस्लिम राज्य की नींव डाली थी अतः राजस्थान के ही हिन्दू राजा द्वारा इनका अन्त कर वापस हिन्दू राज्य स्थापित करना एक आदर्श कल्पना थी । साँगा के पहले कोई शक्तिशाली प्रभावशाली राजा नहीं हुआ था जो सारे हिन्दू राजाओं को अपने झंडे के नीचे संगठित कर सके । साँगा का लोहा सभी हिन्दू राजा मानते थे। दूसरी ओर बाबर के आक्रमण ने दिल्ली के सिंहासन का मुकुट आसमान मे उछाल दिया था जिसे कोई भी शक्तिशाली हाथ मे पकड़ कर पहन सकता था । साँगा ने अपने को

न्द्रियों को पराजित कर मालवा और गुजरात की इच्छाओं को दफना दिया
। ऐसे राणा सांगा के नाम से कांपते थे । उसने दिल्ली के दुर्बल व अयोग्य
ासक इब्राहीम लोदी को भी दो बार मैदान में धूल चटवादी थी । इन परि-
स्थितियों में उसका दिल्ली के सिंहासन पर बैठ कर भारत को एक हिन्दू राज्य
सूत्र में बांधने का सपना सच्चा हो सकता था । तभी बाबर नाम की विदेशी
ना कबाब में हड्डी की तरह आ फंसी । स्वाभाविक था कि राणा उसे भी
राजित कर अपने देश का सम्राट बनता अत. दोनों में युद्ध हुए बिना यह
हीं कहा जा सकता था कि भारत का शासक कौन होगा ? सांगा या बाबर ।
ारे राजपूत सरदार और अन्य शासक यह आशा करते थे कि वह गिरते हुए
ठानों को हटा कर दिल्ली में हिन्दू राज्य स्थापित करेगा ।

2. बाबर की कठिनाईयाँ—बाबर को राणा सांगा की तरह बचपन
अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था । बारह वर्ष की अवस्था में
सके पिता का देहान्त हो गया था और उसके मामा और चाचा ने उस पर
आक्रमण कर दिया था । बारह वर्ष के बालक ने दोनों शत्रुओं को हराया और
र अपने पूर्वज तैमूर की राजधानी समरकंद को जीता । वह समरकंद में ही
। कि उसके निजी नगर फरगना में विद्रोह हो गया । वह विद्रोह दबाने
रगना आया तो समरकंद भी हाथ से निकल गया और फरगना भी
ापस नहीं मिला । वह 1500 से 1504 ई० तक इधर-उधर भटकता रहा ।
र दिन जाने के बाद बाबर ने पूरब की तरफ कदम बढ़ाया और भारत की
ीमा काबुल पर अधिकार किया । 1504 से 1525 तक वह काबुल का
ासक रहा और इस बीच उसने कई बार अपने घर और गांव को जीतने
ी व्यर्थ चेष्टा की । काबुल भारत और खुरासान, समरकंद के बीचों-बीच है ।
श्चिम में निराश होकर बाबर ने पूरब में राज्य विस्तार करने का सकल्प
िया । उसने भारत की प्रशंसा सुन रखी थी । उसके पूर्वज तैमूर और चगेज
ाँ ने भारत को बेरहमी से लूटा था अतः अपनी कठिनाइयों का अन्त करने
े बाबर ने पश्चिम का विचार छोड़ भारत पर अपना राज्य जमाना चाहा ।
ानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी को पराजित कर 21 अप्रैल 1526 को
बर दिल्ली और आगरे का बादशाह बन गया था किन्तु जब तक वह मूल
तिद्वन्द्वी राणा सांगा को पराजित नहीं कर देता उसका भारत में स्थाई रूप
रहना संभव नहीं था । एक तरफ राणा सांगा दिल्ली के सिंहासन पर बैठने
ो कटिबद्ध था और दूसरी तरफ बाबर ने उस सिंहासन को हथिया लिया
ा । बाबर की कठिनाइयों ने उसे भारत धकेल दिया और राणा सांगा के
ीते जी इन कठिनाइयों का अन्त नहीं था । अतः दिल्ली को अपने राज्य में
ाने के लिए तथा अपनी कठिन घड़ियों का अन्त करने के लिए बाबर के लिए

यह आवश्यक था कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी सांगा को रास्ते से हटा दे। उधर सांगा भी यह सोचता था अतः दोनों में लड़ाई आवश्यक हो गई। बाबर और सांगा में शत्रुता का यह एक बड़ा कारण था। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव कहते हैं कि—'इस देश में बाबर का वास्तविक कार्य पानीपत के युद्ध के पश्चात आरम्भ हुआ।* यदि वह पानीपत में इब्राहिम लोदी से ही हार जाता तो सांगा से उसका युद्ध ही नहीं होता।

3. सांगा की वादा खिलाफी—डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि—"जब बाबर काबुल में था तो कहा जाता है कि राणा सांगा का उससे यह समझौता हुआ था कि वह इब्राहिम पर आगरा की तरफ से आक्रमण करेगा और बाबर उत्तर की ओर से। जब आक्रमणकारी ने दिल्ली और आगरा अधिकृत कर लिया, तो उसने राणा पर अविश्वास का अभियोग लगाया। उधर सांगा ने बाबर पर अभियोग लगाया कि उसने कालपी, धौलपुर और बयाना पर अधिकार कर लिया जबकि समझौते की शर्तों के अनुसार ये स्थान सांगा को ही मिलने चाहिये थे।"°

डॉ० श्रीवास्तव के कहने से ऐसा लगता है कि सांगा और बाबर में कोई समझौता हो गया था कि दोनों मिलकर इब्राहीम के राज्य को बांट लेंगे। उत्तर-पश्चिम का राज्य जिसमे दिल्ली भी शामिल थी, बाबर ले लेगा और आगरा, बयाना, धौलपुर, कालपी आदि पर राणा का कब्ज़ा हो जायगा। किन्तु सांगा ने आगरा पर आक्रमण नहीं किया और बाबर क्रोधित हो गया। उसने सांगा पर अविश्वास का अभियोग लगाया। बाबर ने अपनी आत्मकथा में भी लिखा है कि—"यद्यपि राणा सांगा ने, जब मैं काबुल में था तो, मेरे पास एक राजदूत भेजा था और मित्रता का बन्धन किया था, और मेरे साथ यह ठहरा था कि यदि मैं वहाँ से दिल्ली तक कूच करता आ आऊँ तो वह दूसरी तरफ से आगरे पर चढ़ कर आवेगा। लेकिन मैंने इब्राहीम को हरा दिया और दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया तो भी वह काफिर हिला तक नहीं।"

इस वाक्य से स्पष्ट है कि बाबर सांगा को वादा खिलाफी से नाराज़ था। बाबर ने साधारणतः अपनी आत्मकथा में सच बातें ही लिखी हैं। बहुत अतिशयोक्ति हो सकती है किन्तु सारा विवरण झूठ नहीं होना चाहिये।

---

* डॉ० ए एल श्रीवास्तव—मुगलकालीन भारत—पृष्ठ 24

° डॉ० ए. एल श्रीवास्तव—मुगलकालीन भारत—पृष्ठ 26

ो बात खटकती है कि राणा सांगा ने पहले तो उसे बुलाया क्यों और फिर यता क्यों नहीं की ? लेकिन बाबर के इस विवरण के विरुद्ध मेवाड़ का सम इतिहास नामक पुस्तक की पांडुलिपि में इस घटना का वर्णन दूसरी ह मिलता है कि जब बादशाह बाबर काबुल में राज्य करता था तो ने सोचा कि लोदी को हरा कर दिल्ली में अपना राज्य स्थापित करे, न्तु अपरिचित देश में किसी परिचित मित्र का होना अच्छा है। अतः उसने ना एक सरदार चित्तौड़ भेजा। बाबर ने जो पत्र सांगा को लिखा था में यह लिखा था कि—"मैं आकर दिल्ली पर अपना अधिकार करूँगा र आप ... ... स्थापित करें।" इस ग्रन्थ के ... ा के युद्ध में सांगा के साथ थे ... अतः इस साधन को भी गलत ... स्मी कथन का समर्थन करते हैं ।. सत्य का पलड़ा राणा सांगा के पक्ष में लगता है।

बाबर का तर्क यों गलत लगता है कि सांगा तो अकेला ही दो बार ाहीम लोदी को युद्ध में हरा चुका था और चाहता तो अकेला फिर हरा कर ाव उससे दिल्ली छीन लेता। फिर उसे काबुल दूत भेजने की क्या आवश्यकता ? सांगा को इब्राहीम के विरुद्ध विदेशी सहायता मांगने की कोई आवश्य- ा नहीं थी। हाँ बाबर को अज्ञात देश जीतने के लिए एक भारतीय मित्र ी आवश्यकता पर विश्वास किया जा सकता है। फिर बाबर ने अपनी ात्मकथा में ऐसा क्यों लिखा ? बाबर की आत्मकथा के सिवा और किसी न्थ में सांगा द्वारा काबुल राजदूत भेजने का वर्णन नहीं मिलता। परिस्थि- तियों को देखकर यह लगता है कि बाबर के सैनिक युद्ध से थक गये थे और पने घर लौट जाना चाहते थे। किन्तु बाबर भारत के हरे-भरे देश में प्रभा- ित हुआ था और वह यहीं रहना चाहता था। उसने अपने सेनापतियों की द सभा में उन्हें यह कह कर उकसाया होगा कि अभी उसे एक विश्वासघाती ो भी सबक देना है। कदाचित् इस बहाने से उसने अपने सैनिकों का समर्थन ाप्त कर लिया। सारांश यह है कि राणा सांगा पर वादा खिलाफी का आरोप गा कर बाबर ने उससे युद्ध करने का निर्णय किया। राणा को तो यह आशा ी कि बाबर भी अपने पूर्वजों की तरह दिल्ली को लूट कर वापस ला जायेगा।

4. बयाना का प्रश्न—राणा सांगा ने अवसर से लाभ उठा कर बयाना मुसलमान किलेदार निज़ाम खाँ से किला छीन कर उसे बाहर निकाल या। निज़ाम खाँ ने बाबर से सहायता माँगी और अपनी सेवाएँ बाबर को

अर्पित करने का वचन दिया। बाबर तो अवसर की तलाश में ही था। फौरन निजाम खाँ की सहायता करना स्वीकार कर लिया। बिना पीछा सोचे उसने सांगा को हटाने के लिए अपनी सेना बयाना भेज दी। निजाम खाँ को फिर से बयाना का किलेदार बना दिया गया और के परगने उसे दे दिये गये। इसके बदले में निजाम खाँ ने 20 लाख सालाना देने का वादा किया। सांगा को बाबर का यह व्यवहार बहुत लगा और उसने युद्ध द्वारा बयाना को वापस जीतने का फैसला किया।

5. पठान सरदार— पानीपत में इब्राहीम लोदी की पराजय के कई पठान सरदार राणा सांगा से जा मिले। इनमें सबसे उल्लेखनीय इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी था। अन्य सरदारों में हसन खाँ मेवाती मिलहदी भी थे। राणा ने महमूद लोदी को दिल्ली का सुल्तान मान लिया। विदेशी आक्रमण के विरुद्ध भारत के हिन्दू और मुसलमानों का यह स्वभाविक था। पठानों से संधि करने के बाद राणा ने बयाना पर अधिकार कर लिया। बाबर ने कुछ तेज घुड़सवारों को बयाना की रक्षा के लिए भेजा बुरी तरह मार खाकर वापस भाग गये। बाबर इस समय आगरे से आगे पुर सीकरी तक पहुँच गया था। उसने 1500 सैनिकों का दल शत्रु की का निरीक्षण करने भेजा। राजपूत और पठानों ने इन्हें बुरी तरह खदेड़ दिया। बाबर यदि दिल्ली पर पूर्ण अधिकार चाहता था तो उसे की शक्ति का अन्त करना आवश्यक था। अब पठान राणा सांगा से जा मिले थे अतः सांगा से युद्ध प्रायः निश्चित हो गया।

6. सांगा की शक्ति—टाड के अनुसार—"80 हजार घुड़सवार, बड़े नरेश, नौ राव और 104 रावल तथा रावत हर समय उसके चलने को तैयार रहते थे।" सांगा असाधारण युद्ध सामग्री और साधनों सम्पन्न था। सांगा की यह शक्ति बाबर के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा थी। वह भारत में अपना राज्य कायम करना चाहता था जो सांगा के स्थापित नहीं हो सकता था। राणा भी पहले यह समझता था कि बाबर लौट जायेगा और तब वह इब्राहीम की टूटी फूटी शक्ति का अन्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लेगा। लेकिन बाबर लौटा नहीं, तो राणा की नींद से हिन्दू साम्राज्य का सपना देख रहा था। इस प्रकार दो महत्वाकांक्षी शासकों के दिल्ली पर राज्य स्थापित करने के टकराये और बिना समय नष्ट किये बाबर ने सांगा करने का निर्णय लिया। उत्तरी भारत को अफगानों

ाप से मुक्त करने के उद्देश्य को लेकर सांगा ने राजस्थान के अधिक से अधिक ाओं का संगठन तैयार किया था। यह संगठित शक्ति बाबर के लिए चिन्ता ा महान् कारण थीं। इन कारणों से दोनों के बीच, आगरा से 37 मील श्चम में भरतपुर के एक गाँव खानुवा में जो सीकरी से दस मील दूर युद्ध हुआ।

खानुवा का युद्ध 16 मार्च 1526 ई०

युद्ध के कुछ समय पहले काबुल के एक ज्योतिषी ने घोषणा कर दी कि युद्ध में बाबर की पराजय होगी। बयाना से मार खाकर आये हुए सवारों र भी राणा का आतंक छाया हुआ था। बाबर ने जो 1500 सैनिकों की कड़ी राणा का अन्दाज लगाने भेजी थी वह भी बुरी तरह घायल होकर ाई थी। जिससे सारे सैनिकों में आतंक फैल गया था। सभी डरकर वापस काबुल लौट जाना चाहते थे! अपने हतोत्साहित सैनिकों को धर्म युद्ध या जेहाद का संदेश देकर बाबर ने बड़ी नाटकीय ढंग से सेना का नैतिक स्तर क दम ऊँचा उठा दिया। वे धर्म और विजय के लिए मर मिटने को तैयार ो गये। बाबर चाहे इसे धर्म युद्ध का नाम दे, किन्तु पठानों ने सांगा के साथ मेल कर युद्ध किया था अतः इसे धर्म युद्ध कहना उचित नहीं होगा। बाबर ने अपने सैनिकों को एकत्रित किया और बड़े नाटकीय ढंग से शराब के बर्तन तोड़ कर लड़ते लड़ते मारे जाने और धर्म पर शहीद हो जाने की कसम खाई या विजयी होकर धर्म प्रचार की घोषणा की। उसके निजी शब्दों में—"मेरे साथी सरदारों! क्या तुम जानते हो कि हमारे और हमारी जन्म भूमि के बीच कुछ महीनों की यात्रा है? यदि हमारा पक्ष पराजित होता है। (परमात्मा उस कुघड़ी से हमारी रक्षा करे), तो हमारी क्या दशा होगी? हर एक आदमी याद रखे कि जो कोई भी इस संसार में आता है उसका विनाश अवश्य होता है।.........कलंकित नाम के साथ जीवित रहने की अपेक्षा शान के साथ प्राण दे देना अधिक अच्छी बात है।......"यदि हमारी हार होती है तो हम शहीदों की तरह मरेंगे और यदि हम विजयी होते हैं तो समझ लो हमने उस परमात्मा के पवित्र उद्देश्य पर विजय प्राप्त कर ली। इसलिए उस सर्व शक्तिमान के नाम पर हमें शपथ ग्रहण करनी चाहिये कि हम ऐसी शानदार मौत से मुख नहीं मोड़ेंगे और जब तक हमारी आत्माएँ हमारे शरीर से पृथक् नहीं होंगी, हमारे शरीर संघर्ष के इस खतरों से कभी अलग नहीं होंगे।"

बाबर के इस जोशीले भाषण ने हताश सैनिकों में जान फूंक दी। प्रत्येक ने कुरान पर हाथ रखकर अपनी पत्नी के परित्याग की शपथ ले कहा कि वे अन्त तक लड़ेंगे और बाबर का साथ देंगे।

बाबर के अनुसार राजपूती सेना में दो लाख सैनिक थे किन्तु [illegible] में यह संख्या 80,000 रही होगी। बाबर के पास 40,000 से कम [illegible] नहीं थे। राणा को चाहिए था कि खानुवा पहुँचते ही आक्रमण कर देता [illegible] वहीं व्यर्थ पड़ा रह कर उसने बाबर को सम्भलने का समय दे दिया। [illegible] सेना चार भागों में बटी थी। अग्रगामी रक्षक, मध्य पक्ष, दाहिना पक्ष, [illegible] बाया पक्ष। बाबर ने पानीपत का सा मोर्चा फिर जमाया। 16 मार्च 152[illegible] शनिवार को प्रातः 9½ बजे युद्ध आरम्भ हुआ। लड़ाई का पहला गोला राणा [illegible] तरफ से बाये पक्ष की मारवाड़ की सेना ने छोड़ा था। दोपहर तक [illegible] युद्ध होता रहा। बाबर की तुलुगमा ने दाहिनी तरफ से भयानक प्रहार [illegible] मुस्तफा की भयानक गोलाबारी ने राजपूतों के हौसले उड़ा दिये तभी [illegible] की दूसरी टुकड़ी ने राजपूतों के बाये भाग पर प्रहार किया। मुगल [illegible] द्वारा भयकर आग वर्षा करने पर भी राजपूत बहादुरी से लड़ रहे थे। [illegible] का हर प्रयास विफल जा रहा था। वह युद्ध की ओर से निराश हो [illegible] तभी राणा सांगा एक तीर से घायल होकर गिर पड़े। आमेर के राजा [illegible] और जोधपुर के राजा मालदेव ने घायल अवस्था में राणा को [illegible] कर बसवा के स्थान पर पहुँचाया। राणा के बाद राजपूत बाबर [illegible] का सामना नहीं कर सके और बाबर हारा हुआ युद्ध जीत गया। वीर [illegible] के अनुसार—"बाबर लिखता है कि मैं इस्लाम के लिए इस लड़ाई के [illegible] में आवारा हुआ, और मैंने अपना शहीद होना ठान लिया था, लेकिन [illegible] का शुक्र है कि गाजी बनकर जीता रहा।"*

बाबर के साथ युद्ध में राणा के अनेकों साथी मारे गये। [illegible] मुसलमान सरदारों ने राणा का साथ दिया था वे भी लड़ाई में मारे गये [illegible] हसन मेवाती और महमूद लोदी मारे गये। डूंगरपुर, मारवाड़, [illegible] आमावाड़, आदि के भी राजा मारे गये। युद्ध का अन्त हो गया। [illegible] महोदय कहते हैं कि—'जिस समय वह पराजित हुआ उसी वर्ष [illegible] स्थान पर उसकी मृत्यु हो गई।'** शायद राणा को उसके मंत्रियों [illegible]

* वीर विनोद— पहली जिल्द- पृष्ठ 371.
* टाड— राजस्थान का इतिहास— पृष्ठ 1[illegible]

दे दिया अन्यथा वह पुनः अपनी शक्ति को इकट्ठा कर बाबर पर आक्रमण कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेता। कुछ इतिहासकारों का मत है कि राणा साँगा खानुवा के युद्ध के एक वर्ष बाद मांडलगढ़ में स्वर्ग सिधारे थे। राणा तीस जनवरी 1628 को परलोक सिधारे। मुगलों का राज्य भारत पर स्थापित हो गया।

परिणाम—खानवा के युद्ध में राजपूतों की हार और राणा साँगा की मृत्यु अपने साथ राजपूतों की एकता को भी ले गई। प्राचीन भारत में अनेक जन-पदों के नाम से सुप्रसिद्ध राजपूतों का यह प्रदेश अनेक राजघरानों में बँट गया। कुम्भा और साँगा के कारण मेवाड़ की ख्याति दूर दूर तक फैल गई थी जिसके फलस्वरूप अन्य हिन्दू राजाओं ने मेवाड़ के झण्डे के नीचे अपनी सुरक्षा का अनुभव किया था किन्तु इस पराजय से मेवाड़ का महत्व बहुत घट गया जिससे राजपूतों की ऊपरी एकता तथा राजनीतिक गठबन्धन सदा के लिए समाप्त हो गये।

राणा साँगा ने बाबर को निमंत्रित किया था उसकी यह भूल उसी को मँहगी नहीं पड़ी वरन् सारे देश के लिए एक महत्वपूर्ण परिणाम छोड़ गई। भारत में भावी मुगल साम्राज्य की नींव इसी युद्ध के परिणामों पर रखी गई। डॉ० रघुवीरसिंह अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' के पृष्ठ 16 पर कहते हैं कि—"राणा साँगा की यह हार तथा तदनन्तर उसकी मृत्यु केवल मेवाड़ के लिए ही नहीं परन्तु राजस्थान के लिए भी बहुत घातक प्रमाणित हुई। राजस्थान की सदियों पुरानी स्वतन्त्रता तथा उसकी प्राचीन हिन्दू संस्कृति को सफलतापूर्वक बनाये रख सकने वाला अब वहाँ कोई भी नहीं रह गया।" मुगल साम्राज्य के उदय के साथ साथ राजस्थान की स्वतन्त्रता राजनीतिक शक्ति, विद्या और कला का भी ह्रास होने लगा। राजस्थान के इतिहास में पूर्व आधुनिक काल का प्रारम्भ इस निर्णायक युद्ध के दिन से ही माना जाना चाहिये। उस दिन खोई हुई वह स्वाधीनता तथा अपना वह विगत प्राचीन गौरव एवं महत्व कोई 420 वर्ष बाद अगस्त 15, 1947 ई० के दिन समूचे भारत के साथ ही राजस्थान को भी पुनः प्राप्त हुआ।

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि—"भारत वर्ष के इतिहास में खानुवा का युद्ध, जो दस घण्टे तक चला, अत्यन्त स्मरणीय युद्धों में से एक था।" राणा साँगा तो भग्न हृदय लेकर जनवरी 1528 में सदा के लिए सो गया। किन्तु उसके साथ राजपूतों की सैन्य शक्ति को भी कुछ समय के लिए दफना दिया गया। विदेशी राज्य को मिटाने की राजपूतों की इच्छा समाप्त हो गई। बाबर के खानाबदोश जीवन का अन्त हो गया अब उसे भारत सिंहासन

गा खतरे मे डाल कर युद्ध नहीं करना था अगले युद्ध केवल राज्य वि-
के लिए लड़े गये। उसके भाग्य की खोज मे घूमते फिरने के दिन [illegible]
हो गये। भारत के नेतृत्व की बागडोर राजपूतो के हाथ से
के हाथ मे चली गई जिन्होंने 1740 तक उसका सचालन किय
दस मास से मुसलमानो के सामने राजपूतों की शक्ति का [illegible]
रहा था वह सदैव के लिए समाप्त हो गया। इतिहासकार लेनपूल
है कि—"खानवा के युद्ध ने हिन्दुओ के महान् सगठन को कुचल दिया

बाबर ने अपनी जीत के बाद मारे गये राजपूतो के कटे हुए सि
ढेर लगा कर एक मीनार बनाई और राजपूतो पर अपनी विजय का
किया। उन कटे सिरो मे सैकडो मुसलमानो के भी थे। इस युद्ध मे इत
हत्या हुई कि खानुवा से बयाना तक सारी भूमि लाशो से ढक गई। [illegible]
हम यह कह सकते है कि राणा की पराजय और मृत्यु एक हृदय स्पर्शी शोक
नहीं था वरन् एक राष्ट्रीय क्षति थी जिसकी पूर्ति आज तक नहीं हो सकी।

अध्याय 11

महाराणा प्रताप

1ः५०

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप सिंह महाराणा उदयसिंह के दूसरे लड़के थे। इनका जन्म 9 मई 1540 ई. को हुआ था। इनकी माता का नाम जैवता बाई था। ये 32 वर्ष की अवस्था में एक मार्च 1572 ई. को मेवाड़ के राणा बने। इन्होंने 25 वर्ष तक शासन किया। कुछ इतिहासकार इनके राज्यारोहण की तिथि 28 फरवरी 1572 देते हैं जो प्रायः गलत लगता है।[1] राज्याभिषेक की तिथि में एक दिन का अन्तर वैसे कोई अर्थ नहीं रखता। आजीवन कठिनाईयों का सामना करने के बाद इस स्वतन्त्रता के उपासक का देहान्त मेवाड़ की नई राजधानी चावण्ड में 19 जनवरी 1597 ई. को 57 वर्ष की अवस्था में हुआ। राजधानी से 1½ मील दूर एक झरने के किनारे इस देश भक्त की समाधि आज भी उसकी स्मृति को सजीव कर रही है।

प्रताप को सिंहासन पर बैठते ही आन्तरिक व बाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनके पिता महाराणा उदयसिंह स्वयं अपने लड़के प्रताप के लिये फूट के कांटे बो गये थे। कोई 35 वर्ष के गौरवहीन असफल शासन के बाद उदयसिंह का देहान्त 28 फरवरी 1572 ई. को गोगुंदा में हुआ। उन्होंने मरने से पहले अपनी प्रिय रानी भटयाणी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था। किन्तु सरदारों ने जगमाल को हटाकर प्रताप सिंह को राणा बना दिया। डॉ॰ रघुवीर सिंह का कहना है कि—"राज्यारूढ़ होते ही राणा प्रताप ने स्पष्टतया मुगल विरोधी नीति अंगीकार की और यों मेवाड़ के ही नहीं राजस्थान के इतिहास में भी एक महत्वपूर्ण परम स्फूर्तिदायक अध्याय का प्रारम्भ हुआ जो कठोर पराधीनता के गहरे निराशापूर्ण दुखमय दिनों में राजस्थान के साथ ही समूचे भारत को स्वाधीनता के लिए सर्वस्व बलिदान कर उसकी निरंतर अडिग साधना का पाठ पढ़ाता रहा।"[2]

जगमाल नाराज होकर अजमेर गया। वहाँ के मुसलमान सूबेदार ने उसे शरण दी और बादशाह अकबर के दरबार में पेश किया। अकबर ने

1. वीर विनोद भाग 2-पृष्ठ 145
2. डा॰ रघुवीरसिंह-पूर्व आधुनिक राजस्थान-पृष्ठ—49.

मेवाड़ के राजकुमार को जहाजपुर की जागीर दी और कुछ समय बाद सिरोही का आधा राज्य भी दे दिया जिससे सिरोही के राजा सुल्तान देवड़ा से उसकी शत्रुता हो गई और 1640 में सुल्तान के हाथों एक युद्ध में जगमाल मारा गया। जगमाल आजीवन मेवाड़ का शत्रु और मुगल दरबार का एक मनसबदार बना रहा।

मेवाड़ की दशा —25 फरवरी 1568 ई. को अकबर ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया था। तब प्रताप 28 वर्ष के थे। महाराणा उदयसिंह चित्तौड़ छोड़कर जंगलों में चले गये थे। राणा सांगा के समय जो प्रभाव व राज्य विस्तार मेवाड़ का था वह पिछले 20 वर्षों में तीन राजाओं के प्रभावहीन शासन काल में घटता गया। राजस्थान के बाहर का क्षेत्र तो गया ही साथ में राजस्थान के अन्दर भी मेवाड़ का प्रभाव समाप्त हो गया। अकबर ने चित्तौड़ और [illegible] तो मेवाड़ की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचाया था। मांडलगढ़, जहाजपुर और चित्तौड़ मेवाड़ के अधीन नहीं रहे थे। अकबर ने चित्तौड़ के किले को [illegible] तोड़ दिया था ताकि भविष्य में यह दुर्ग मुगलों की परेशानी का कारण न बन सके। गुजरात और मालवा के स्वतन्त्र राज्य भी समाप्त हो गये थे और इन पर अकबर का साम्राज्य था। जोधपुर के राजा मालदेव की मृत्यु के बाद उनके तीन लड़कों में उत्तराधिकार युद्ध शुरू हुआ। उत्तराधिकारी [illegible] चन्द्र सेन के भाई उदयसिंह और राम, अकबर की शरण में चले गये जिन्हें अलग अलग जागीरें देकर अकबर ने अपनी तरफ मिला लिया और बीकानेर के राजा रायसिंह को जोधपुर का प्रशासक बना दिया। जोधपुर या मारवाड़ राज्य जो एक पड़ौसी मित्र व रिश्तेदार राज्य था अब मेवाड़ के शत्रुओं के हाथ में आ गया। राव चन्द्रसेन एक खानाबदोश राजा की तरह सारी उम्र जोधपुर की स्वतन्त्रता के लिए लड़ता रहा और अन्त में निराश हो जनवरी 1581 में अजमेर के पास पहाड़ों में उसका देहान्त हो गया। राव चन्द्रसेन के बारे में अलग से वर्णन करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मारवाड़ पर भी अकबर का आधिपत्य स्थापित हो गया था। आमेर के राजाओं ने अपनी लड़की अकबर को ब्याह दी थी। बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं ने भी अकबर की अधीनता नागौर में 1570 में स्वीकार कर ली थी। प्रताप और जोधपुर के राव चन्द्रसेन को छोड़ राजस्थान के सभी राजाओं ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और चारों तरफ से मेवाड़ पर आघात होने लगे। सांगा को जहाँ 104 छोटे और नौ बड़े राजाओं का समर्थन प्राप्त था वहाँ प्रताप को राजस्थान के राजाओं का विरोध व शत्रुता का शिकार बनना पड़ा। हल्दी घाटी के युद्ध में उसे पराजित करने वाला मानसिंह भी आमेर का राजपूत राजा था। मेवाड़ चारों ओर से एक ही शक्तिशानी शत्रु मुगलों से घिरा हु[illegible] चित्तौड़ ही नहीं, मेड़ता, अजमेर, मांडलगढ़

हाजपुर आदि मेवाड़ राज्य के अंग, जिन पर सांगा राज्य करता था अब
ाटु के प्रधान सैनिक केन्द्र थे। ऐसी परिस्थिति में प्रताप ने आजीवन अकबर
से लोहा लेकर मेवाड़ के गौरव को ही नहीं बढ़ाया वरन पराधीनता की
ड़ियों में देखकर स्वतन्त्रता के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा समर्पित कर भारत के
न भक्तों में अपना स्थान सदा के लिये सुरक्षित कर लिया। प्रताप का लक्ष्य
वाड़ के पराधीन भाग को स्वतन्त्रता दिलाना और चित्तौड़ पर पुनः अधिकार
रना था।

अकबर की महत्वाकांक्षा—अकबर काबुल से आसाम और कश्मीर
मद्रास तक के भारत का एक छत्र बादशाह था। या तो चन्द्रगुप्त मौर्य न
मस्त भारत को जीता था और या फिर अकबर के अधीन सारा भारत था
किन्तु मेवाड़ एक फोड़े की तरह उसके सीने पर दर्द पैदा कर रहा था। मेवाड़
की आजादी अकबर को रह रह कर अखरती थी। चित्तौड़ के किले के साथ
वाड़ का अधिकांश भाग अकबर के अधीन था। वह अपने दरबार में अन्य
भी राजपूत राजाओं को सामने खड़ा पाता था किन्तु मेवाड़ के राणा को
रबार में न देखकर उसके मन में एक शूल सा चुभता था। वह सम्पूर्ण मेवाड़
को अपने अधीन और प्रताप को अपना दरबारी देखना चाहता था उसका
द्देश्य एक सुसंगठित राज्य स्थापित करना था। मालवा और गुजरात पर
पूर्ण नियंत्रण के लिये मेवाड़ पर अधिकार आवश्यक था। मेवाड़ का अधिकांश
भाग हाथ से निकल जाने पर भी राणा ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार नहीं
किया था। अकबर ने इस ओर कई प्रयत्न किये थे कि प्रताप भी अकबर की
अधीनता स्वीकार कर ले। अकबर ने 1573 में मानसिंह को प्रताप के पास
भेजा जो डूंगरपुर जीत कर लौटते समय प्रताप से मिला और नाराज होकर
चला गया। इसी वर्ष अकबर ने मानसिंह के पिता को फिर भेजा। राजा
भगवन्त दास सितम्बर 1573 में राणा से मिले और प्रताप ने अपने चौदह
वर्षीय पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ अकबर के दरबार में भेज दिया।
शायद प्रताप उस समय मुगल सेना से टकराना नहीं चाहते थे क्योंकि न तो
उनके पास इतनी शक्ति ही थी और न ही उन्हें अकबर की सैनिक शक्ति का
अनुमान थी। किन्तु महत्वाकांक्षी अकबर तो स्वयं राणा प्रताप को अपने सामने
देखना चाहता था कुछ समय के लिये अकबर गुजरात में व्यस्त रहा तब
अगमाल उसके पास गया था अतः इस समय भी अकबर मेवाड़ पर पूरा
ध्यान केन्द्रित नहीं कर सका। उसके बाद कुछ समय के लिये वह बंगाल और
बिहार जीतने में लग गया अतः मेवाड़ पर मँडराने विपदा के बादल कुछ
समय के लिये टल गये। कुंवर अमरसिंह को अपने दरबार में पाकर अकबर
को कोई खास संतोष नहीं हुआ उसने कुछ समय बाद अमरसिंह को मेवाड़ लौट

ाने की आज्ञा दी । इस प्रकार प्रताप को अधीन करने की इच्छा अभी अधूरी
। । थोडे समय बाद राजा टोडरमल, गुजरात जाते समय मेवाड से होकर गु
ार राणा को समझाने की चेष्टा की उसे यही आभास हुआ कि राणा अकबर
झगडा नही करना चाहता किन्तु अकबर अपने अधूरे सपने को पूरा करना
ाहता था । एक तरफ राणा प्रताप मेवाड़ को वापस लेना चाहते थे और दूसरी
रफ अकबर इस स्वतंत्र राज्य को पूर्ण रूप से अपने राज्य का एक अंग बनाने
ः कटिबद्ध था अत दोनो के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी था । आगे चल कर
नों के बीच हल्दी घाटी का महान् ऐतिहासिक युद्ध लड़ा गया जो 21 जून
576 ई. मे हुआ । इस युद्ध के मूल कारण इस प्रकार हैं —

कारण

ऊपर दिये गये दो कारण भी हल्दी घाटी के युद्ध से पूर्णतया सम्बन्धित
। मेवाड की दशा और अकबर की महत्वाकांक्षा ने जहाँ युद्ध को अनिवार्य
ः दिया वहाँ अन्य कारणों का उल्लेख भी आवश्यक है ।

1. **प्रताप का चरित्र** —अपने प्रारम्भिक जीवन मे प्रताप को जगह
र पहाडियो मे भटकना पडा । इन कठिनाइयो ने प्रताप के जीवन को
ल और पवित्र बना दिया । कभी कभी वह अपनी कठिनाइयों में उदास
ा करता था कि—"अच्छा होता यदि सिसोदिया वंश मे उदयसिंह
ा नही हुआ होता अथवा राणा संग्राम सिंह के बाद सिसोदिया वंश
ई क्योंकि चित्तौड़ के सिंहासन पर न बैठता ।" राणा सांगा के बाद उदयसिंह
ेवाड की मर्यादा को समाप्त कर दिया था । राज्य की इन दुर्बल परिस्थि
ों मे भी प्रताप का हृदय दुर्बल नही पडा । उसमे स्वाभिमान था, राजपू
व था और साहस तथा पुरुषार्थ था । राज्य का अधिकार पाने के बाद
तौड़ के उद्धार का उपाय सोचने लगा । वह अपनी शक्तियों का सं
ने लगा । सबसे पहले उसने अपने जीवन की विलासिता का अन्त
। चाँदी के बरतनो मे भोजन करना छोड कर वृक्षों के पत्तों में भोजन क
दिया । कीमती शय्या के स्थान पर कठोर भूमि पर सोना शुरू कर दिया ।
ने अपने अनुयायियों को भी यह आदेश दिया कि जब तक हम चित्तौड़ को
धीन नहीं कर लेंगे, सिसोदिया वंश का कोई भी व्यक्ति ऐसा ही करेगा
और विलासिता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा ।[1]

उस समय के आदेशो की कितनी ही बातें आज दिन तक मेवाड के
...पूतों में प्रचलित हैं। सेना, जन और धन का अभाव होते हुए भी साहसी
...प ने अपने साथियो के साथ बैठ कर चित्तौड़ को स्वाधीन बनाने की प्रतिज्ञा
... प्रताप ने घोषणा की—"जिनको हमारी अधीनता मे रहना स्वीकार हो,
...सभी अपने परिवारों के साथ अपने घर छोड़कर इस पर्वत पर आ जाय।

... विफल हो जाने से अकबर का उत्तेजित होना
...विक था। उधर राणा ने बादशाह के प्रति मित्रता प्रगट करने के लिये
... अपने पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ मुगल दरबार मे
...दिया था। राणा को यह आशा थी कि इसके बदले मे अकबर चित्तौड़
...मेवाड़ का जीता हुआ भू-भाग वापस लौटा देगा किन्तु अकबर राणा

• टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 194.
• ए० एल० श्रीवास्तव—अकबर महान—पृष्ठ 193

प्रताप की मुगल दरबार में व्यक्तिगत हाजरी के लिये रुक कर रहा था। जिसे
के ढग आदान-प्रदान से न राणा सन्तुष्ट हुआ और न अकबर ही। बार बार
मित्रता की चेष्टा करने पर भी जब मेवाड़ से सम्बन्ध नहीं सुधरे तब वि
होकर अकबर को युद्ध की शरण लेनी पड़ी। अकबर राजपूतों की मनोवृत्ति से
परिचित था। वह जानता था कि यदि राणा प्रताप ने अधीनता स्वीकार करने
तो अन्य छोटे राजपूत विरोधी राजा अपने आप मुगल दरबार में हाजिर हो
जायेंगे। प्रताप की स्वतन्त्रता से अन्य राजपूत राजाओं को नैतिक बल प्रा
होता था। अकबर को यह ज्ञान था कि 1568 मे चित्तौड़ के पतन के बाद से
वर्षों मे अधिकांश राजपूत राजाओ ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ले
थी। यदि राणा प्रताप अकबर की अधीनता मान लेते तो मारवाड़ का चन्द्रसे
तथा बूँदी, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और सिरोही के विद्रोही हिन्दू राजा फौर
अकबर की शरण मे आ जाते। प्रताप की स्वतन्त्रता इन राजाओं को प्रेरणा
प्रदान कर रही थी। विवश होकर अकबर को युद्ध करना पड़ा।

3 व्यापारिक महत्व —विदेशों से आने वाला माल अधिकतर ढ
बन्दरगाह पर उतरता था और फिर गुजरात, राजस्थान होता हुआ आग
दिल्ली और उत्तर भारत के अन्य व्यापारिक केन्द्रों को जाता था। इस मार्ग
बीच मे पश्चिम राजस्थान का छोटा-सा स्वतन्त्र भाग बहुत बड़ी बाधा थी।
व्यापारिक यातायात को राणा प्रताप और मारवाड का राव चन्द्रसेन दोनों
ही रोक लेते थे। इस प्रकार की व्यापारिक क्षति और रुकावट कोई भी शा
शासक किसी भी कीमत पर सहन नहीं कर सकता था। और फिर उत्तर मे
हिमालय से पूर्व और पश्चिम मे समुद्र तक फैले विशाल साम्राज्य के बी
बीच पश्चिमी मेवाड़ के छोटे से भूमाग की स्वतन्त्रता अकबर को अखरती थी।
इसे शान्तिप्रिय ढग से अधीन करने के चार प्रयत्न (कुछ लेखक केवल तीन
प्रयत्न बताते हैं वे अकबर द्वारा भेजे गये जलालखां के प्रयत्न का उल्लेख नहीं
करते)● विफल हो गये थे। इस प्रदेश का व्यापारिक महत्व भी कम नहीं
था। इसके अतिरिक्त तीर्थयात्रा पर मक्का और मदीना जाने वाले लोग
सूरत बन्दरगाह मे जाते थे और उनका मार्ग भी मेवाड़ से होकर था।
यात्रियो की सुरक्षा और सफल यात्रा के लिये भी मेवाड़ पर मुगल आधि
आवश्यक समझा गया। इस प्रकार व्यापार, राजनीति और हज या तीर्थ
महत्वपूर्ण प्रश्नों ने अकबर को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये
दिया।

● डॉ ए० एल० श्रीवास्तव —अकबर महान—पृष्ठ 196

4. मानसिंह का अपमान :—ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अक-र ने राणा से मित्रता करने के चार प्रयत्न किये इनमे से दूसरा प्रयत्न नसिंह का था। बादशाह ने अनुभव किया कि राणा की ही जाति और धर्म किसी उच्चपदीय और प्रभावशाली राजपूत को दूत बनाकर इस नाजुक म के लिये भेजा जाय। इसलिये अप्रेल 1573 ई० मे आमेर के राजकुमार नसिंह को उदयपुर जाने का आदेश दिया गया। राणा ने मानसिंह का मैत्री र्ण सम्मान तो किया किन्तु उसके साथ आगरे दरबार मे उपस्थित होना स्वीकार कर दिया। मानसिंह निराश और अपमानित सा वापस लौट आया। से कदाचित यह आशा थी कि वह प्रताप को साथ आगरे ले जा सकेगा। और ब अकबर ने मेवाड पर आक्रमण करने का फैसला किया तो मानसिंह ने क्रमण का नेतृत्व स्वयं माँग कर लिया ताकि राणा को बन्दी बनाकर अकबर सामने पेश कर सके। इस भावना का दूसरा अर्थ लगा कर टाड महोदय ने पने ग्रन्थ के पृष्ठ 190 पर एक रोचक कथा का वर्णन किया है कि शोलापुर जय के बाद राजा मानसिंह आगरा लौटते समय राणा से मिलने रुक गये। ताप ने उदय सागर पहुँच कर मानसिंह का स्वागत किया किन्तु भोजन के मय स्वयं न आकर राजकुमार अमरसिंह को भेज दिया। भोजन स्थल पर ताप को न देखकर मानसिंह ने प्रताप के विषय में पूछा तो अमरसिंह ने कह दया कि—"सिर पीडा के कारण पिताजी नहीं आ सकते।" यह सुनकर उसने यपूर्ण स्वर में कहा—"मैं उस पीडा को समझता हूँ। उस भूल की अब ोई औषधि नहीं हो सकती।" राणा प्रताप भीतर से मानसिंह की यह बात न रहे थे, बाहर आकर आवेश में बोले—"मैं उस राजपूत के साथ कभी ोजन नहीं कर सकता, जो अपनी बहन बेटियों का विवाह एक तुर्क के साथ र सकता है।"

मानसिंह ने इसे अपना अपमान समझा और बिना खाना खाये उठ या। प्रताप की तरफ देखकर उसने कहा—"आपके सम्मान की रक्षा के लिये ी मुझे अपनी बहन और बेटियाँ तुर्कों को देनी पडी है। अगर आप इसका ाभ नहीं उठाना चाहते तो इसका अर्थ यह है कि आप स्वयं खतरों को अपने ऊपर ला रहे हैं। यह मेवाड राज्य अब आपका होकर न रहेगा।" घोड़े पर बैठते बैठते उसने प्रताप से फिर कहा—"अगर मैंने आपके इस अपमान का बदला रणक्षेत्र में न दिया तो मेरा नाम मानसिंह नहीं है।" उत्तर देते हुए प्रताप ने कहा—"मैं हर्ष के साथ उसके लिये तैयार हूँ।" पास खड़े एक सर-दार ने मानसिंह से कहा—"उस समय अपने फूफा अकबर को भी साथ लेते

प्रताप की मुगल दरबार में व्यक्तिगत हाजरी के लिये हठ कर रहा था। लि कि इस आदान-प्रदान से न राणा सन्तुष्ट हुआ और न अकबर ही। बार बार मित्रता की चेष्टा करने पर भी जब मेवाड़ से सफलता नहीं मिली, तब वि होकर अकबर को युद्ध की शरण लेनी पड़ी। अकबर राजपूतों की मनोवृत्ति से परिचित था। वह जानता था कि यदि राणा प्रताप ने अधीनता स्वीकार करने तो अन्य छोटे राजपूत विरोधी राजा आगे चल मुगल दरबार में हाजिर जायेंगे। प्रताप की स्वतन्त्रता से अन्य राजपूत राजाओं को नैतिक बल होता था। अकबर को यह ज्ञात था कि 1568 में चित्तौड़ के पतन के बाद वर्षों में अधिकांश राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। यदि राणा प्रताप अकबर की अधीनता मान लेते तो मारवाड़ का चन्द्रसेन तथा बूँदी, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और सिरोही के विद्रोही हिन्दू राजा शीघ्र अकबर की शरण में आ जाते। प्रताप की स्वतन्त्रता इन राजाओं को बल प्रदान कर रही थी। विवश होकर अकबर को युद्ध करना पड़ा।

मी हो सकता था जबकि प्रताप की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाय। प्रताप अपनी प्राचीन वश परम्पराओं के आधार पर और स्थानीय लगाव के कारण अकबर के दरबार मे पराधीनता के पकवान खाकर जीने से वह जगल मे रहना, सूखी भाजी खाना अधिक पसन्द करता था। यह सिद्धान्तों की लड़ाई थी जिसमे एक तरफ स्वतन्त्रता प्रताप को बलिदान के लिये प्रेरित कर रही थी और दूसरी तरफ अकबर का साम्राज्यवादी पौरुष उसे ललकार रहा था कि 'सारे भारत का स्वामी एक छोटे से महत्वपूर्ण पहाड़ी प्रदेश को नहीं जीत सका। प्रताप के मन मे द्वन्द्व था कि क्या वह अपने अन्य राजपूत राजाओं की तरह अकबर के हरम में अपनी लड़की या बहन की डोली भेज कर दरबारी शान शौकत प्राप्त करले या अपने घराने की इज्जत के खातिर अपने प्राणों की आहुति दे दे। यही कारण है कि उसने अपने वश की परम्परा को बनाये रखने के लिये मुगल बादशाह से सुलह करना उपयुक्त नहीं समझा। डॉ० गोपीनाथ शर्मा कहते है कि—"प्रताप के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतन्त्रता का सैनिक था तथा आत्मसमर्पण करने को तैयार नही था। वह इस इन्कार के परिणामों से परिचित था इसलिये विपदा का सामना करने को यथा सम्भव तैयारियाँ करलो।" (पृष्ठ 91) इसी समय अकबर भी बगाल विजय से निपट चुका था अत: मेवाड़ पर आक्रमण उसका अगला निश्चित कदम बन गया। इन्हीं कारणों को लेकर हल्दीघाटी का युद्ध लड़ा गया।

यहाँ अबुलफजल की एक पक्ति दे देना उपयुक्त होगा। अकबर के दरबार का यह विद्वान लेखक कहता है कि राणा प्रताप के अभिमान को नीचा दिखाना आवश्यक हो गया था क्योकि उसे अपने पूर्वजों के वश की कीर्ति, स्थिति की दृढ़ता, अपने राज्य के विस्तार और सम्मान के लिये जीवन बलिदान करने को तत्पर राजपूतों की विशाल सख्या का अभिमान हो गया था। उसका दमन इसलिये आवश्यक हो गया था कि "उसकी अवमानना, गर्व, कपट और मन सभी सीमाओ को पार कर गये थे।"*

युद्ध की तैयारी :—18 मार्च, 1576 को अकबर स्वय अजमेर आया और बहुत सोच विचार कर आखिरकार मानसिंह को अभियान का सेनापति नियुक्त किया। मानसिंह की गणना साम्राज्य के सबसे अच्छे सेनापतियों मे होती थी। वह अकबर का पूर्ण विश्वसनीय भी था और 'पुत्र' की उच्च उपाधि से विभूषित था। मानसिंह की सहायता के लिये चुने हुए सैनिक दिये

* अबुलफजल—'अकबर नामा' जिल्द 3, पृष्ठ 173

ाना। उसे खाना भूल मत जाना।" जहाँ मानसिंह ठहरा था उसे धोकर
ाग पर गंगा जल छिड़का गया। यह कथा वास्तव में रोचक है। मानसिंह के
ाथ प्रताप ने खाना नहीं खाया होगा और आवेश में इस प्रकार की छींटाकशी
ा हो जाना स्वाभाविक सा लगता है। इस कथा की पुष्टि 'वीर विनोद' के
ूसरी जिल्द के पृष्ठ 147 पर कविराज श्यामलदास भी करते हैं। श्री
भी अपनी पुस्तक 'राजपूतों का इतिहास' के पहले भाग के पृष्ठ 234 पर
कथा की पुष्टि करते है। श्री ओझाजी भी मेवाड़ के इतिहास में इसे
प्रदान करते हैं किन्तु राजस्थान के आधुनिक विद्वानों में डॉ० रघुवीरसिंह
पुस्तक पूर्व आधुनिक राजस्थान के पृष्ठ 51 पर इस कथा को काल्पनिक
कर लिखते हैं कि—'अनेकों युगों बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप
अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।"
किन विश्वस्त सूत्रों के आधार पर इसे काल्पनिक माना जाय यह डॉ० रघुवीर
ने नहीं बताया। डॉ० गोपीनाथ शर्मा भी इस कथा को काल्पनिक बताते
अपनी पुस्तक 'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 89 के फुटनोट में
हैं कि—"इस कहानी में सत्य का कोई स्पर्श नहीं है। राणा से भेंट
बार में जाने से मना करने पर यह रंगीन कथा घड़ ली गयी है।" किन्तु
प्रशस्ति के 21 वें दोहे में भोजन पर मानसिंह और प्रताप के बीच मनमुटाव
का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। वह मनमुटाव फिर क्या था? जो भी हो
गहलोत, ओझा, वीर विनोद, राजप्रशस्ति आदि सभी इस घटना को
का एक कारण मानते हैं आधुनिक इतिहासकार इसको नहीं मानते किन्तु
किसी अनुसंधान के इस महत्वपूर्ण कथा को रद्दी की टोकरी में डालना
ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ अन्याय होगा। अतः जब तक कोई इतिहासकार
के कारणों पर पूरा अनुसंधान कर सत्य पर प्रकाश न डाले तब तक इसे
लेना भावनाओं के विपरीत नहीं होगा। नैणसी मेहता ने भी अपनी 'ख्यात'
इस कथा का इसी प्रकार वर्णन किया है। सर्वोपरी बात तो यह है कि मानसिंह
का प्रयास विफल गया और युद्ध आवश्यक हो गया। तीन प्रयासों की असफलता
लता ने अकबर को युद्ध के लिये बाध्य कर दिया।

5. साम्राज्यवाद या स्वतन्त्रता.—डॉ० गोपीनाथ शर्मा इस युद्ध का
मूल कारण साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतन्त्रता का संग्राम बताते हैं। अकबर
महान् साम्राज्यवादी था वह अपने समय के प्रारम्भ से पूर्ण साम्राज्यवादी
जबकि प्रताप मेवाड़ की स्वतन्त्रता चाहता था। एक म्यान में दो तलवारें
रह सकती थी। अकबर ... भीन एक संयुक्त राष्ट्र देखना चाहता था

भी हो सकता था जबकि प्रताप की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाय। प्रताप
पनी प्राचीन वंश परम्पराओं के आधार पर और स्थानीय लगाव के कारण
पारे के दरबार में पराधीनता के पकवान खाकर जीने से वह जंगल में
हना, सूखी खाना अधिक पसंद करता था। यह सिद्धान्तों की लड़ाई थी जिसमें
क तरफ स्वतन्त्रता प्रताप को बलिदान के लिये प्रेरित कर रही थी और दूसरी
रफ अकबर का साम्राज्यवादी पौरुष उसे ललकार रहा था कि सारे भारत
ा स्वामी एक छोटे से महत्वपूर्ण पहाड़ी प्रदेश को नहीं जीत सका। प्रताप के
न में द्वन्द्व था कि क्या वह अन्य राजपूत राजाओं की तरह अकबर के
रम में अपनी लड़की या बहन की डोली भेज कर दरबारी शान शौकत प्राप्त
रले या अपने घराने की इज्जत के खातिर अपने प्राणों की आहुति दे दे। यही
ारण है कि उसने अपने वंश की परम्परा को बनाये रखने के लिये मुगल
ादशाह से सुलह करना उपयुक्त नहीं समझा। डॉ० गोपीनाथ शर्मा कहते हैं
क—"प्रताप के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतन्त्रता का नैतिक
त तथा आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं था। . वह इस इन्कार के परि-
ामों से परिचित था इसलिये विपदा का सामना करने की यथा सम्भव
यारियां करली।" (पृष्ठ 91) इसी समय अकबर भी बंगाल विजय से निपट
ुका था अतः मेवाड़ पर आक्रमण उसका अगला निश्चित कदम बन गया।
न्हीं कारणों को लेकर हल्दीघाटी का युद्ध लड़ा गया।

यहाँ अबुलफजल की एक पंक्ति दे देना उपयुक्त होगा। अकबर के दर-
ार का यह विद्वान लेखक कहता है कि राणा प्रताप के अभिमान को नीचा
देखाना आवश्यक हो गया था क्योंकि उसे अपने पूर्वजों के वंश की कीर्ति,
स्थिति की दृढ़ता, अपने राज्य के विस्तार और सम्मान के लिये जीवन बलिदान
करने को तत्पर राजपूतों की विशाल संख्या का अभिमान हो गया था। उसका
दमन इसलिये आवश्यक हो गया था कि "उसकी अवमानना, गर्व, कपट और
दर्प सभी सीमाओं को पार कर गये थे।"*

युद्ध की तैयारी—18 मार्च, 1576 को अकबर स्वयं अजमेर आया
और बहुत सोच विचार कर आखिरकार मानसिंह को अभियान का सेनापति
नियुक्त किया। मानसिंह की गणना साम्राज्य के सबसे अच्छे सेनापतियों में
होती थी। वह अकबर का पूर्ण विश्वसनीय भी था और 'पुत्र' की उच्च
उपाधि से विभूषित था। मानसिंह की सहायता के लिये चुने हुए सैनिक दिये

* अबुलफजल—'अकबर नामा' जिल्द 3, पृष्ठ 173

र प्रताप को भी सुरक्षित स्थान छोड़कर मैदान मे आना पड़ा। इस स्थान
जाने के लिये एक बहुत सँकड़े रास्ते से जाना पड़ता था जिसमे से एक
य मे एक ही आदमी जा सकता था । मानसिंह ने अन्दर न जाकर समझ-
ी की।

हल्दी घाटी का युद्ध —मेवाड़ के भाग्य निर्णय का यह युद्ध एक दिन का
। डा० श्री वास्तव का कहना है कि राणा ने 18 जुन 1576 को प्रात
ल दर्रे से निकल कर मुगल सेना पर आक्रमण किया।[1] तिथि का समर्थन वे
कबर नामा' जिल्द 3 पृष्ठ 174 से करते हैं। जब कि डा० गोपीनाथ युद्ध
होने की तारीख 21 जून बताते है। वे अपनी तिथि के समर्थन मे बदायूनी
ुलफजल और जगन्नाथ राय अभिलेख का हवाला देते हैं।[2]

तीन दिन के फरक से घटना चक्र नही बदलने का। प्रारम्भिक आक्रमण
प्रताप की सेना ने मुगलों की अग्रिम पंक्ति को धूल मे मिला दिया और जगन्नाथ
हवा और आसफ खाँ को भाग कर पीछे शरण लेनी पड़ी दूसरा आक्रमण बाये
र दाहिने भाग पर हुआ और उसे भी हराकर पीछे हटा दिया । साँभर के
करण की सेना जो बायें पक्ष मे थी भेड़ो की तरह भाग गई। फतहपुर
करी के शेख मंसूर भी डर कर भाग गये । भागते भागते एक तीर शेख
ूर के अगूठे को काटता हुआ निकल गया और दूसरा उसके चूतड़ो मे घुस
ा और वह यह चिल्लाता हुआ भागा कि—"घोर आपत्ति के समय भाग
ना मुहम्मद साहब की उक्तियों मे से एक है।" डा० श्री वास्तव कहते
कि—"राजपूतो के इस पहले हमले मे ही मुगलो की पीठें मुड़ गयी और
अपनी बागें खीचना भूल कर बनास नदी के उस पार 10-12 मील तक
ग गये।"

राणा ने अब मुगलो के मध्य भाग पर आक्रमण किया । यहीं से युद्ध
पलड़ा बदला। मानसिंह ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। आपसी कटुता से
युद्ध भीषण हो उठा था। दोनों तरफ द्वन्द्व युद्ध हो रहे थे। हाथियो के युद्ध
राणा की पराजय हुई क्योंकि उसके कई महावत गोली या तीर से मारे गये
और खाली हाथियों पर मुगलों ने अपने महावत कुदा कर अपना अधिकार
र लिया था। प्रताप का युद्ध मे निपुण श्रेष्ठ हाथी 'रामप्रसाद' जिसे पाने
अकबर बहुत बेचैन था मुगलों के हाथ पड़ गया । अमर काव्य वंशावली

[1] डॉ० ए. एल. श्री वास्तव-अकबर महान-पृष्ठ—203

[2] डॉ० गोपीनाथ शर्मा-मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स पृष्ठ—97

[illegible] ने राणा प्रताप की कीर्ति को अधिक समुज्ज्वल [illegible] स्थान की स्वाधीनता के एकमात्र क्रियात्मक समर्थक राणा प्रताप का पराजयपूर्ण स्मृति वाला वह युद्ध क्षेत्र भी स्वतन्त्रता देवी की बलिवेदी पर मर मिटने वाले उन स्वामीभक्त देश प्रेमी वीरों के पुनीत रुधिर से सींचा जाकर राजस्थान की थर्मापली और समूचे भारत के स्वाधीनता प्रेमियों के लिये पुण्य पवित्र तीर्थ स्थान बन गया।[1]

मयूरी विजय:—श्री गहलोत का कहना है कि—"मुगल सेनापति मानसिंह जीत कर भी मेवाड़ राज्य पर पूर्णतया कब्जा नहीं कर सका।" मुगल सेना को पहाड़ों में पानी और खाद्य सामग्री का बहुत अभाव था। बंजारे अनाज लेकर भी नहीं आते थे। राजपूतों ने यातायात के सब मार्ग काट दिये थे। इसलिये मानसिंह फौरन ही हल्दी घाटी से पीछे लौट आया। उसने गोगुण्डा नगर पर अधिकार कर लिया। वहां केवल 20 राजपूत रहते थे, उन्हें मार डाला गया। पहाड़ी प्रदेश पर खेती कम होती थी रसद पाने के मार्ग संकड़े और दुर्गम थे अतः मुगल सेना गोगुण्डा में पशुओं का मांस और अधिकता से पाये जाने वाले आम खाकर जी रही थी। निराश होकर मानसिंह सितम्बर 1576 ई. में वापस लौट आया। वह पूरे मेवाड़ को अधीन नहीं कर सका। उसने सिर्फ गोगुण्डा जीता था जिस पर प्रताप ने मानसिंह के लौटते ही वापस अधिकार कर लिया।

असंतोष—हल्दीघाटी के युद्ध के परिणाम सतोषजनक नहीं थे। बादशाह अकबर भी इनसे सन्तुष्ट नहीं था। वह चाहता था कि मानसिंह जैसे भी हो जिन्दा या मृत अवस्था में प्रताप को पकड़ कर लाता। जब मानसिंह असफल रहा तो अकबर ने उसे बुरा भला भी कहा, किन्तु बाद में उसकी समझ में आ गया कि जून की कड़कड़ाती धूप में पहाड़ियों पर छिपे भीलों का पीछा करना सरल ही नहीं असम्भव था। इस युद्ध में असफल रहने के कारण मानसिंह और आसफ खां ने दरबार में आना भी बन्द कर दिया था। जितनी चर्चा इस युद्ध की है उसको देखते हुए उसके परिणाम ऊँट के मुँह में जीरा मात्र है।

आधुनिक राजस्थान:—इस विजय के बाद अकबर ने पूर्ण राजस्थान को अपने अधीन मानकर उसे अजमेर सूबे का नाम दिया। चित्तौड़ भी इस

[1] डॉ० रघुवीर सिंह 'पूर्व आधुनिक राजस्थान'—पृष्ठ 57-58

ल एक मात्र यही था। अकबर इस औपचारिक विजय से सन्तुष्ट नहीं हुआ र उसने राणा को दूसरों से अलग करने का प्रयत्न किया। वह जालौर र सिरोही से प्रताप के सम्बन्ध खराब कर उसे चारों तरफ से घेर लेना हता था। जालौर का ताजखाँ और सिरोही के देवरा राव प्रताप के मित्र समर्थक थे। अकबर ने एक सेना इन दोनों के विरुद्ध भेजी और उन्हें बाद ह की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। अन्यथा इनका राज्य ही समाप्त हो ता। प्रताप को मित्र विहीन बनाकर चारों तरफ से घेरने के लिये अकबर सिरोही और जालौर को भी अपने अधीन कर लिया। यह विजय हल्दी टी का प्रत्यक्ष परिणाम थी।

अकबर गोगुन्दा में—जालौर और सिरोही को अधीन कर, मेवाड़ सब रास्तों को बन्द कर अकबर स्वयं गोगुन्दा आया। उसे आशा थी कि ो काम उसके योग्य सेनापति नहीं कर सके वह उसकी उपस्थिति मात्र से जायगा। मेवाड़ के लोग डर जायेंगे और राणा आत्म समर्पण कर देगा। ाप ने मुगल सेना को आता देख पहाड़ों में प्रवेश किया जहाँ वह अगले कई लों तक रहा। अकबर गोगुन्डा से भी आगे बढ़कर हल्दी घाटी तक आ गया न्तु वह प्रताप को नहीं फँसा सका। अपने प्रयास में असफल रहने पर कबर ने इस क्षेत्र में 3,500 वीर सैनिकों को छोड़ दिया और स्वयं उदयपुर बासवाड़ा होता हुआ मालवा चला गया। सैनिकों को प्रताप से निरन्तर द्ध का आदेश था। अकबर चाहता था कि हल्दी घाटी का अधूरा काम स्वय रा कर दें किन्तु उसकी यह योजना भी असफल रही। प्रताप तो हाथ नहीं या किन्तु ईडर के राजा नारायण दास को हराकर ईडर को मुगल राज्य मिला लिया गया। हल्दी घाटी पर अकबर का क्रोध, ईडर का पतन न गया।

शाहबाज खाँ का आक्रमण—अकबर ने सोचा था कि उसके जाने मात्र भयभीत होकर राणा प्रताप उसकी अधीनता स्वीकार कर लेगा किन्तु जब सका हर प्रयास विफल जाता दिखा तो उसने शाहबाज खाँ को मेवाड़ पर रन्तर आक्रमण करने के लिये नियुक्त किया। अकबर को हल्दी घाटी के युद्ध मे फलता नहीं मिल सकी थी, उसका मेवाड़ घेरो और प्रताप को मित्र विहीन रो अभियान भी बेकार गया, यहाँ तक की उसका खुद का गोगुण्डा आना कार हो गया। तब उसने राणा की सुख और शान्ति हरने को शाहबाज को नियुक्त किया।

दूसरी तरफ प्रताप भी शत्रु के घेरे में रहने

आक्रमण और प्रदेश उजाड़ों की नीति को अपना लिया। उसने मुगलों
अधीन मेवाड़ पर भयानक आक्रमण किये और वहाँ फसल तक को नष्ट
दिया ताकि मुगलों को किसी प्रकार का लाभ न हो। अक्टूबर 1577
उसने मोही किले के सैन्य दल पर आक्रमण कर थानेदार शिहाबुद्दीन को
मार डाला। अकबर की प्रतिष्ठा पर यह एक बड़ा दाग था अब उसने
राणा प्रताप के दमन को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। साम्राज्य
सत्ता और अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये प्रताप का दमन आवश्यक
गया। इसलिए अकबर ने अपने श्रेष्ठ सेनापति शाहबाज खाँ को उसका
दमन के लिये भेजा। अबुलफजल लिखता है कि—"राजनीतिक एकता
कोई दरार न पड़े और विश्व का खुशनुमा गमार यह अनेकता की हवाएँ
प्रभावित न हो।", इसलिये बादशाह ने कोई आधा दर्जन वीर सेनापति
को शाहबाज खाँ के साथ राणा को नष्ट करने भेजा।

शाहबाज खाँ ने पाँच महीने के अन्दर उदयपुर से 40 मील उत्तर
कुम्भलगढ़ को घेर लिया। उसने भगवतदास, मानसिंह आदि हिन्दू सेनापति
को इसलिये दिल्ली वापस भेज दिया ताकि वे कुम्भलगढ़ के घेरे को असर
न बना दें। किले में एक भारी तोप फट जाने से सारी युद्ध सामग्री नष्ट
गयी। राणा सन्यासी का भेष बनाकर किले से निकल गया। तीन अप्रै
1578 को किले पर शाहबाज खाँ का अधिकार हो गया। उसने एक
दौर में गोगुण्डा और उदयपुर पर भी पुन अधिकार कर लिया। राणा ने
प्रदेशो को जीत लिया था। इस विजय के बाद वह फतहपुर सीकरी ल
आया। उसके जाते ही राणा ने फिर अपने प्रदेशों पर अधिकार करना शु
कर दिया। इस प्रकार की विजय पराजय तीन बार हुई। शाहबाज खाँ
तीन बार मेवाड पर भयानक आक्रमण किये किन्तु उसके लौटते ही रा
प्रताप ने अपना प्रभुत्व वापस स्थापित कर लिया। शाहबाज खाँ भी राणा
पकड़ने या नष्ट करने मे असफल रहा।

प्रताप की सफलता—शाहबाज के आक्रमणो के बाद अकबर
जगन्नाथ कछावा को फिर भेजा जिसने कई छापामार युद्धों मे राणा के
स्थानों पर आक्रमण किया किन्तु यह भी उसे पकड या अधीन नही कर सक
जगन्नाथ भी 1585 मे वापस लौट गया। तब से 1597 तक बारह वर्ष
समय मे अकबर ने राणा पर कोई आक्रमण नही किया और इस समय में रा
शक्ति सगठन किया और पश्चिमी आधे मेवाड़ पर पुनः अपना अधिक
लिया उदयपुर, माण्डलगढ़, जहाजपुर आदि महत्वपूर्ण स्थानों पर रा

से वापस अधिकार कर लिया। अकबर ने हर किले में एक थानेदार और हजार सैनिक छोड़ रखे थे।[1] राणा ने एक एक कर इन्हें पराजित कर अपना राज्य वापस ले लिया। शासन संगठन किया और चावंड की नई राजधानी बसाई। चावंड में एक धनुष की कठोर प्रत्यंचा खेंचते समय राणा की एक आंत फट गई और वह अपने नवनिर्मित महल में 19 जनवरी 1597 को परलोक सिधार गया।

अकबर प्रताप के बीच 25 वर्ष तक संघर्ष रहा जिसमें अकबर के अनुचित उद्देश्य पूरे नहीं हो सके। डॉ॰ श्री वास्तव कहते हैं कि अकबर असफल रहा प्रताप सफल हुआ। एक महान और सर्व शक्तिमान सम्राट उसका विरोधी था और उसके–महान सामाज्य की पूरी शक्ति उसके विरुद्ध लगी हुई थी, पर फिर प्रताप ने परतन्त्र होना स्वीकार नहीं किया। इस पूरे युद्ध में अपने राज्य की स्वतन्त्रता और वंश का सम्मान बनाये रखने की सर्वग्रामी लालसा ने ही महान राणा को जीवित रखा था। वह फुसलावे और शक्ति के आगे न झुका और न लड़खड़ाया ही।"[2]

प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रताप ने अकबर के भारत की एकता के कार्य में सम्मिलित न होकर गलती की? इस असहयोग के लिये अकबर ही अधिक दोषी है अकबर राणा प्रताप की उपस्थिति अपने दरबार में चाहता था जो उसे प्राप्त न हो सकी। प्रताप हमेशा अकबर के दूतों का सम्मान करता था। प्रताप हमेशा हर दूत से यही कहता था कि मुगल दरबार में उसकी उपस्थिति को माफ कर दिया जाय किन्तु अकबर जैसा महान शासक भी इस छोटी सी बात को नहीं मान सका। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि राणा एक सही कारण के लिये लड़ रहा था और अकबर सिर्फ अपने अहम् और जिद की पूर्ति चाहता था। अकबर ने अपनी धर्म निरपेक्षता का प्रदर्शन प्रताप पर क्यों नहीं किया? उसकी यह नीति सिर्फ 80 वर्ष तक चल सकी।

राणा प्रताप एक महान हिन्दू नायक ही नहीं बल्कि हिन्दू सम्मान और प्रतिष्ठा का सफल रक्षक भी था। राजस्थान पर होने वाले निरन्तर आक्रमणों का प्रभाव वहाँ के साहित्य, कला और संस्कृति के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा

[1] वीर विनोद—जिल्द. 2, पृष्ठ 163.

[2] डॉ॰ ए. एल श्री वास्तव—'अकबर महान' पृष्ठ 217.

जिसका वर्णन अलग किया जायगा। प्रताप ने अपने निर्वासित काल में उ
कष्ट सहे जिनसे उसका चरित्र और गौरव दोनों आज भी प्रामाणित हैं।

प्रताप के पुत्र के समय में लिखे 'अमर सार' से विदित होता है कि राण
ने राज्य में शान्ति स्थापित कर ली थी। प्रजा को किसी प्रकार का भय न
था। उसने शिक्षा की व्यवस्था की थी और उसके राज्य में दूध की बह्
तायत थी और कई प्रकार के फलों के पेड़ लगाये गये थे। समृद्धि
इस युग में कई नये नगरों का निर्माण हुआ जिसमें स्वामी भक्त और धनी प्रज
निवास करती थी। डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"

"प्रताप के राज्य में मगने बारह वर्ष, सुख शान्ति और विदेशी आक्र
मणों से मुक्ति लिखी थी।"[1]

अध्याय 12

राव मालदेव

1531–1562

राव मालदेव

मारवाड़ के इतिहास में मालदेव का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है
[illegible]

[illegible]

...ा ही सामना करना पड़ा था और प्रताप भी एक मात्र अकबर का प्रतिद्वन्दी ...ा, किन्तु मालदेव को आन्तरिक वैमनस्य और विदेशी आक्रमणकारियों का ...क साथ सामना करना पड़ा। गुजरात का बहादुरशाह, दिल्ली का हुमायूं ...ौर बिहार का शेरशाह तो उसकी प्रगति में बाधक थे ही किन्तु राजस्थान के ...ाजपूत राजा भी मालदेव के मार्ग में बड़ी रुकावट थे। उसे जिस प्रकार शेर-...ाह से उलझना पड़ा उसी प्रकार उसने बीकानेर, जैसलमेर, मेड़ता आदि ...18 राजस्थानी स्थानों पर विजय प्राप्त कर अपने पुरुषार्थ का प्रमाण दिया। ...उसके 31 वर्षीय शासन काल में मारवाड़ का जो राज्य विस्तार हुआ तथा ...इस विजय को अपना कर मालदेव ने मारवाड़ को सुदृढ़ और शक्तिशाली ...राज्य बनाया, उससे वह मारवाड़ के ही नहीं सारे राजस्थान के इतिहास में ...अमर हो गया है। सन् 1531 में जब मालदेव मारवाड़ की गद्दी पर बैठा ...तो जोधपुर के अतिरिक्त उसके राज्य में सोजत और मंडोर मात्र दो राज्य ...ही और थे। मालदेव के शासन काल में जोधपुर का राज्य अपनी चरम सीमा तक आ पहुँचा था। समय मालदेव के अनुकूल था और परिस्थितियाँ उसका मार्ग दर्शन कर रही थीं। मालदेव को किन परिस्थितियों ने महान बना दिया, यह देखने से पहले यदि हम उसके पूर्वजों की स्थिति और उसके पिता राव गंगा का संक्षिप्त अवलोकन कर लें तो मालदेव की प्रगति पर आश्चर्य नहीं होगा।

1. पूर्व स्थिति—मालदेव ने स्वयं मुगलों से शत्रुता मोल नहीं ली थी। उसके पिता राव गांगा ने राणा सांगा से मित्रता कर ली थी और ईडर के उत्तराधिकार युद्ध में रायमल की मदद करने के लिए राणा सांगा को सात हजार सैनिकों की सहायता दी थी। बाबर के विरुद्ध खानवा के युद्ध में भी चार हजार मारवाड़ी सैनिक सांगा की तरफ से लड़े थे। तैलसी अपनी स्थान को

जालौर व नागौर के शासक जोधपुर से डरते तो थे किन्तु आन्तरिक शत्रुता रखते थे। मेड़ता का जागीरदार वीरमदेव भी राव गांगा की अवहेलना किया करता था। उसने मेवकी के मैदान से भागे दौलत खां के हाथी को पकड़ लिया और जब राव गांगा ने इस हाथी की मांग की तो वीरमदेव ने देने में आनाकानी की। फलस्वरूप राव गांगा और मालदेव ने मेड़ता पर आक्रमण किया। वीरमदेव ने दोनों का स्वागत किया और हाथी देने का भी वादा किया। यह हाथी बाद में जोधपुर भेजा गया जिसकी मार्ग में ही मृत्यु हो गई। इस घटना से मेड़ता और जोधपुर के सम्बन्ध भी खराब हो गये। सोजत का जागीरदार वीरम भी स्वतन्त्र होना चाहता था। अतः राव गांगा ने उसे गद्दी से हटा कर अधिकांश भाग अपने अधीन कर लिया व वीरम को कुछ गाँवों की जागीर मात्र दे दी। इससे सोजत का जागीरदार भी जोधपुर व राव गांगा का शत्रु बन गया।

इस प्रकार यदि हम 1531 ई० में जोधपुर की राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होगा कि मारवाड़ के आन्तरिक राज्य, सोजत, मेड़ता, जालौर, व नागौर, मारवाड़ के कट्टर शत्रु थे, जिन पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना था।

गुजरात का सुल्तान बहादुरशाह भी ईडर के प्रश्न को लेकर मारवाड़ से चिढ़ गया था। मेवाड़ की आन्तरिक शक्ति डाँवाडोल थी। बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ स्वयं डाँवाडोल स्थिति में था। मालदेव ने उसे सहायता का प्रलोभन देकर एक शत्रु कम कर लिया तो बिहार का शासक शेरशाह नाराज हो गया। इस सब उथल-पुथल के बीच मालदेव ने जिस नीति निपुणता से आधुनिक मारवाड़ का राज्य संगठन किया वह सराहनीय है। सारा देश अनिश्चित वातावरण में घुट रहा था। ऐसे समय में मारवाड़ को शान्ति और समृद्धि प्रदान करने वाला मालदेव वास्तव में राजस्थान के प्रभावशाली शासकों में अपना स्थान सुरक्षित कर लेता है।

2. प्रारम्भिक जीवन—मालदेव राव गांगा का ज्येष्ठ पुत्र था। वह बाल्यावस्था से ही हर अभियान में अपने पिता के साथ रहता था। नागौर, जालौर और मेड़ता के अभियानों में वह अपने पिता के साथ था। बचपन में ही उसे युद्ध और नीति के दाँव पेंच आ गये थे। वह एक महत्वाकांक्षी युवराज था। टाड महोदय का कहना है कि मालदेव ने "लूनी के आसपास के प्रदेश जिन पर उसके पूर्वजों में सर्वप्रथम अधिकार किया था और जो प्रदेश स्वतन्त्र हो चुके थे, उन्हें पुनः अपने अधिकार में किया और उनको अपना आधिपत्य स्वीकार करने और सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य किया।" उसने अपने

शासन के प्रारम्भिक दस वर्ष पडोसियो को दबाने और उन पर अपना प्रभु
स्थापित करने मे व्यतीत किये ।

राव मालदेव के राज्य प्राप्ति पर इतिहासकार मे संदेह की भावना है।
ऐसा माना जाता है कि राव मालदेव ने अपने पिता गागा राव की हत्या कर
राज्य प्राप्त किया था । डॉ० रघुवीर सिंह जी अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक
राजस्थान' के पृष्ठ 27 पर लिखते हैं कि—"आपसी झगडो और बढ़ते
आक्रमणो के फलस्वरूप मेवाड राज्य की शक्ति क्षीण हो रही थी, तब राज
स्थान के ही एक दूसरे कोने मे राठौडो के मारवाड राज्य की सत्ता का उद
हो रहा था । मई 1532 ई० के प्रारम्भ मे मालदेव ने बहुत ही नम्र
शान्तिप्रिय स्वभाव वाले अपने अफीमची पिता, मारवाड के शासक राव गंगा
को ऊपर की मंजिल के झरोके मे से गिरा कर मार डाला, तथा स्वयं मारवाड
का शासक बन गया ।" इतिहासकार रेऊ 'मारवाड के इतिहास' भाग एक के
पृष्ठ 115 पर राव गांगा की मृत्यु अकस्मात् झरोके से गिर जाने के कारण बताते
हैं उनका कहना है कि—"1531 ई० के एक दिन राव गागा अफीम की पीनक
मे झपकी लेने के कारण अपने महलो की एक खिडकी से गिर कर मर गया।"
ओझाजी 'जोधपुर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 180-81 पर कहते हैं
कि—"कुंवर मालदेव बडा महत्वाकांक्षी था । उसने अफीम की पीनक में
हुए राव गागा को ऊपर खिडकी से नीचे गिरा दिया ।" इसी प्रकार मुहणोत
ख्यात मे एक दोहे मे गागा की हत्या का वर्णन इस प्रकार किया है कि मालदेव
ने गांगा के अंग रक्षक भाण और मूला पर आक्रमण किया । स्पष्ट है कि माल
देव षड्यन्त्र मे शरीक था । रेऊ मालदेव पर यह कलंक नहीं लगाना चाहते
अत अचानक नशे मे झपकी आने से गिर जाना बताते हैं किन्तु स्थिति को
देखते हुए मालदेव का घटना मे सम्मिलित होना सामान्य बात लगती है।
जोधपुर राज्य की ख्यात भाग एक के 33 पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है कि मालदेव
ने झरोके से गांगा को गिराया । डॉ० गोपीनाथ और रघुवीर सिंह भी इस
मत से सहमत हैं । अत स्पष्ट है कि मालदेव अपने पिता को मार कर मारवाड़
की गद्दी पर बैठा था ।

मालदेव 5 जून 1531 ई० के दिन गद्दी पर बैठा । उसने 31 वर्ष
राज्य किया और सात नवम्बर 1562 को उसका देहान्त हो गया । जोधपुर
मे उसने अपने पिता की हत्या की थी अत जोधपुर मे ही राज्याभिषेक कराने
की उसकी हिम्मत न हो सकी । जोधपुर उस समय षड्यन्त्रो का केन्द्र हो गया
था अत मालदेव ने विरोध को टालने के लिए सोजत में अपना राज्याभिषेक
किया । समय के साथ वह जोधपुर आने जाने लगा और फिर जोधपुर में
रहने लगा । मालदेव ने अपने पड़ोसी राज्यों से सम्बन्ध सुधारे । उसने बहादुर
के विरुद्ध वरसोंगदेव का साथ घोषित किया और जब गुजरात के सुल्तान ने

शेरशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो राणा विक्रमादित्य को सैनिक सहायता दी। उसने अपने योग्य सरदारों को मेवाड़ भेज कर वणवीर को बाहर निकाल कर उदयसिंह को चित्तौड़ की गद्दी पर बिठाया। बदले में महाराणा उदयसिंह ने चार लाख रुपया और बसन्तराय नामक हाथी मालदेव को भेजे। इस कथानक में अतिशयोक्ति लगती है और ओझा जी इसे सत्य नहीं मानते। लेकिन नैणसी और रेऊ इसका समर्थन करते हैं। जो भी हो मालदेव ने मेवाड़ के उत्तराधिकार प्रश्न में सक्रिय भाग लेकर जोधपुर का सम्मान बढ़ा लिया। इससे मालदेव का सम्मान भी बढ़ा। 'राम रूपक' नामक ग्रन्थ में मालदेव की प्रारम्भिक विजयों का वर्णन करते हुए चारण वीरभाण लिखता है कि—

'माल गय गादी राव माह
सबला कियां मापरे माह ॥'

3. मालदेव की विजय—मालदेव को गुजरात के शासक बहादुर शाह का सदा भय बना रहता था, किन्तु 1537 में उसका भी देहान्त हो गया। हुमायूं तो शेरशाह से उलझा था अतः इन दोनों का भी शुरू में कोई भय नहीं था। सब ओर से निश्चित होकर मालदेव ने राज्य विस्तार कार्य शुरू किया। उसकी विजय में प्रारम्भिक महत्वपूर्ण, भद्राजण, नागोर, मेड़ता, अजमेर, सिवाना और जालोर विजय हैं।

भद्राजण विजय—मालदेव राज्य विस्तार की नीति में विश्वास रखता था। उसने सबसे पहले 1539 में भद्राजण पर अधिकार किया। भद्राजण जोधपुर के दक्षिण में स्थित है। भद्राजण का स्वामी वीरा कई दिनों के युद्ध के बाद मारा गया। भद्राजण के सींधली शासक जोधपुर के विरोधी थे। वीरा के मारे जाने पर मालदेव ने भद्राजण की जागीर अपने लड़के रतनसिंह के नाम कर दी।' इस विजय से उसका एक प्रबल शत्रु समाप्त हो गया। इस अभियान में मेड़ता के जागीरदार वीरमदेव ने भी मालदेव का साथ दिया। इस प्रथम विजय ने मालदेव के हौसले बढ़ा दिये और वह अन्य विजय की योजनाएँ बनाने लगा। सगे हाथ उसने रायपुर पर भी आक्रमण कर दिया। रायपुर में भी सिंधली वंश का शासक था। मालदेव ने 1541 में उसे भी पराजित कर मार डाला और रायपुर भी अपने लड़के रतनसिंह को दे दिया। रेऊ अपनी पुस्तक मारवाड़ के इतिहास के पहले भाग के पृष्ठ 116 पर इस विजय का वर्णन करते हैं।

(ख) नागोर विजय 1536—भद्राजण और रायपुर जीतने के बाद मालदेव ने अपना ध्यान दूसरी तरफ की सीमा पर दिया। नागोर पर दौलत खाँ का अधिकार था और दौलत खाँ मालदेव के पिता के समय से मेड़ता लेने का प्रयत्न कर रहा था। मालदेव ने उपर्युक्त समय देखकर नागोर पर आक्रमण कर दिया।

दौलतखाँ ने मालदेव के चाचा शेखा के साथ जोधपुर पर भी आक्रमण किया था। उस समय दौलतखाँ जान बचाकर भाग गया था। दौलतखाँ ने हीगवाड़े के मैदान में मालदेव का सामना किया किन्तु हार गया। नागौर पर मालदेव का अधिकार हो गया। दौलतखाँ ने अपनी सारी सेना को एकत्रित करके एक बार फिर मालदेव पर आक्रमण किया किन्तु इस बार भी पराजित हुआ। मालदेव ने वीरम मांगलियान को नागौर का हाकिम नियुक्त किया और स्वयं जोधपुर लौट आया। कवि श्यामल दास, रेऊ और ओभाजी सभी मालदेव की इस विजय को महत्वपूर्ण बताते हैं।

(ग) मेड़ता व अजमेर विजय — (1535) यद्यपि मेड़ता में जोधपुर का ही एक हाकिम राज्य करता था किन्तु राव गांगा के समय से मेड़ता और जोधपुर के सम्बन्ध बिगड़ रहे थे। मेड़ता के हाकिम राव वीरमदेव ने दौलतखाँ का हाथी पकड़ लिया था और राव गांगा के मांगने पर भी नहीं दिया था। फलस्वरूप गांगा और मालदेव ने मेड़ता पर चढ़ाई की थी। अपनी दुर्बलता समझ कर वीरमदेव ने जोधपुर नरेश का स्वागत किया था और हाथी लौटाने का वादा भी। किन्तु हाथी मार्ग में ही मर गया था और मालदेव इस व्यवहार से असन्तुष्ट था। मालदेव इस प्रकार के हाकिमों को हटा देना चाहता था। उसने तेजा और कूंपा नामक योग्य सेनापतियों की अधीनता में एक सेना मेड़ता भेजी जिसने वीरमदेव को मेड़ता से निकाल दिया। वीरम देव अजमेर भाग गया और वहाँ से उसने मेवड़ा और रीयाँ पर पुन. अधिकार करने के लिये छापे मारे। फलस्वरूप तेजा और कूंपा ने आगे बढ़ कर अजमेर पर भी आक्रमण किया। वीरमदेव को अजमेर भी छोड़ना पड़ा और वह रायमल शेखावत के पास गया। एक वर्ष तक युद्ध की तैयारी करने के बाद उसने मेड़ता पर फिर से आक्रमण किया किन्तु मालदेव के योग्य सेनापति तेजा और कूंपा ने उसे फिर मार भगाया। निराश होकर वीरमदेव रणथम्भौर के मुसलमान हाकिम से मिला जो उसे शेरशाह के पास ले गया। आगे चल कर शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया और यही वीरमदेव मारवाड़ की पराजय का एक कारण बन गया। मारवाड़ के इस हाकिम ने मालदेव के लिये बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं। जो भी हो अपने प्रारम्भिक काल में मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता और अजमेर छीन कर अपने राज्य में मिला लिया।

(घ) सिवाना और जालोर विजय :— कृष्ण पक्षी आषाढ़ वि० (1537) का एक लेख सिवाना के कोट द्वार के बाहर प्राप्त हुआ है जिसके अनुसार मालदेव ने सिवाना विजय 1537 में की थी। टाड महोदय

का यह मत कि मालदेव ने सिवाना 1539 में जीता था असत्य सिद्ध होता है। उस समय सिवाना पर राणा डूगरसी राज्य करता था। मालदेव ने पहले अपनी एक सेना भेजी जिसे राणा डूगरसी ने परास्त कर वापस लौटा दिया तब स्वयं मालदेव अपनी पूरी शक्ति के साथ सिवाना पर चढ़ आया और उसने सिवाना के किले को घेर लिया। डूगरसी के पास रसद की कमी थी अतः वह किला खाली कर चुपचाप निकल गया और इस प्रकार बिना विशेष कठिनाई के मालदेव ने सिवाना का दुर्ग जीत लिया। डॉ० गोपीनाथ मालदेव की सिवाना विजय 1538 में लिखते हैं। इस वर्ष में कुछ सन्देह हो सकता है किन्तु यह स्पष्ट है कि मालदेव ने डूगरसी को भगा कर सिवाना पर अधिकार कर लिया।

इसी प्रकार जब उसे मालूम पड़ा कि जालौर का शासक सिकन्दर खाँ उसके विरुद्ध षडयन्त्र रच रहा है और उसे मारने का अवसर ढूंढ रहा है तो उसने जालौर पर आक्रमण कर सिकन्दर खाँ को बन्दी बना लिया। सिकन्दर खाँ मालदेव की कैद में ही मर गया। इस प्रकार सिकन्दर खाँ को अपने किये का फल मिल गया और उसके पतन के साथ मालदेव की प्रारम्भिक विजय का कार्य पूरा हो गया।

(ख) अन्य विजय:—मालदेव को अपनी पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में नागौर, सोजत और जोधपुर मिले थे। धीरे धीरे राज्य विस्तार कर उसने अड़तालीस जिलों पर अधिकार कर लिया। ऊपर हम उसकी भद्राजण, नागौर, मेड़ता, अजमेर, सिवाना और जालौर विजय का वर्णन कर चुके हैं। इस प्रकार उसका नौ जिलों पर अधिकार हो गया बाकी के 39 जिलों पर विजय प्राप्त करने में उसे विशेष कठिनाई नहीं पड़ी। उसकी अन्य विजय के प्रदेश सांभर, चाटू, डिडवाना, लौद्र, सोहागढ़, भागलगढ़, बीकानेर, भीनमाल, पोकरण, बाड़मेर, कमौनी, ओजावर, बखली, मलार, नाडौल, फलौदी, साँचौर, डीडवाना, चाटसू, लौहान, मलारना, देवरा, फतहपुर, अमृतपुर, काथर, सीतापुर, टौंक, टोडा, जहाजपुर, उदयपुर (शेखावटी में), मालपुर, बिलाड़ा, जैतारण, पच-भदरा आदि के शासकों को पराजित किया। इस प्रकार मालदेव ने सिर्फ दस वर्ष के समय में 48 जिलों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसके राज्य की सीमा दिल्ली और आगरे को छूने लगी। जिस समय शेरशाह ने 1540 में हुमायूँ को निर्णयात्मक रूप से पराजित किया उस समय मालदेव उत्तरी भारत का एक शक्तिशाली शासक बन चुका था और इस स्थिति में था कि उसकी सहायता भगोड़े हुमायूँ को पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठा सकती

5. मालदेव और जैसलमेर :—अपने पड़ोसी राज्यों से सबन्ध सुधारने के लिये मालदेव ने 1536 ई० में जैसलमेर की राजकुमारी उमादे से विवाह किया। लेकिन अज्ञात कारणों से पति पत्नी मे अधिक समय तक मेल नही रह सका। कदाचित अन्य रानियों के प्रभाव मे मालदेव जैसलमेर की राजकुमारी से रूठ हो गया। जब यह समाचार जैसलमेर के रावल लूणकरण को मिला तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा और उसने मालदेव की हत्या करवाने का षडयंत्र रचा। किन्तु उसकी खुद की रानी यह सहन नही कर सकी कि उसकी पुत्री विधवा हो जाय। अत उसने अपने पुरोहित राघवदेव के द्वारा मालदेव को सतर्क कर दिया। मालदेव को जब अपने ससुर लूणकरण की नीयत का पता चला तो उसका क्रोध और भड़क गया। रानी उमादे भी किसी प्रकार से मानने को तैयार नहीं थी। मालदेव ने नाराज होकर उमादे को अजमेर के तारागढ़ में रहने को भेज दिया। उमादे मारवाड के इतिहास मे रूठी रानी के नाम से विख्यात है। उमादे अजमेर मे रहने लगी और शेष सारी उमर उसने वैराग में काट दी किन्तु मालदेव के बुलाने पर भी वापस जोधपुर नही गयी।

जिस समय शेरशाह ने अजमेर पर आक्रमण किया उस समय मालदेव ने अपना दूत ईश्वरदास रूठी रानी को मनाकर जोधपुर लाने को भेजा। अन्य रानियों को यह भय हो गया कि यदि उमादे जोधपुर आ गयी तो मालदेव अपना सारा स्नेह उमी पर न्योछावर कर देगा और अन्य रानियों का महत्व कम हो जायगा अत दूसरी रानियों ने आसा नामक बारेठ को अजमेर भेजा कि वह उमादे को जोश दिलाकर जोधपुर लौटने से रोक दे। मालदेव के दूत ईश्वरदास के मनाने पर रानी जोधपुर लौटने को तैयार हो गयी किन्तु उस समय अन्य रानियों के दूत आसा ने रानी उमादे को एक ऐसा दोहा [illegible] जाग उठा और उसने जोधपुर [illegible] की पुस्तक मारवाड़ का इतिहास [illegible] इस प्रकार है—

"मान राखे तो पीव तज, पीव रखे तो मान।
दोय गयंद न बन्ध ही, एकण खम्भे ठांण ॥"

अपना शेष जीवन रानी ने अपने दत्तक पुत्र राम के साथ गूंदोज मे रह कर काट दिया और जब मालदेव का देहान्त हुआ तो वह भी सती हो गयी। अभिमान और स्नेह का ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। इस आपसी [illegible] मे जैसलमेर और जोधपुर के सम्बन्ध दीर्घकाल के लिये खराब हो गये [illegible] जब मालदेव पर विपत्ति आई तो जैसलमेर ने कोई सहायता नहीं की।

6. मालदेव और उदयसिंह :—प्रारम्भ में मेवाड़ और जोधपुर के सम्बन्ध अच्छे थे। हम अध्याय के प्रारम्भ मे देख चुके है कि बणवीर के विरुद्ध राव मालदेव ने राणा उदयसिंह की सहायता की थी। रेऊ आदि इतिहासकार तो यहां तक मानते हैं कि बणवीर को चित्तौड़ से भगाकर उदयसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर मालदेव ने ही बैठाया था और उदयसिंह ने उपहार स्वरूप मालदेव को हाथी और चार लाख रुपये आदि दिये थे। इस सारी कथा का सार अवश्य है कि मालदेव और उदयसिंह आपस मे मित्र थे। दो राज्यों की मित्रता एक रूपवती कन्या के प्रश्न को लेकर छिन्न भिन्न हो गयी। ओझा जी अपनी पुस्तक 'जोधपुर राज्य का इतिहास' के पहले भाग मे पृष्ठ 292-93 पर रोचक कथा का वर्णन करते हैं। झाला सज्जा का पुत्र जैतसिंह, उदयसिंह से नाराज होकर, अपनी उदयपुर की जागीर छोड़कर मारवाड़ गया। मालदेव ने इस असन्तुष्ट सामन्त को अपने यहां शरण दी और जागीर दे दी। बदले मे जैतसिंह ने अपनी पुत्री स्वरूपदेवी का विवाह के साथ कर दिया। कुछ समय बाद जब मालदेव एक दिन अपने सुसराल गया तो उसने जैतसिंह की छोटी लड़की को देखा और उसके रूप पर मुग्ध हो गया। मालदेव ने जैतसिंह की छोटी लड़की से भी विवाह करने की इच्छा प्रगट की। जैतसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने ससुराल छोड़ अपनी छोटी लड़की का विवाह राणा उदयसिंह से कर दिया। इस प्रकार झाला जैतसिंह और उदयपुर के सम्बन्ध तो ठीक हो गये लेकिन मालदेव को अच्छा नहीं लगा। उसने नाराज होकर कुम्भलगढ़ पर आक्रमण किया। गढ़ को जीत नहीं सका। एक कन्या के लिये उसने मेवाड़ से सम्बन्ध खराब कर अच्छा नहीं किया। वह अपने जीवन काल के लिये मेवाड़ जैसे राज्य का सहयोग खो बैठा।

7. विजय नीति :—मालदेव साम्राज्यवादी नीति का अनुगामी था। उसकी विजय नीति दृढ़ और कठोर थी। जिन शत्रुओं को उसके पूर्वज नष्ट नहीं कर सके थे उन सभी को एक एक कर मालदेव ने नष्ट कर दिया। इतिहासकारों ने उसकी इस साम्राज्यवादी नीति को विस्तार नीति, दमन नीति आदि नामों से सम्बोधित किया है। अध्ययन के लिये हम मालदेव की विजय नीति को दो भागों में बांट सकते हैं (1) मारवाड़ के सुदृढ़ किलों पर अधिकार करना। (2) सामन्तों को कुचल कर सारे मारवाड़ पर एकछत्र शासन करना।

[illegible] मालदेव ने मारवाड़ के सभी सुदृढ़ किलों पर अधिकार करना उचित समझा। इस नीति की पूर्ति के लिये उसने अजमेर, मेड़ता, नागौर, सिवाना, जालोर आदि किलों पर अधिकार किया। वह [illegible] इस नीति में पूर्णतया सफल रहा।

सामन्तों की शक्ति को भी उसने बिना किसी रहम के कुचल डाला। ज्यविस्तार में सबसे बड़े बाधक छोटे सामन्त ही होते हैं, जो अपने स्वार्थ लिये देश में फूट के बीज बोकर बड़े बड़े राज्यों का अन्त करवा देते हैं। लदेव ने मेवाड़ के छोटे बड़े 48 सामन्तों को पराजित कर अपने राज्य का स्तार किया। नीति के इस दूसरे भाग में भी वह पूर्णतया सफल रहा। धारणत: जोधपुर के सामन्त अपने आप को मारवाड़ के शासक से किसी रह कम नहीं मानते थे। अत: राज्य को शक्तिशाली व सगठित बनाने के ये दमन की नीति ही एक मात्र सिद्ध शस्त्र था, जिसका प्रयोग मालदेव ने फलता से किया।

इस प्रकार देखने से मालदेव की विजय नीति सफल लगती है, किन्तु हाँ उसमें दो विशेषता थी वहाँ एक भारी कमी या त्रुटि भी थी। प्रारम्भिक फलताओं ने मालदेव को अभिमानी बना दिया। वह जोश में सामन्तों को ी तरह नष्ट करने लगा। मेड़ता का शासक वीरमदेव उसके आतंक से यभीत होकर मदद के लिये शेरशाह के पास भागा था। यदि माल देव उससे ड़ता व अजमेर लेकर कोई छोटी जागीर देकर अपनी सेना में रख लेता तो ह शेरशाह की शरण में नहीं जाता। इसी प्रकार माल देव ने बीकानेर पर आक्रमण कर रावल जैतसी को मार कर उसके पुत्र कल्याण को अपना शत्रु ना लिया। कल्याण भी सहायता के लिये शेरशाह के पास जा पहुँचा और लदेव के लिये कठिनाई खड़ी हो गयी। मालदेव ने मेवाड़ और जैसलमेर ो भी व्यर्थ शत्रुता मोल ली यदि वह एक कन्या के लिये मेवाड़ से लड़ाई मोल हीं लेता तो शेरशाह के आक्रमण के समय उसे मेवाड़ जैसी शक्ति से सहायता मिल सकती थी। केवल राज्य विस्तार से ही काम नहीं चलता, राज्य की सुरक्षा के लिये अच्छे व शक्तिशाली मित्रों की भी आवश्यकता पड़ती है। यदि मालदेव जैसलमेर की राजकुमारी उमा दे को भी प्रसन्न रखता तो चारों ओर उसके मित्र ही होते। इसलिये यह कहने में कोई संकोच नहीं कि जहाँ मालदेव विजय में सफल था वहाँ वह विजय नीति में स्वाभाविक अभिमान का शिकार बन गया और उसने स्वयं अपने लिये कठिनाईयाँ मोल ले ली जिन्होंने उसे आपत्ति के समय अकेला रख दिया। मारवाड़, मेवाड़, जैसलमेर और बीकानेर की आपसी फूट ने शेरशाह का मारवाड़ अभियान सफल व सरल कर दिया। यदि मालदेव इन पड़ोसी राज्यों से मित्रता बनाये रखता तो उसके लिये शेर-शाह का सामना करना कदाचित इतना कठिन नहीं होता। उसकी विजय नीति सफल होते हुए भी दोषपूर्ण थी।

8. मालदेव और हुमायूँ—1540 ई. तक मालदेव मारवाड़ पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर चुका था। उसी समय बाबर का लाडला भाग्यहीन

क्यों गया ? इस सम्बन्ध को समझने के लिये हमें मूल रूप से यह देखना होगा कि पहले किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर मालदेव ने हुमायूं को निमंत्रण उसके बाद यह देखेंगे कि उसने दिया ? सहायता देने से मना क्यों किया ?

मालदेव द्वारा हुमायूं को मदद करने के कारण इस प्रकार आंके जा सकते हैं—(1) मालदेव राजपूत शक्ति की सहायता से हुमायूं को दिल्ली के सिंहासन पर बिठाना चाहता था ताकि दिल्ली का सम्राट उसका मित्र और समर्थक बना रहे। इसमें मालदेव की महत्वाकांक्षा ही नहीं वरन् साम्राज्य की सुरक्षा भावना भी छुपी हुई है। जिस हुमायूं के पिता ने खानुवा के युद्ध में उसके लड़के को मार डाला था उसी को वह दिल्ली के सिंहासन पर बिठाना चाहता था। वह मारवाड़ को उसी स्थान पर आसीन करना चाहता था जिस पर सांगा के समय मेवाड़ बैठा था। हुमायूं को उसके निमंत्रण का पहला कारण उसकी महत्वाकांक्षा थी।

(2) मालदेव की यह धारणा थी कि हुमायूं का दिल्ली से निकाला जाना एक अस्थाई कार्य है और अन्त में हुमायूं की ही विजय होगी। वह शेरशाह को एक राज्य हड़पने वाला मात्र मानता था और उसके व शेरशाह के बीच युद्ध की कोई सम्भावना नहीं थी। अपने पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिये वह हुमायूं को राजपूतों का मित्र बना लेना चाहता था। कानूनगो के शब्दों में "शेरशाह के साथ खेले गये प्रभुसत्ता के खेल में वह हुमायूं को पैदल की तरह काम में लेना चाहता था। (3) मेड़ता का वीरमदेव और बीकानेर का कल्याण मल—भाग कर शेरशाह के पास सहायता के लिये पहुँच गये थे। मालदेव उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप शेरशाह के शत्रु हुमायूं को मित्र बना कर दिखाना चाहता था। उधर शेरशाह ने वीरमदेव और कल्याण को राज्य दिलाने [illegible] लदेव ने हुमायूं को उसका [illegible]

[illegible] कारण सामान्यतः मध्यकालीन इतिहासकार बताते हैं, जिनका उल्लेख डा॰ भार्गव ने अपने अनुसंधान ग्रन्थ 'मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 23-24 पर किया है। वे आगे और भी कारण बताते हैं जो इस प्रकार हैं।—

(4) डॉ॰ भार्गव का कहना है कि वास्तविक सत्य इन तीनों कारणों में नहीं है। मालदेव ने सहायता का प्रस्ताव सारी स्थिति का पूर्ण अध्ययन करके दिया था। शेरशाह की दिल्ली की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। वह स्वयं बंगाल में था और, उसकी सेना का अधिकांश भाग उसके साथ था। बची हुई सेना का बड़ा भाग पंजाब प्रदेश में बन्द था। सौजात खान के अधीन ग्वालियर अभी [illegible] और मालवा के मुखिया उसका खुला विरोध कर रहे थे। [illegible] पर लेशमात्र भी शक नहीं था और वह

मालदेव पर नजर भी नहीं रख रहा था । अतः सारी परिस्थितियों को देखते के विरुद्ध जाकर मालदेव हुमायूँ की सहायता करने को तैयार हो गया था।

लेकिन मालदेव की सहायता का प्रस्ताव व्यर्थ गया । हुमायूँ अवसर से लाभ न उठा सका । उसने सिन्ध मे 12 महीने व्यर्थ नष्ट कर दिये। इस बीच शेरशाह ने अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली और जून 1547 तक वह आगरे से आ गया । वहाँ से वह राजपूताने पर सूक्ष्म नजर रखने लगा। ऐसी स्थिति मे हुमायूँ का वापस मारवाड़ लौटना, जोगी तीर्थ में पड़ाव डाल कर मालदेव से सहायता मांगना दूसरी बात थी । जोगीतीर्थ पहुंचने में बादशाह को पानी और रसद की कमी का सामना करना पड़ा । कभी कभी फाका हो गया । जोगीतीर्थ मे मालदेव के दूत ने हुमायूँ का स्वागत किया और अशरफि की भेंट दी व रसद भी पहुँचायी किन्तु मालदेव स्वयं मिलने नहीं आया। मालदेव ने इस बार सहायता की बात न कर हुमायूँ को इसके बदले हद मे बीकानेर का परगना देने का वादा किया ।

हुमायूँ ने बारी बारी से तीन दूत मालदेव के पास भेजे। ये दूत थे समन्दर रायमल सोनी और अतका खाँ थे । हुमायूँ का एक पुस्तकालयाध्य मुल्ला सुर्ख पहले से मालदेव की सेवा मे काम कर रहा था । इन चारों व्यक्ति ने यही राय दी कि मालदेव केवल बातों से बहला रहा है, सहायता को कुछ नहीं देगा । मुल्ला सुर्ख ने तो यहाँ तक कह डाला कि हुमायूँ को श मालदेव के राज्य से चला जाना चाहिये । हुमायूँ को भी मालदेव पर सं होने लगा था । अपने दूतो की राय पर हुमायूँ उतावला हो गया और बीका लेने से मना कर अमरकोट की तरफ चल दिया । यदि हुमायूँ ने स्वयं माल पर विश्वास नहीं किया तो इसके लिये मालदेव को दोषी ठहराना कहाँ उचित है ।

मालदेव के पक्ष मे दूसरा तर्क यह है कि उसने बादशाह को उ तात्कालिक स्थिति के अनुसार तो सहायता दे ही दी थी । स्वयं हुमायू पास सिर्फ 300 सवार थे । यदि मालदेव उसे 20,000 सैनिकों की सहा दे भी देता तो भी इतनी सी सेना से हुमायूँ किसी भी दशा में शेरशाह पराजित नहीं कर सकता था । ऐसी स्थिति मे मालदेव ने हुमायूँ को सं सहायता न देकर दूरदर्शिता का परिचय दिया । अबुल फजल और गुल की धारणा ठीक ही है कि मालदेव का इरादा बदल चुका था । हुमा पास जो थोड़ी बहुत शक्ति थी वह भी उसने सिन्ध विजय के झूठे अभिया नष्ट कर दी । इस स्थिति में तो मालदेव को अपनी सारी शक्ति लगा कर हु के नाम से युद्ध लड़ना बाकी था । यदि वह शेरशाह को पराजित करने की शक्ति रखता तो यह भी कर लेता किन्तु मालदेव के पास इतनी शक्ति नी

नहीं थी कि वह अकेला शेरशाह से टक्कर लेता । अत. शक्तिहीन को सहायता देना राजनीति के किसी भी तर्क के विरुद्ध है । मालदेव पर गुलबदन आदि जिन मुगल लेखकों ने धोखा देने का आरोप लगाया है वह सही नहीं कहा जा सकता ।

मालदेव के पक्ष मे तीसरा तर्क यह है कि इस वर्ष मे राजनीतिक स्थिति बदल चुकी थी । शेरशाह ने शक्ति सगठन कर लिया था और आगरे लौट आया था । मालवा, ग्वालियर, गुजरात, बिहार, बगाल, आगरा और पजाब के महत्वपूर्ण प्रदेशो पर उसका अधिकार हो चुका था । ऊपर उठते, शक्ति सम्पन्न दिल्ली के शासक से अकारण झगडा मोल लेना, उसके शत्रु को सहायता करना इस समय मालदेव की सबसे जैसलमेर, मेडता और बीकानेर से उसका स्थिति को सुरक्षित रखना व शेरशाह से छेड-छाड न करना ही इस समय मालदेव के लिये उचित था । सहायता उसकी की जाती है जो समर्थ हो । हुमायूँ को उसके भाइयो और सरदारो तक ने छोड दिया था फिर मालदेव से बडी 2 आशा लगाना मरुभूमि मे पानी खोजना मात्र था ।

मालदेव के पक्ष मे चौथा तर्क यह है कि इसी समय शेरशाह ने एक व्यक्ति मालदेव के पास भेजा और यह इच्छा प्रगट की कि वह हुमायूँ को बन्दी बनाकर शेरशाह को सौंप दे । उस समय हुमायूँ के दूत भी जोधपुर मे थे । यदि मालदेव चाहता तो पलक भर के समय मे हुमायूँ को बन्दी बना लेता । तीन सौ सवारो की चटनी बनाने मे उसे एक दिन भी नही लगता । हुमायूँ को बन्दी बना कर यदि वह शेरशाह को सौंप देता तो आगे चल कर उसे शेरशाह के हाथो पराजित नहीं होना पडता । किन्तु मालदेव ने हुमायूँ के साथ विश्वासघात नहीं किया । उसका इरादा हुमायूँ को धोखा देने का होता तो इससे बढिया अवसर क्या हो सकता था ? फलोदी या जोगीतीर्थ तक आये हुमायूँ को बन्दी बनाकर शेरशाह के सामने पेशकर वह शेरशाह का विश्वास पात्र बन सकता था किन्तु मालदेव ने राजपूती शान को रख कर हुमायूँ को सकुशल वापस सिन्ध लौट जाने दिया । शेरशाह को दिखाने के लिये मालदेव ने लौटते हुए हुमायूँ के पीछे एक छोटी सी सैनिक टुकडी भेजी थी । जिससे उसे धोखेबाज नहीं कहा जा सकता । मालदेव द्वारा भेजी गयी फौजी टुकडी का बहाना लेकर उस पर यह आरोप लगाना कि उसने जाते हुए हुमायूँ को तग किया और धोखा दिया, सर्वथा अन्याय होगा । उसने तो शेरशाह को दिखाने के लिये एक सैनिक जत्था हुमायूँ के पीछे भेजा था ताकि वह मारवाड की सीमा से बाहर चला जावे ।

इस विषय में विभिन्न इतिहासकार भी यही एक मत रखते हैं। मालदेव ने हुमायूं के साथ कोई धोखेबाजी नहीं की। ओझाजी [illegible] राज्य के इतिहास भाग एक के पृष्ठ 299 पर कहते हैं कि 'वास्तविक [illegible] यह प्रतीत होती है कि मालदेव का उद्देश्य हुमायूं को गिरफ्तार करके [illegible] के हवाले करने का कभी नहीं था।"

डॉ० ईश्वरी प्रसाद भी अपनी पुस्तक 'दी लाइफ एण्ड टाइम्स [illegible] हुमायूं" के पृष्ठ 214-15 पर इसी बात की पुष्टि करते हैं कि—"मालदेव [illegible] धोखा देने का कोई इरादा नहीं था, बल्कि जो व्यवहार उसने हुमायूं के [illegible] किया वह न्यायोचित था।"

डॉ० कानूनगो अपनी पुस्तक शेरशाह और उसका समय' के पृष्ठ [illegible] पर कहते हैं कि—"निश्चित धोखेबाजी का जो आरोप वे मालदेव के [illegible] लगाते हैं, वह अप्रमाणित आकांक्षा मात्र है। उसके बरताव को [illegible] कहकर नैतिक दुर्बलता मात्र कहा जा सकता है।" यह स्पष्ट है कि मालदेव [illegible] बिना बुलाये मेहमान को बदली हुई परिस्थितियों में सहायता देने को [illegible] तैयार नहीं था।

कवि श्यामलदास, वीर विनोद के पृष्ठ 809 पर मालदेव के [illegible] जाने का एक और कारण देते हैं कि—"हुमायूं के कुछ अफसरों ने [illegible] के राज्य में गायें काटना शुरू कर दिया था। इस कर्म से राजपूतों की [illegible] भावना को गहरा आघात पहुँचाया था। परिणाम स्वरूप मालदेव को हुमा[illegible] प्रतिपूर्ण अरुचि दिखानी पड़ी।"

यह स्पष्ट है कि हुमायूं अपना अस्तित्व खो चुका था और उसके लिये [illegible] सिंहासन पर पुनः बैठने की कोई सम्भावना नजर नहीं आ रही थी [illegible] मालदेव ने ऐसी बेरुखी दिखाई और परिस्थिति पैदा कर दी कि मालदेव के [illegible] सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता नहीं पड़ी और हुमायूं वैसे ही मारवाड़ छोड़ [illegible] कर चला गया।

शेरशाह और मालदेव का संघर्ष दो उदयमान शक्तियों का संघर्ष था। बाबर ने राणा सांगा को हरा कर राजस्थान में राजपूतों के प्रभुत्व को [illegible] चुनौती दी थी किन्तु बाबर की मृत्यु के बाद मुगलों के अस्तित्व को [illegible] चुनौती दी और भगोड़ा हुमायूं दरदर की ठोकरें खाता जोधपुर के [illegible] महत्वाकांक्षी मालदेव की शरण से निराश होकर सिंध भाग गया। [illegible] और आगरे पर शेरशाह का आधिपत्य स्थापित होते ही यही समस्या [illegible] [illegible] कि भारत का एक छत्र शासक कौन और कैसे होगा? शेरशाह [illegible] [illegible] का शासक था और मालदेव मारवाड़ का। मालदेव ने नागौर और [illegible]

मुसलमान अधिकारियों से छीन लिये थे। मन्देश के स्वतन्त्र शासकों ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। जैसलमेर भाटियों को हराकर उसने विक्रमपुर छीन लिया था। आमेर के राजा से चाटसू छीनकर और बीकानेर पर अधिकार जमाकर मालदेव राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया था। इतिहासकार फरिश्ता ने मालदेव को 'हिन्दुस्तान का अत्यंत शक्तिशाली राजा' बताया है। उसके शासन काल में मारवाड की बड़ी उन्नति हुई थी। उसने इस वर्ष के अनिश्चितता के समय में, जब हुमायूँ और शेरशाह दिल्ली-आगरा के आधिपत्य के लिये लड़ रहे थे, तो लगभग चालीस विभिन्न महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर अपने आप को राजस्थान की श्रेष्ठ शक्ति बना लिया था। उसकी शक्ति का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि हुमायूँ उसके पास सहायता के लिये गया था। जब शेरशाह ने दिल्ली पर अधिकार स्थापित कर लिया तो उसके लिये मालदेव से संघर्ष करना आवश्यक हो गया क्योंकि बिना मालदेव की शक्ति का दमन किये वह पूर्ण रूप से उत्तर भारत का स्थाई शासक नहीं हो सकता था अतः मालदेव और शेरशाह के संघर्ष का प्रथम कारण मालदेव की बढ़ती हुई शक्ति थी जिसका दमन पठान राज्य की स्थापना के लिये अत्यंत आवश्यक था।

शेरशाह और मालदेव की लड़ाई का दूसरा महत्वपूर्ण कारण हुमायूँ था। हुमायूँ सहायता के लिए मारवाड राज्य में गया और मालदेव से सहायता मांगी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि स्वयं मालदेव ने हुमायूँ को अपने यहाँ निमंत्रित कर सहायता देने का आश्वासन दिया था किन्तु हुमायूँ समय पर मालदेव के पास न जाकर सिन्ध में अपना समय नष्ट करता रहा और जब उसके पास कुछ भी नहीं रहा तो असहाय अवस्था में मालदेव की शरण में गया। लेकिन मालदेव एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था जो समझता था कि अब भारत का वास्तविक शासक शेरशाह है हुमायूँ नहीं इसलिये वह इस अवस्था में हुमायूँ की मदद कर शेरशाह को मारवाड पर आक्रमण का अवसर नहीं देना चाहता था। मालदेव ने स्थिति को देख कर ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि हुमायूँ को मारवाड की सीमा छोड़ कर जाना पड़ा। शेरशाह यह आशा करता था कि मालदेव अपनी सीमा में आये हुमायूँ को बन्दी बनाकर शेरशाह के हवाले कर देगा। किन्तु मालदेव ने ऐसा नहीं किया, वह न तो शेरशाह को प्रसन्न ही कर सका और न हुमायूँ को। शेरशाह मालदेव से पूर्ण अधीनता और स्वामी भक्ति की आशा रखता था और उसे एक स्वतन्त्र राजा न मानकर मामूली जागीरदार मानता था जिसने अजमेर और नागौर के मुसलमान प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया था। अतः हुमायूँ को बन्दी न बनाकर मालदेव ने शेरशाह को अप्रसन्न कर दिया और यह दोनों के बीच संघर्ष का दूसरा कारण बन गया।

मालदेव की बढ़ती सत्ता और बढ़ती हुई शक्ति शेरशाह के चिन्ता का सबसे बड़ा कारण थी। उसके राज्य की सीमा दिल्ली से सिर्फ मील दूर रह गयी थी। शेरशाह स्वयं मालदेव को अपना भयानक प्रतिद्वन्द्वी मानता था। जिस प्रकार एक मियान में दो तलवार नहीं रह सकती है उसी प्रकार शेरशाह भी अपने दिल्ली राज्य के भीतर या समीप की शक्ति से डरता था। जब उसे उसके सेनापतियों ने दक्षिण में दमन करने के लिये सुझाव दिया तो शेरशाह ने स्पष्ट कहा था कि और देश में नहीं जाऊँगा। मेरे लिये यह आवश्यक है जो देश मेरे उनका संगठन करूँ"। यद्यपि पहले मैं अजमेर नागौर और मारवाड़ के धामाक व मरुस्थलवासी जागीरदार मालदेव को उखाड़ फेंकूँगा जो नागौर और अजमेर के शासकों का नौकर था लेकिन जिसने अपने मालिकों को मारकर अजमेर और नागौर हड़प लिये हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि शेरशाह भारत में मुस्लिम राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिये यह आवश्यक समझता था कि मारवाड़ के मालदेव की शक्ति का दमन किया जाए। उसके राज्य की सुरक्षा के लिये मालदेव की निरन्तर स्वतन्त्रता सबसे बड़ी बाधा थी। आने पर मालदेव दिल्ली की सुरक्षा को भी चुनौती दे सकता था। इसलिये दिल्ली की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए शेरशाह ने अपने प्रबलतम विरोधी मालदेव की शक्ति को समाप्त कर देना उचित समझा और दोनों के संघर्ष का तीसरा कारण दिल्ली की सुरक्षा का प्रश्न बन गया।

राजस्थान के हिन्दू राजा, मालदेव और शेरशाह के संघर्ष का कारण बन गये। मालदेव ने बीकानेर छीनकर कल्याणमल को और मेड़ता जीत कर वीरमदेव को दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दिया था। इन हिन्दू राजाओं ने अपने दूत शेरशाह के पास भेजे और आग्रह किया कि वह मालदेव पर आक्रमण करे। ऐसी दशा में वे दोनों शेरशाह का साथ देंगे। दोनों राजाओं ने मालदेव के विरुद्ध शेरशाह से मदद मांगी थी। शेरशाह ने अवसर से लाभ उठाकर मालदेव के दमन का उपयुक्त अवसर पाकर उस पर आक्रमण किया ताकि बीकानेर और मेड़ता की तरह मारवाड़ भी उसके अधीन हो जाय। यदि वीरमदेव और कल्याणमल ने शेरशाह से सहायता नहीं मांगी होती तो शायद शेरशाह मारवाड़ विजय की योजना नहीं बनाता। उसने राजस्थान के पराजित हिन्दू राजाओं को अपने शिविर में पाकर इस आपसी फूट से लाभ उठाया और मारवाड़ पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस प्रकार हिन्दू राजाओं की आपसी फूट और बदले की भावना ने शेरशाह और मालदेव के संघर्ष को अनिवार्य कर दिया।

[1] डॉ० वी. एस. भार्गव—मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स—पृष्ठ—28
उद्धृत अब्बास पृष्ठ—138.

मुसलमानों की हार का बदला लेने के लिये भी शेरशाह ने मालदेव पर आक्रमण किया था। मालदेव ने नागौर और अजमेर के मुसलमान शासकों को पराजित कर इन दोनों स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया था। मुस्लिम लेखक अब्बास और अहमदुल्ला इस बात पर विशेष जोर देते हैं कि भारत का मुसलमान सम्राट होने के नाते शेरशाह के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि वह मुसलमान सूबेदारों को पराजित करने वाले विधर्मी राठौड़ मालदेव को हराकर उन ठौरों पर वापस अपना अधिकार करे जो मुस्लिम शासन काल में लगभग तीन शताब्दी से भी अधिक समय तक मुसलमानों के अधीन थे। यदि शेरशाह सारे उत्तर भारत का एकछत्र मुसलमान शासक बनना चाहता था तो उसे मालदेव को अपने अधीन करना था क्योंकि मालदेव ने नागौर के शासक दौलतखाँ को हरा कर नागौर छीन लिया था। इसी प्रकार वीरमदेव से मालदेव के सेनापति जैता और कूँपा ने अजमेर भी छीन लिया था जो सदियों से मुसलमान शक्ति का केन्द्र था। अतः अपने पराजित मुसलमान साथियों की हार का बदला लेने की इच्छा, शेरशाह और मालदेव में संघर्ष का पाँचवाँ कारण बन गया था।

युद्ध की योजना—शेरशाह यह जानता था कि मालदेव भारत के राजाओं का नेता मात्र नहीं है वरन एक महान शक्तिशाली राजा है जिसके पास पचास हजार जवानों की संगठित सेना भी है। सभी मुसलमान लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि शेरशाह मालदेव की शक्ति से परिचित ही नहीं सचेत भी था अतः उसने मालदेव पर अचानक आक्रमण करने का निश्चय किया। शेरशाह को यह भी ज्ञात था कि अजमेर, मेड़ता, नागौर और आस पास के स्थानों पर मालदेव ने सुदृढ़ किलेबन्दी कर ली है। वह इस तथ्य से भी सजग था कि बीकानेर से होकर जाना भी आसान नहीं था क्योंकि लम्बे रेगिस्तान को पार करना मुसलमान सेना की आदत व परिस्थिति के अनुकूल नहीं था। अजमेर होकर मारवाड़ पर आक्रमण किया जा सकता था परन्तु इस तरफ से भी मार्ग में रणथम्भौर और नागौर के सुदृढ़ किले पड़ते थे। एक तरफ रेगिस्तान और दूसरी तरफ सुदृढ़ किले। अतः शेरशाह ने दोनों मार्गों को छोड़कर तीसरा ही मार्ग ढूँढ निकाला। उसने फतहपुर को अपना केन्द्र बनाया। इस फतहपुर के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। कानूनगो का कहना है कि यह फतहपुर, झुंझुनूं है किन्तु अब्बास आदि अन्य लेखक इसे आगरे के पास वाली फतहपुर सीकरी मानते हैं जहाँ आगे चलकर अकबर ने अपना सांस्कृतिक केन्द्र बनाया था। जो भी हो शेरशाह दिल्ली और आगरे के बीच शिकार के बहाने घूमता रहा। यहीं से वह सीकर होकर मारवाड़ पर आक्रमण कर सकता था। यह मार्ग मालदेव की कल्पना के बाहर था। झुंझुनूं पहुँच कर शेरशाह ने अपनी

शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये मालदेव और रणथम्भौर के पास में [illegible]
और सता ली। रणथम्भौर से आने वाली सेना को उसने आदेश दिया कि
अजमेर पर आक्रमण का दिखावा करे किन्तु मालदेव इस योजना से घबराया
नहीं। उसने भी अपनी सेना का संगठन किया और जैतारण में डेरा डाला
शेरशाह ने आखिरकार सामेल में आकर डेरे डाले। यहाँ पानी की कमी था।
और खाइयाँ आदि आसानी से बनाकर सुदृढ़ मोर्चा बनाया जा सकता था।
शेरशाह ने कुछ भाग को रेत के बोरों से बन्द कर दिया और खाइयाँ खुदवाकर
सुदृढ़ मोर्चा बना लिया। मालदेव ने जैतारण के पास गिरी गाँव में डेरा डाला
वह शेरशाह के मुकाबले में नहीं आया और न ही अजमेर की रक्षा के लिये सेना
भेजकर अपने पक्ष को दुर्बल बनाया। लगभग एक महीने तक शेरशाह और
मालदेव की सेना सामने से एक दूसरे के सामने पड़ी रहीं किन्तु किसी ने किसी
पर आक्रमण नहीं किया।[1]

अपने ही राज्य में छावनी डाले पड़े रहना मालदेव के लिये सरल काम
था, वह शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा मात्र करता रहा। उसे जैतारण में रसद
या मदद की कोई कठिनाई नहीं थी लेकिन शेरशाह अधिक समय तक किले
से इतनी दूर निराधार नहीं पड़ा रह सकता था। समय के साथ उसकी स्थिति
शोचनीय और रसद सीमित होती जा रही थी। दुविधा तो यह थी कि मालदेव
की जागरूकता के कारण न तो वह पीछे हट सकता था और न आगे ही बढ़
सकता था। उसके और मालदेव के सैन्यबल में भी विशेष अन्तर नहीं था।
शेरशाह का विश्वास डिगने लगा और वह मालदेव पर आक्रमण करने का
साहस नहीं कर सका।

डॉ० वी० एम० भार्गव, जोधपुर की ख्यात भाग एक पृष्ठ 69 के
आधार पर शेरशाह का मार्ग दूसरा बताते हैं। उनका कहना है कि शेरशाह
आगरे से चल कर डीडवाणा पहुँचा जहाँ मालदेव के सेनापति कूँपा से उसे
जमकर लड़ाई करनी पड़ी। कूँपा ने ही मालदेव को शेरशाह के आगमन का
समाचार दिया था। डीडवाणा से अजमेर होता हुआ शेरशाह जैतारण [illegible]
जहाँ आगे मालदेव उसके स्वागत के लिये तैयार था। मालदेव ने अजमेर
[illegible]क्षिण-पश्चिम में 28 मील दूर बारी गाँव में डेरा डाला। ऐसा वर्णन [illegible]
[illegible]ात के दूसरे भाग में पृष्ठ 52 पर दिया है। छावनियों के स्थान में चाहे [illegible]
[illegible]द हो किन्तु युद्ध के समय दोनों सामेल और गिरी गाँव में आ गये [illegible]

[1] तारीख-ए-शेरशाही—इलियट जिल्द चार पृष्ठ 405 कानूनगो शेर[illegible]
एण्ड हिज टाइम्स—पृष्ठ 395-98

ोन आकर शेरशाह को अपनी निर्थक योजना पर पश्चात्ताप होने लगा। वह
लदेव से उसके राज्य में लड़ने से हिचकिचाता रहा। उसका साहस उस
य और भी टूट गया जब उसे यह ज्ञात हुआ कि इस क्षेत्र में खाइयें खोदना
ंया असम्भव है। परिस्थितियों से विवश शेरशाह ने एक षड्यन्त्र रचा।

शेरशाह का षड्यंत्र—सामान्य तरीके से लड़ाई लड़ने में उसे विजय
कोई सम्भावना नहीं दिख रही थी अतः उसने मालदेव के मन में शंका
त्पन्न करने के लिये स्वयं एक पत्र लिखा और उसे किसी प्रकार मालदेव के
प में पहुँचा दिया। इस पत्र में मालदेव के सामन्तों ने शेरशाह को विश्वास
लाया था कि वे ऐन मौके पर मालदेव का साथ छोड़ देंगे। जब मालदेव को
ह पता चला तो वह विचलित हो गया और आधी सेना लेकर बिना युद्ध किये
जोधपुर की तरफ लौट गया। शेरशाह की चाल सफल हुई और दूसरे दिन
द्ध में उसे विजय आसानी से मिल गयी।

इस षड्यन्त्र की कथा के विषय में इतिहासकारों में भारी मतभेद है।
णसी, रेउ, कानूनगो और मुस्लिम इतिहासकार अब्बास व फरिश्ता आदि
थक् पृथक् तरह से इस षड्यन्त्र की गाथा को दोहराते हैं। नेणसी अपनी
यात के दूसरे भाग में पृष्ठ 157-58 पर इस कथा का वर्णन इस तरह करता
कि शेरशाह ने वीरमदेव के माध्यम से मालदेव के सेनापति कूँपा के पास
ीस हजार रुपये भेजकर उसके लिये कम्बल खरीद देने का आग्रह किया और
सी प्रकार जैता के पास बीस हजार रुपये भेजकर सिरोही की तलवारें मांगी।
ाथ ही मालदेव को अपने गुप्तचरों से यह सूचना भिजवा दी कि उसके मुख्य
नापति रिश्वत लेकर शेरशाह से मिल गये हैं। जब मालदेव ने उनके डेरों
ी जाँच करवाई तो रुपया बरामद पाया और वह अपनी बचाव का प्रबन्ध
रने लगा।

मुसलमान इतिहासकार इस कथा को दूसरा रूप देते हैं कि शेरशाह ने
ालदेव द्वारा तिरस्कृत एक राजपूत सामन्त से हिन्दी में पत्र लिखवा कर एक
ुरमी थैली में बन्द करवा कर मालदेव के मन्त्री के शिविर के बाहर डलवा
िया और जब मालदेव के मन्त्री ने उसे उठाकर पढ़ लिया तो गुप्तचर वापस
ा गया। इस पत्र में शेरशाह ने सामन्तों के आश्वासन की पुष्टि पर आभार
कट किया था। डॉ० कानूनगो इस कथा को एक दिलचस्प कहानी मानते हैं
योंकि शेरशाह स्वयं अच्छी हिन्दी लिख लेता था तो उसने गोपनीयता का
्यान में रखकर बीरम या अन्य असंतुष्ट हिन्दू सरदार की मदद क्यों ली?

लगता है यह सारा काम शेरशाह ने खुद ही किया होगा। इसी प्रकार [illegible] जेब ने भी दुर्गादास के विरुद्ध स्वयं पत्र लिखा था। "जो भी हो शेरशाह यह काम जघन्य था और मालदेव का भी अपने स्वामी-भक्त [illegible] विश्वास न करना निन्दनीय और अशोभनीय था।"[1]

वीर विनोद के पृष्ठ 810 पर और रेऊ अपने मारवाड़ के इतिहास [illegible] एक मे पृष्ठ 139 पर इस घटना को दूसरी ही तरह से रखते हैं कि शेर[illegible] ने शेरशाह के जाली फरमानों को ढालो में सी कर अपने गुप्तचरों [illegible] दामो मे मालदेव के सरदारो को बेच दिया और साथ ही सरदारों के [illegible] से मिल जाने की सूचना भी मालदेव को भिजवा दी और यह भी [illegible] दिया कि शेरशाह के आदेश उनकी ढालो मे छिपे हैं। सन्देह हो तो [illegible] निरीक्षण कर देख ले। जाँच पर ये फरमान सरदारो की ढालो से निकले [illegible] मालदेव को अपने सरदारो पर विश्वास नही रहा।

सरदारो के विश्वासघात की बात मालदेव के मन में घर कर गयी [illegible] उसने युद्ध करना व्यर्थ समझा। इस विषय मे राजपूतों में दो प्रकार [illegible] थी। एक तो यह कि युद्ध किया जाय और इस धारणा के समर्थक [illegible] कूँपा थे जो युद्ध भूमि मे शहीद होकर अपनी स्वामी भक्ति का [illegible] परिचय देना चाहते थे। ये लोग प्रातः काल ही शत्रु पर भूखे बाघ [illegible] टूट पड़ना चाहते थे और अपने माथे पर लगाये गये कलंक को धो [illegible] थे। दूसरी तरफ मालदेव के मन मे शंका घर कर गयी थी। [illegible] बीच में व्यर्थ मारा जाना उचित नही समझता था। और जोधपुर [illegible] चाहता था। शेरशाह अपने षड्यन्त्र में सौ फी सदी सफल रहा। [illegible] 1544 ई॰ को प्रातःकाल वह जोधपुर की तरफ वापस लौट पड़ा। [illegible] मे जोधपुर की सेना के बहुत से महत्वपूर्ण अधिकारी भी [illegible] और कूँपा अपने 12,000 घुड़सवारो के साथ मैदान मे डटे रहे। [illegible] अपने गुप्तचरों द्वारा मालदेव के शिविर का सारा वृत्तान्त ज्ञात [illegible] के आक्रमण को शिथिलता प्रदान करने के लिए उसने [illegible] हटवा दिये और सेना सहित साथ मील पीछे हट कर सामेल के [illegible] गया। राजपूतों ने पाँच जनवरी 1544 ई॰ को शेरशाह पर आक्रमण [illegible]

सामेल का युद्ध —लड़ाई से पहले शेरशाह और [illegible] बार [illegible] की किन्तु मालदेव के और [illegible] आने के बाद [illegible] रह गये थे। [illegible] और कूँपा के पास सिर्फ 12,000 घुड़सवार [illegible] [illegible] को [illegible] राजपूतों ने आगे बढ़कर शेरशाह पर आक्रमण [illegible]

[1] [illegible]—शेरशाह एण्ड [illegible]—पृ॰ 401

: की ध्यान के अनुसार शेरशाह ने राजपूतों के घोड़ों के विरुद्ध हाथियों कमश भेजा जिसके पीछे तीरंदाज और तोपखाना था। यद्यपि यह एक मुठभेड़ थी फिर भी राजपूत बड़ी वीरता से लड़े और उनकी विजय निश्चित सी हो गयी थी तथा जलालखाँ जलवानी एक ताजी सेना के शेरशाह की सहायता करने मैदान में आ पहुँचा। शेरशाह ने युद्ध के बीच झुक पड़ी और ईश्वर से प्रार्थना की जिससे उसके सेनापतियों में आत्मबल आ। राजपूत संख्या में बहुत कम थे अन्त तक लड़ सकते थे। एक एक 8 राठौड़ सरदार मैदान में काम आये जिनमें जेता और कूँपा भी थे। इ में ब्यानों के अनुसार 2,000 राजपूत सैनिक काम आये और मुसलमान लेखकों के अनुसार 11,000 राजपूत मारे गये और शेरशाह के भी भारी में पठान काम आये। एक दिन के युद्ध में विजय पठानों की रही। शेरशाह ने मारवाड़ की सेना को पूर्णरूप से पराजित कर दिया था किन्तु उसने स्वीकार किया कि—"मुट्ठी भर बाजरे के लिये मैंने हिन्दुस्तान की हुकूमत खो दी होती।" इस वाक्य से स्पष्ट है कि वह किस प्रकार विनाश से बाल बचा था। यदि मालदेव की सेना संगठित रहती तो शेरशाह इस कभी नहीं जीतता।

सामेल युद्ध का महत्व—सबसे महत्व की बात तो यह है कि यदि वह इस युद्ध में हार जाता तो दिल्ली का राज्य उसके हाथ से निकल जाता। उसे चाहे मुट्ठी भर बाजरा ही मिला हो उसने इस युद्ध में विजय पाकर दस वर्षों के लिये दिल्ली पर अफगान राज्य स्थापित व निश्चित कर दिया।

सामेल विजय से शेरशाह का साहस बढ़ गया उसने सिर्फ जनवरी के महीने में ही सारे मारवाड़ के अनेक स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया। वह स्वयं अजमेर गया और सेना के दूसरे भाग को विजय के लिये भेजा। बाद में स्वयं जोधपुर गया और जोधपुर को जीता। मालदेव सिवाना पर्वतों में चला गया। पोकरण, सोजत, पाली, फलोदी, नागौर व जालौर भी उसका अधिकार हो गया। जोधपुर पर 524 दिन तक शेरशाह का अधिकार रहा। मालदेव सिवाना पर्वतों में पीपलोद में रहने लगा। मारवाड़ खवास खाँ और ईसा खाँ नियाजी की अधीनता में 5,000 घुड़सवारों के साथ छोड़कर शेरशाह चित्तौड़ की तरफ बढ़ गया।

शेरशाह ने राजस्थान में राजपूतों को पूर्ण रूप से अपने अधीन करने का प्रयास नहीं किया न तो उसके पास समय ही था और न ही वह स्थानीय सामन्तों को कुचल कर पूर्ण अधीनता में लाना चाहता था इसलिये मारवाड़ विजय के बाद भी स्थानीय सामन्तों के क्षेत्रों में शेरशाह ने कोई हेर फेर या परिवर्तन नहीं किया वे लोग पूर्ववत् अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र बने रहे।

डॉ० कानूनगो का कहना है कि "सामेल का युद्ध मारवाड़ के इ
के लिये एक निर्णायक युद्ध था ।" मालदेव को इस युद्ध का भारी मूल्य
पड़ा । उसे कूपा और जैता जैसे स्वामीभक्त वीरों से हाथ धोना पड़ा । इ
महत्वाकांक्षा और राज्यविस्तार की कामनाओं का अन्त हो गया । उ
सम्मान को धक्का लगा, उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी । अब उस
शेरशाह की मृत्यु के बाद उसे अपना ही राज्य वापस जीतना पड़ा और
जोधपुर में शक्ति संगठन के लिये काफी समय तक लड़ता रहा । 15
में पोकरण जीता, और 1552 ई में जैसलमेर पर भी अधिकार कर लि
इस बीच जैसलमेर बीकानेर, मेड़ता और बाड़मेर आदि स्वतन्त्र हो गये
जोधपुर तो उसने शेरशाह के मरते ही 1545 में ही वापस जीत लिया था ।

वास्तव में यह युद्ध राज्य विस्तार की लालसा में डूबे शासकों के लि
एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त और शिक्षा देता है कि जिस प्रदेश का महत्व
न हो और जो केन्द्र पर एक भार मात्र हो उसकी विजय एक मन बहला
मात्र है सिर्फ सन्तोष है जैसा कि स्वयं शेरशाह को करना पड़ा । अतः
को स्थान का महत्व देख कर ही युद्ध करने चाहिये ।

इस युद्ध का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह माना जाता है कि इ
के साथ साथ राजपूतों के वैभव और स्वतन्त्रता का अध्याय समाप्त हो ग
है । राजपूत जिस आजादी की अब तक रक्षा कर रहे थे और जिसके लि
पृथ्वीराज, हम्मीर चौहान, कुम्भा, सांगा और मालदेव ने अपना स
खो दिया था वह स्वतन्त्रता सदा के लिये समाप्त हो गयी । राजस्थान
विपदाओं, विशाद और शत्रुओं के आक्रमणों के काले बादल सदा छा
रहे । यह वीर भूमि गेंद की तरह पराधीनता के खेल में स्वामी बदलती र
और यहीं से शासकों का इतिहास शुरू होता है जिसके पात्र वीरम, क
मल, मानसिंह जयसिंह, अजीतसिंह आदि हैं । मालदेव की इस पराज
साथ राजस्थान ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी ।

मालदेव का व्यक्तित्व — मारवाड़ की ख्यातों में मालदेव को 52 यु
का विजेता कह कर सम्बोधित किया गया है । राठौड़ वंशावली और
भी इस कथन की पुष्टि की है । मालदेव को अपनी पैत्रिक सम्पत्ति के रू
सिर्फ जोधपुर और सोजत के प्रान्त मिले थे । जबकि उसके राज्य में
बार 58 परगने सम्मिलित थे । उसने मारवाड़ की सीमा को हिण्डौन,
फतेहपुर सीकरी और मेवाड़ तक फैला दिया था । उसकी राज्य सीमा दि
से सिर्फ 50 मील दूर थी । स्पष्ट है कि वह एक महान विजेता था
अपने जीवन में एक भी युद्ध नहीं हारा । सामेल की लड़ाई में राजपूतों
हार को मालदेव की हार मानना राजनीतिक निर्णय हो सकता है

निक निर्णय नहीं क्योंकि मालदेव तो जोधपुर चला गया था। यदि अप्रत्यक्ष में सामेल की लड़ाई को मालदेव की ही पराजय मानें तो भी वह कूटनीतिक चालों में आकर सिर्फ एक बार ही हारा और ज्योंहि शेरशाह मरा, उसने अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। वास्तव में मालदेव अपने समय का महान प्रतापी और वीर योद्धा था जिसके पास 50,000 शक्तिशाली सैनिकों की सेना थी।

मालदेव की प्रतिष्ठा दूर दूर तक फैली हुई थी। इससे अधिक महत्व की बात क्या हो सकती थी कि बाबर का बेटा उसके द्वार पर सहायता के लिये पड़ा रहा और शेरशाह जैसा बहादुर उससे यह आशा लगाये रहा कि [illegible] कर देगा। यह बात उसके वैभव का [illegible] का प्रमाण है कि उसने शक्तिहीन हुमायू [illegible] नहीं बहाया। वह शक्ति सन्तुलन बनाये [illegible] से संधि करता था तो उसी राणा को [illegible] मिलकर पराजित भी कर दिखाया। यह उसकी कूटनीति का द्योतक है। शेरशाह को शक्तिशाली पाकर उसने लड़ाई व्यर्थ समझी और पहाड़ों में चला गया और ज्योंहि शेरशाह मरा कि तुरन्त अपना राज्य पठानों से छीन लिया।

मालदेव एक शक्तिशाली राजा था और उसके समय का मारवाड़, राजस्थान की सबसे बड़ी रियासत थी। यह मानना पड़ेगा कि उसने मुगलों के सर्वोदित राज्य के विरुद्ध राजपूत स्वतन्त्रता को बनाये रखा। उसकी कमी सिर्फ इतनी थी कि वह बहुत महत्वाकांक्षी था। इसी कारण से उसने मरुदेश, बीकानेर और मेड़ता के शासकों को अपना शत्रु बना लिया था। जिसके फलस्वरूप मारवाड़ पर शेरशाह का आक्रमण हुआ। उसने अपने अन्तिम दिनों में इस भूल को सुधार लिया था और जब मुगल सेनाओं ने जैतारण पर अधिकार कर लिया तो भी वह चुप रहा। उसकी दूसरी कमी यह थी कि उसमें दूरदर्शिता का अभाव था जिसके कारण उसने मेड़ता और बीकानेर से सम्बन्ध बिगाड़ कर एक बार तो जोधपुर ही खो दिया था।

इन कमियों के सिवा मालदेव अपने युग का एक महान सेनानायक था जिसने न केवल जोधपुर को विस्तृत और उन्नत बनाया वरन अपने जीते जी राजस्थान की स्वतन्त्रता को बनाये रखा। उसके समय में जोधपुर की काफी समृद्धि व उन्नति हुई। मुसलमान इतिहासकार अबुल फजल ने उसे भारत के शक्तिशाली शासकों में से एक कहा है। इसी प्रकार [illegible] उसकी प्रशंसा में लिखता है कि [illegible] था और उस बनने में हिन्दू [illegible] नहीं था।

Rao Ganga
|
Rao Mal Deo
|
Rao Chandrasen

अध्याय 13

राव चन्द्रसेन
1562-1581

Rao Chandra Sen (1562-1581)

राव चन्द्र सेन (1562-1581)

"राजा मालदेव की मृत्यु के पश्चात् मारवाड के इतिहास का एक [न]या अध्याय प्रारम्भ हुआ"—टाड

मारवाड़ में जहां राजपूतों का पचरंग झण्डा फहराता था वहां पर [अ]व मुसलमानों का झण्डा फहराने लगा। यहां शासन व्यवस्था राठौडो के [त]रीके पर चलती थी। वहां मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया और मालदेव [के] अन्तिम दिनों में मारवाड़ के शहरों पर मुगलों का प्रभाव शुरू हो गया [थ]ा। उसके देहान्त के बाद तो सारे मारवाड पर अकबर का आधिपत्य स्थापित [ह]ो गया। इस प्रकार अकबर के समय में जोधपुर के राजाओ ने अपनी स्व-[त]न्त्रता खो दी। टाड महोदय अपनी पुस्तक के दसवें अध्याय मे जोधपुर की [इ]स बदलती हुई सत्ता का वर्णन करते हैं। वास्तव मे मालदेव के देहान्त के [ब]ाद जोधपुर राज्य के बुरे दिनों का आरम्भ हुआ और राव चन्द्र सेन अपने [श]ासन के पूरे 19 वर्ष तक अपनी मातृ भूमि की स्वतन्त्रता के लिये लडता [र]हा और अन्त में उसने अपने देश की आजादी के लिये अपने प्राणो की आहुति [द]े दी। जीवन भर अपने पूर्वजों के गौरव को प्राप्त करने के लिये छटपटाता [र]हा। किन्तु उसकी चेष्टाएं विफलता के अथाह सागर मे डूबती गयी और [भ]ाइयों की आपसी फूट मारवाड़ की पराधीनता का कारण बन गयी। राव [च]न्द्र सेन का समय, संघर्ष, देश भक्ति व पराजय का समय है, जिसमे आपसी [फ]ूट से लाभ उठाकर अकबर ने राजस्थान के इस महत्वपूर्ण भू भाग पर अपना [अ]धिकार कर लिया। चन्द्रसेन की असफलताओं को देखकर उसकी गणना [उ]च्चकोटि के शासकों में नहीं की जा सकती किन्तु यह ऐतिहासिक अन्याय ... बारे में उपलब्ध सामग्री भी उसके शासक भाइयों के भय से [छ]िपी रही और इसके प्रयासों को विफल मानकर सभी उसके [क]ी अवहेलना करते रहे। किन्तु आधुनिक अनुसधान कार्यों ने उसके ... को प्रकाश में लाकर मारवाड़ के स्वतन्त्रता संघर्ष को रंगीन है। कुछ इतिहासकार चन्द्रसेन को मारवाड़ का भूला हुआ नायक

'Forgotten Hero of Marwar" कहकर भी सम्बोधित करते हैं। चन्द्रसेन के काल की महत्वपूर्ण घटनाएं इस प्रकार आँकी जाती है –

1. उत्तराधिकार संघर्ष-जोधपुर के राव मालदेव का देहान्त 1562 ई० मे हुआ। वे हुमायूँ शेरशाह और अकबर के प्रारम्भिक जीवन मे इनसे निरन्तर संघर्ष करते रहे थे। उनकी मृत्यु के बाद उनका तीसरा लड़का मारवाड का शासक बना। मालदेव ने अपने राज्यकाल मे बड़े बेटे राम से अप्रसन्न होकर उसे राज्य से निकाल दिया था। राम मेवाड़ के केलवा नामक स्थान में जाकर रहने लगा था। उनका दूसरा भाई उदयसिंह अयोग्य था और उससे मालदेव की पटरानी भी अप्रसन्न थी। इसलिए राज्य के अधिकार से वंचित कर मारवाड मे ही फलोदी की जागीर दे दी थी और मालदेव ने अपने जीवन काल मे ही अपने तीसरे पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। चन्द्रसेन के एक छोटा भाई रायमल और था। मालदेव की मृत्यु के पश्चात् 1562 ई० मे चन्द्रसेन मारवाड़ का राव बना जिससे उसके तीनो भाई उससे ईर्ष्या करते थे।

वैसे उत्तराधिकारी का कोई नियमित कानून नहीं था। सबसे बड़ा लड़का ही राज्य का स्वामी बनता था मालदेव ने इस परम्परा को तोड़ कर अपने लड़कों मे आपसी झगड़े का बीजारोपण किया था। भाइयों के बीच आजीवन चलती रही। डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' मे कहते है—"वास्तव मे चन्द्रसेन को गद्दी मिलना कई सरदारों और उसके अन्य भाइयों को अच्छा नहीं लगा। वे किसी अवसर की ताक में थे जिससे लेकर चन्द्रसेन का विरोध करें।"[1]

चन्द्रसेन ने भी गद्दी पर बैठते ही आवेश मे आकर उदयसिंह के पक्ष के एक नौकर को मार डाला। मारवाड का प्रमुख दरबारी पृथ्वीराज और अन्य सरदार जो उदयसिंह के समर्थक थे, इस बात से नाराज हो उन्होंने इस अन्याय पूर्ण कार्य का बदला लेने के लिए चन्द्रसेन के विरुद्ध षड्यन्त्र किया और उदयसिंह को विद्रोह के लिए निमन्त्रित किया।

विश्वेश्वरनाथ रेऊ अपनी पुस्तक 'मारवाड़ का इतिहास' में कहते हैं—"चन्द्रसेन के तीनों भाई उसके गद्दी पर बैठते ही [illegible] विद्रोह के लिए तैयार हो गए।"[2] इस प्रकार [illegible] [illegible] विद्रोह खड़ा किया। उदयसिंह ने [illegible]

[1] डॉ० गोपीनाथ शर्मा: राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 327

[2] रेऊ—[illegible]

राम लागड़ नामक गाँव में लूटमार शुरू की और तीसरे भाई रायमल ने भी दुनाड़े में उपद्रव खड़ा कर दिया। मारवाड़ के कई सरदार इन तीनों से जा मिले। विद्रोहियों का दमन करने के लिए चन्द्रसेन ने एक सेना भेजी। राम और रायमल तो डर कर अपनी जागीरों में भाग गये किन्तु उदयसिंह ने लोटट के गाँव में चन्द्रसेन का मुकाबला किया। दिसम्बर 1562 में यह लड़ाई प्रारम्भ हुई। उदयसिंह चन्द्रसेन की बर्छी से घायल होकर गिर पड़ा। जोधपुर राज्य की ख्यात के पहले भाग के पेज 86 पर इस युद्ध का वर्णन किया गया है। उदयसिंह के साथी उसे युद्ध के मैदान से उठाकर सुरक्षित स्थान पर ले गये और ...

... है। उदयसिंह ने इस राय के अनुसार नागौर के शासक हुसेन कुली बेग की शरण ग्रहण की मारवाड़ की स्वतन्त्रता का अन्त करने का मुगलों को इससे अच्छा और क्या अवसर मिल सकता था? भाइयों की शत्रुता, सरदारों का स्वार्थ और गद्दी की भूख मारवाड़ की आजादी खा गई। आपसी लड़ाई से शक्ति क्षीण हो गई। इस अवसर से अकबर ने लाभ उठाना उचित समझा। अब तक वह कई राजपूत राजाओं से मित्रता कर चुका था। जैसलमेर और बीकानेर के राजा भी उसकी शरण में आ गये थे। जयपुर पहले ही अकबर का समर्थक हो चुका था। केवल जोधपुर और मेवाड़ के शासक अपनी स्वतन्त्रता की बीन बजा रहे थे। जोधपुर को अपने शिविर में पाकर अकबर के हाकिम बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उदयसिंह को मारवाड़ की गद्दी दिलवाने का वायदा किया।

उदयसिंह एक ओछे चरित्र का व्यक्ति था। उसने अपने स्वार्थ के लिए अपने देश की स्वतन्त्रता को बेच डाला।

इतिहासकार टाड का कथन है—"मालदेव के समय से ही उदयसिंह की जिन्दगी का रास्ता बिगड़ा हुआ था। वह स्वार्थी था और किसी प्रकार राजसिंहासन पर बैठकर राज्य-सुख का भोग करना चाहता था। उसका शरीर मोटा था और उसकी बुद्धि भी मोटी थी। उसे लोग मोटा राजा भी कहते थे।"

भाइयों का यह उत्तराधिकार युद्ध और उदयसिंह का मुगलों की शरण में जाना मारवाड़ को महँगा पड़ा। इसी समय से 19 वर्ष का संघर्ष शुरू हुआ

ने उदयसिंह को जोधपुर वापस सौंप दिया था। इस प्रकार चन्द्रसेन का जीवन पराजय से शुरू हुआ।

3. चन्द्रसेन नागौर में—जोधपुर छूटने के बाद चन्द्रसेन की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी। और उसने अपने राज्य के 6 वर्ष (1564-1570) में अपने पिता की कीमती कीमती वस्तुएँ बेच कर काटे। चारों ओर अराजकता फैल गई थी। उसके दूसरे भाई उसे बहुत तंग कर रहे थे। लगान वसूल होना असम्भव हो गया था। वह अपने पूर्वजों के रत्न बेचकर सैनिकों का वेतन दे रहा था। महाराणा उदयसिंह ने चन्द्रसेन से एक हार एक लाख 60 हजार रुपये में खरीदा था। जिसका वर्णन 'अकबर' नामक पुस्तक में किया गया है। ऐसी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए चन्द्रसेन ने उचित समझा कि वह अकबर से मिलकर कोई संधि कर ले। 1570 में अकबर स्वयं नागौर में आया। अतः चन्द्रसेन ने बिना समय गँवाये मुगल दरबार में प्रस्तुत होकर अपनी दशा सुधारनी चाही। अकबर के पास चन्द्रसेन की स्थिति की सारी खबरें पहुँच चुकी थीं। 3 नवम्बर 1570 ई० को वह अकबर से मिला। उसे यह आशा थी कि, [illegible] किन्तु उसके भाई राम और उदयसिंह [illegible]। क्योंकि उदयसिंह पहले से ही मुगलों [illegible], आशाएँ धूमिल पड़ती नजर आईं। अकबर ने चन्द्रसेन को राजा का सा स्वागत सम्मान दिया किन्तु कोई आश्वासन न दे सका। चन्द्रसेन अकबर की मन्सा समझ गया और अपने लड़के रायसिंह को अपनी तरफ से वार्ता के लिए पीछे छोड़ गया। अकबर को चन्द्रसेन के चले जाने से आश्चर्य हुआ। उसने मालदेव के किसी अन्य पुत्र को मारवाड़ का शासक नहीं माना किन्तु चन्द्रसेन को भी मान्यता प्रदान नहीं की।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' में कहते हैं—"मारवाड़ की परतन्त्रता की कड़ी में नागौर दरबार एक बहुत बड़ी कड़ी है। यहीं किये गये निर्णय अकबर की भावी नीति के आधार बन गये।"

अकबर को चन्द्रसेन का इस तरह और [illegible] बुरा लगा। उसने उसके लड़के रायसिंह को भी वापस [illegible] मारत करने का संकल्प किया। [illegible] मारवाड़ बना

[illegible]

थी। नागौर के दरबार में अकबर ने काफी समय लगाया। अकाल से त्रस्त लोगों के लिए उसने गोविन्दों से एक तालाब खुदवाया जिसका नाम शुक्र तालाब रखा गया। इस कार्य से अकबर को दो लाभ हुए। एक तो सेना द्वारा निर्माण कार्य हुआ और दूसरा वह मारवाड़ में रहकर राजपूतों की गतिविधियों पर नजर रख सका। नागौर से चन्द्रसेन का अकस्मात् लौट जाना अकारण घटित नहीं है। वह किन्हीं निजी विचारधाराओं से दरबार छोड़कर नहीं गया था किन्तु उसे स्पष्ट पता चल गया था कि उदयसिंह का दरबार में बहुत महत्व है। अतः उसकी नागौर यात्रा भी विफल रही।

4 नागौर छोड़ने के कारण—यदि चन्द्रसेन थोड़ा अपमान सह लेता या जयपुर और बीकानेर के राजाओं की तरह अपनी बहन या बेटी अकबर को देकर उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता तो कदाचित् उसके कष्ट के दिन समाप्त हो जाते। दक्षिण मारवाड़ का छोटा सा यह स्वतन्त्र शासक अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए अकबर के आगे नहीं झुक सका। उसने पाँच कारणों से नागौर दरबार को छोड़ दिया था।

(1) जोधपुर की ख्यात के अनुसार अकबर ने दरबार में चन्द्रसेन का परिहास किया था कि उसे काले आदमियों से नहीं मिलना चाहिये वरना उसका दिल भी काला हो जायेगा। वैसे इस प्रकार का वृत्तान्त और कहीं नहीं मिलता फिर भी लगता है कि अकबर ने कोई न कोई ताना अवश्य मारा होगा। तब ही वह यकायक दरबार छोड़कर चला गया होगा।

दूसरा कारण यह था कि वैसे तो चन्द्रसेन को शाही सम्मान प्रदान किया गया किन्तु उसे राजा नहीं माना गया। कदाचित् अकबर की आनाकानी से स्पष्ट अर्थ लगाकर चन्द्रसेन निराश हो गया था और अपनी यात्रा को व्यर्थ समझ कर अकबर का सम्मान बनाये रखने के लिए अपने पुत्र को वहाँ छोड़ कर चला गया था।

तीसरा कारण यह था कि मुगल दरबार में उदयसिंह का महत्व अधिक था। हुसैन कुली बेग उसका समर्थक था और चन्द्रसेन को यह विश्वास हो गया था कि निकट भविष्य में उदयसिंह बादशाह का पुनः समर्थन प्राप्त कर लेगा। अतः उसने अपना समय व्यर्थ गँवाना उचित नहीं समझा।

चौथा कारण यह था कि उदयसिंह ने मुगल दरबार में विरोधी वातावरण उपस्थित कर दिया था और शत्रुओं के बीच चन्द्रसेन अपने आपको कहीं

बिछियाई हुई स्थिति में पाता था। उसका एक भी मित्र दरबार में नहीं था अतः उसने वहाँ रहना व्यर्थ समझा।

पाँचवा कारण यह था कि उसे ज्ञात हो चुका था कि अकबर की एक स्पष्ट राजपूत नीति थी। जिसमें स्वतन्त्र राज्य को कोई स्थान नहीं था और चन्द्रसेन अकबर की अधीनता मानने नहीं आया था वरन् उसकी मित्रता प्राप्त करने आया था देश के सम्राट और छोटे से राव के बीच मित्रता सम्भव नहीं रहती थी। अतः चन्द्रसेन अपनी स्थिति को समझ कर नागौर से चला गया।

5 अकबर की नीति—अकबर की राजपूत नीति मूल रूप से निम्न बातों पर आधारित थी।

(1) वह छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं को आपस में लड़ाकर उनमें फूट डालकर उन्हें अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था। जोधपुर में भी उसने उदयसिंह की मदद देकर चन्द्रसेन का अन्त किया।

(2) वह स्वतन्त्र हिन्दू राज्य नहीं देखना चाहता था और यथा समय सभी हिन्दू राजाओं को किसी न किसी रूप में अपने अधीन करना चाहता था। इसलिए उसकी इच्छा के बिना हिन्दू राजाओं के उत्तराधिकारियों को मान्यता नहीं दी जाती थी। वह बराबर का दूसरा हकदार खड़ा कर राज्य में विद्रोह करवा देता था। और इस प्रकार एक दूसरे को लड़ाकर राजपूतों की शक्ति समाप्त करवा देना चाहता था।

(3) शक्तिशाली राजाओं से वह खून का रिश्ता जोड़ना चाहता था। विवाह सम्बन्ध की नीति को अपना कर उन्हें वफादार दरबारी बनाना चाहता था। इसलिए उसने जयपुर, बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं की लड़कियों से विवाह किया। यह नीति इंग्लैण्ड के विख्यात शासक हेनरी सप्तम ने भी अपनाई थी। गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त प्रथम, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी इस नीति का अनुकरण किया था। 1570 में राजपूत शासकों के पिता, भाई, भान्जे अकबर के दरबार में उसके सालों के रूप में खड़े थे जिन्हें उसने महत्वपूर्ण स्थान देकर अपने राज्य को सुरक्षित बना लिया था।

(4) अकबर वफादार मित्र चाहता था। उसे राजपूतों पर अधिक विश्वास था। अतः उसने कुछ बड़े राजाओं को बिना पराजित किये, मित्र बना लिया और उन्हें दूसरे हिन्दू शत्रु राजाओं के विरुद्ध काम में लेकर अपनी शक्ति

को मुहृढ़ बनाया । वह अपने मुसलमान साथियों पर कम विश्वास करता था और राजपूत राजाओं से सच्ची मित्रता की पूर्ति करना चाहता था ।

(5) अकबर केवल राजधानी ही जीत कर सन्तुष्ट नहीं होता था वह शत्रु राजपूत राजाओं से पूर्ण आत्मसमर्पण भी चाहता था । राव, जब चन्द्रसेन और रायमल मे से कोई भी पूर्ण आत्मसमर्पण के लि तैयार नहीं था । यही कारण है कि अकबर ने 1570 मे उदयसिंह को जोधपुर का राजा नहीं बनाया बल्कि बीकानेर के राजा को वहाँ प्रशासन चलाने भेज दिया । वह इस क्षेत्र मे शेरशाह की नीति का अनुसरण कर रहा था । राठौड़ों मे उसकी नीति 'विभाजन करो और राज्य करो' की थी ।

6 भद्राजण का पतन —जब चन्द्रसेन दरबार मे सन्तुष्ट नहीं हुआ तो उसने अपनी शक्ति का संगठन करना शुरू किया । अकबर ने चन्द्रसेन का दमन करने के लिये और अपनी नीति का परीक्षण करने के लिये मारवाड़ पर को चुन लिया । उसने उदयसिंह को समावली की जागीर दे दी और अपनी तरफ मिला लिया । राम को अपने पैतृक राज्य से अलग रखने के लिये मुगल सेना के साथ रखा गया और जोधपुर पर शाही अधिकार स्थापित कर दिया गया । बीकानेर का राजा जोधपुर मे आकर रहने लगा फिर भी चन्द्रसेन को दबाया नहीं जा सका । इतिहास मे इससे पहले ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि एक राजपूत राजा को दूसरे राजपूत राजा के नगर मे प्रशा रखा गया हो । जो राजपूत राजा शक्ति को ही 'सर्वसत्ता' मानते थे उन्हें मानने के लिये बाध्य किया गया कि अकबर उससे भी शक्तिशाली है । और के किले पर पुन अधिकार किया गया । इस प्रकार अकबर ने मेवाड़ छोड़कर सारे राजस्थान पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु चन्द्रसेन भद्राजण मे स्वतन्त्र था । अत अकबर ने भद्राजण पर आक्रमण किया । यह आक्रमण 1565 ई. मे हुआ । मुगल सेनापति शाह कुली खां ने चन्द्रसेन को फिर घेर लिया । वह भद्राजण छोड़कर शिवाना के किले मे चला गया । चन्द्रसेन अपने दिन बड़ी कठिनाई से निकाल रहा था । उसके पास सेना और युद्ध सामग्री दोनो की ही कमी थी । अत: अगले चार वर्ष उसने वनवास मे काटे । अकबर ने भद्राजण जीतने के बाद शिवाना पर भी आक्रमण किया । इस आक्रमण मे बीकानेर का राजा रायसिंह भी सम्मिलित था । अकबर कदाचित शिवाना पर आक्रमण नहीं करता किन्तु चन्द्रसेन ने 4 वर्ष शिवाना

…ी देशो को लूटा व नष्ट किया । अत: अन्त मे रायसिंह …गलमान अफसरों ने शिवाना पर भी अपना अधिका

र दिया। नवम्बर 1572 में विवश होकर चन्द्रसेन को शिवाना छोड़कर राज के पहाड़ों में जाना पड़ा। मुगल सेना ने यहाँ भी उसका पीछा किया। म देखते हैं कि 1564 से 70 का समय लूटमार और युद्ध का समय है जिसमें चन्द्रसेन की पराजय हुई और उसने महत्वपूर्ण दुर्ग भद्राजण और शिवाना खो दिये।

7. दुनाडा का पतन.—चन्द्रसेन ने अपने आपको दुनाडा के पतन के बाद जोधपुर के आसपास ही रखा। और मुगल सेना व प्रशासन को तंग करता रहा। मुगल सेना बराबर उसके पीछे लगी रही और उसका पीछा करते करते उन्होंने सोजत पर भी अधिकार कर लिया क्योंकि राम के बेटे ने उसे सोजत में शरण दी थी। चन्द्रसेन मारवाड़ छोड़कर डूंगरपुर होता हुआ बाँसवाड़ा आ गया, किन्तु फिर भी मुगल सेना ने उसका पीछा नहीं छोड़ा अतः चन्द्रसेन ने एक बार फिर मारवाड़ जीतने के लिये आक्रमण किया और दुनाडे के क्षेत्र में मुगल सेना के थानेदारों को मार भगाया। अकबर को चन्द्रसेन को दबाने के लिये तीसरा प्रयास करना पड़ा। 1576-1577 ई. में मीरबख्शी व शहबाजखान की अधीनता में एक विशाल सेना भेजी गयी। और लूनी नदी के उस पार दुनाडा के पत्थर के किले में चन्द्रसेन को घेर लिया गया किन्तु वहाँ से भी चन्द्रसेन अवसर पाकर पोकरण की तरफ निकल गया। अब चन्द्रसेन के पास कोई किला नहीं रहा था। जोधपुर भद्राजण, दुनाडा और शिवाना जाने के बाद वह एक गृहहीन भटकने वाला व्यक्ति रह गया। उसने पहाड़ों में शरण ली। इस प्रकार पोकरण के अतिरिक्त 1577 ई. में सारा मारवाड़ अकबर के अधीन हो गया।

8. दर दर भटकना:—3 वर्ष तक चन्द्रसेन सहायता के लिये इधर उधर भटकता रहा। वह अपना देश छोड़कर डूंगरपुर के रावल आसकरण के पास भी गया जो उसका बहनोई लगता था। किन्तु आसकरण ने मुगल सेना के भय से उसे कोई सहायता नहीं दी। कहावत है कि जब विपत्ति आती है तब चारों तरफ से आती है। चन्द्रसेन के राजनैतिक अधिकार ही नहीं छिन रहे थे उसकी आर्थिक दशा भी दयनीय हो गयी थी। उसके रिश्तेदार और मित्र उसकी सहायता करते हुए डरते थे। डूंगरपुर से निराश होकर वह बाँसवाड़ा गया वहाँ भी मुगल सेना ने उसका पीछा किया और उसे वापस मारवाड़ में आना पड़ा। चन्द्रसेन और मुगलों का आखरी मुकाबला पोकरण में हुआ। यहाँ जैसलमेर के राजा ने चन्द्रसेन पर आक्रमण कर उसे पूर्णरूप से पराजित कर दिया। उसकी सेना पूर्णरूप से छिन्न भिन्न हो गयी और वह अपने

कुछ साथियो के साथ छिपकर अजमेर की पहाड़ियो मे जीवन व्यतीत करने लगा। अकबर यहाँ भी चैन से नहीं बैठा। उसने 1580 मे प्यारा कबड़े इसलिये नियुक्त किया कि वह चन्द्रसेन को तलाश कर पूर्ण रूप से समाप्त दे। इस भाग दौड़ मे 11 जनवरी 1581 को चन्द्रसेन का सीरन के पास सरेरी की घाटी मे उसका देहान्त हो गया। एक देश भक्त का इससे दुखद अन्त और क्या हो सकता है?

9 चन्द्रसेन का व्यक्तित्व—डॉ० भार्गव का कथन है कि—"इस प्रकार एक भुला दिये गये नायक के जीवन का अन्त हुआ जो इसलिये अपनी भूमि को अपना रक्त देकर भी स्वतन्त्र करना चाहता था और बढ़ती हुई मुगल शक्ति के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना चाहता था"[1]। राव चन्द्रसेन का अधिकाश समय पहाड़ियों में रहकर मुगल विद्रोह मे बीता।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि—"वह मनस्वी और स्वतन्त्र प्रकृति का वीर होने से मुगल अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। अकबर की नीति मुगल सत्ता को राजस्थान मे स्थापित करने की थी। चन्द्रसेन अपने राज्य की स्वतन्त्रता चाहता था। ऐसी स्थिति में दोनों का विरोधी रहना स्वाभाविक था। यह मुगल राठौड़ संघर्ष विचार और मान्यताओं के भेद का फल था।"[2]

इतनी बडी शक्ति से इतने बडे समय तक लड़ना कोई सरल बात नहीं थी। किन्तु चन्द्रसेन की यह नीति उसी के राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई। उसके 19 साल के शासन मे मारवाड़ की जो क्षति हुई उसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकी। फिर भी भारतीय स्वतन्त्रता के सेनानियो में इसका नाम लिखा जाना चाहिये क्योंकि धन का अभाव होते हुए भी उसने अपनी भूमि की रक्षा के लिये घर के रत्न आदि बेचकर भी अकबर जैसे शत्रु को आजीवन चैन मे नहीं बैठने दिया। पंडित रेऊ अपनी पुस्तक 'मारवाड़ इतिहास' मे चन्द्रसेन की तुलना प्रताप से करते हैं और उसे "मध्य भारत का एक महत्वपूर्ण योद्धा" मानते हैं। फिर भी प्रताप से इसकी पूर्ण रूप से न्याय संगत नहीं है। सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि वह साहसी और दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति था जिसने युद्ध म होते हुए भी अकबर को चुनौती देकर इतिहास मे अपना नाम सुरक्षित कर लिया। वह राजपूत राजाओं में प्रताप के बाद दूसरा स्थान रखता है। उसका जीवन, संघर्ष व कठिनाओ का अध्ययन कर उसके प्रति सहानुभूति व श्रद्धा उत्पन्न होती है। वास्तव में वह उन राजपूत वीरों मे से था जिसे अकबर की शक्ति नहीं झुका सकी।

[1] डॉ० भार्गव—मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स

[2] डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 330–31

प्रताप से तुलना —महाराणा प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहते थे । चन्द्रसेन भी स्वतन्त्र रहना चाहता था । प्रताप ने भी एक बार कठिन घड़ियों में एक पत्र अकबर को लिख दिया था उसी प्रकार चन्द्रसेन भी अकबर से मिलने नागौर चला गया था । चन्द्रसेन के 2 भाई राम और उदयसिंह अकबर से मिल गये थे । मेवाड़ के जगमल और शक्तिसिंह का भी यही हाल था । अधिकांश मारवाड़ पर भी अकबर का अधिकार था और मेवाड़ पर भी । दोनों ही थोड़ी सी भूमि के भरोसे अकबर से लड़ रहे थे । प्रताप की हल्दी घाटी की पराजय चन्द्रसेन की भद्राजण की पराजय के समान थी । प्रताप भी अपने आजीवन चित्तौड़ व माण्डलगढ़ को नहीं ले सका और वैसे ही चन्द्रसेन भी भद्राजण और जोधपुर को वापस नहीं ले सका । प्रताप ने भी जंगलों में शरण ली थी और चन्द्रसेन को भी पहाड़ियों में छिपना पड़ा । इन बातों को देखने से दोनों समान लगते हैं किन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है । मोटे तौर पर ये सात अन्तर दिखते हैं —

दोनों के राजनैतिक आदर्श भिन्न थे । चन्द्रसेन 1570 में अकबर से मिलने नागौर गया था किन्तु प्रताप ने अकबर की यह इच्छा कभी पूरी नहीं होने दी कि वह प्रताप को अपने दरबारियों में देखे । यदि अकबर चन्द्रसेन को जोधपुर दे देता और राजा मान लेता तो चन्द्रसेन शाही दरबार में आ सकता था ।

दूसरा अन्तर यह था कि चन्द्रसेन ने मुगलों से खुलकर कभी युद्ध नहीं किया था । जबकि प्रताप ने हल्दी घाटी में खुला युद्ध लड़ा था ।

तीसरा अन्तर यह था कि प्रताप ने अपने राज्य को व्यवस्थित भी बनाया । नई राजधानी चावण्ड की स्थापना की किन्तु चन्द्रसेन सदा मारवाड़ को लूटता ही रहा । उससे जन समुदाय व महाजन अप्रसन्न थे ।

चौथा अन्तर यह था कि लूट की नीति के कारण ही चन्द्रसेन को मारवाड़ छोड़कर डूंगरपुर, बांसवाड़ा और अजमेर जाना पड़ा । जबकि प्रताप ने पूर्ण रूप से मेवाड़ कभी नहीं छोड़ा ।

पाँचवां अन्तर यह था कि जहाँ तक पारिवारिक विरोध का प्रश्न है चन्द्रसेन के बाद जोधपुर के राजा मुगल दरबार में रहने लगे किन्तु प्रताप के बाद उसका उत्तराधिकारी बहुत समय तक जहाँगीर से लड़ता रहा और उदयपुर के महाराणा मुगलों से लड़ने में अपना गौरव समझते थे । मारवाड़ में मुगलों का विरोधी चन्द्रसेन के बाद सिर्फ दुर्गादास हुआ ।

छठा अन्तर यह था कि अकबर ने राणा को मित्र बनाने के लि प्रयास किए लेकिन उसने अकबर की मित्रता ठुकरा दी यदि चन्द्रसेन अकबर मिलता तो वह सहज संधि कर लेता।

सातवाँ अन्तर यह था कि जीवन के अन्तिम दिनों में प्रता सन्तोष प्रतीत होता है चन्द्रसेन असफलता और निराशा का शि असन्तुष्ट ही मर गया। वह तब हताश सेनानी की मृत्यु मरा। तुलना प्रताप से नहीं करनी चाहिए।

आठवाँ अन्तर यह था कि प्रताप ने अपने राज्य का मुगलों से वापस छीन लिया था जबकि चन्द्रसेन एक भी गाँव ले सका था। प्रताप पुरन्दर से एक सफल विजेता था जबकि पराजित सेनापति। चन्द्रसेन ने अपने घर के रत्न बेचे थे भामाशाह से सहायता ली थी।

अध्याय 14

राजा मानसिंह

राजा मानसिह

"राजा मानसिह के शासन काल मे आमेर राज्य की बड़ी उन्नति हुई
ुगल दरबार में सम्मिलित होकर मानसिह ने अपने राज्य का विस्तार कि
और अनेक अवसरो पर अपने आपको सकटो मे डालकर मुगल शासन का ि
किया। खुतन से लेकर कितने ही राज्यों को अपनी तलवार से जीतकर व
र उसने मुगल पताका फहरायी। मानसिह ने उड़ीसा और आसाम को ज
कर उनको अकबर बादशाह के अधीन बना दिया था, उससे भयभीत हो
काबुल ने भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अपनी इन्हीं सफ
ामों के फलस्वरूप मानसिह बगाल, बिहार, दक्षिण व काबुल का शा
नियुक्त हुआ था।"

मानसिह के प्रभाव का वर्णन करते हुए टाड महोदय ने यह बताया है

श्री ओझा कहते हैं कि —"अकबर ने राजपूतो से विवाह सम्बन्ध जो
कर तथा आमेर के राजा भगवान दास के भतीजे मानसिह को अपना विश्व
ात्र बनाकर मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर ली। मानसिह अकबर
विश्वास पात्र स्तम्भों मे से एक था।"

श्री गहलोत के शब्दो मे—"आमेर के मानसिह को 7 हजार जात
6 हजार सवार का मन्सब भी प्रदान किया गया था। जो अकबर के शास
काल मे किसी भी हिन्दू या मुसलमान सरदार को प्रदान किया जाने वा
ऊँचा से ऊँचा मन्सब था।"

स्पष्ट है कि अकबर ने राजपूतों को अपना कर अपने शासन को सु
बनाने के लिये जो नीति अपनायी उसमे आमेर के राजा और विशेषतौर
मानसिह का सबसे अधिक योगदान था। राजपूत राजाओं मे मानसिह ही ए
ऐसा राजा था जिसने मुगल सम्राट के साथ सबसे पहले मैत्रीपूर्ण व्यवहार
अपनाया और जीवन भर वह मुगल दरबार की वफादारी से सेवा करता रह
मानसिह के जीवन मे निम्न महत्वपूर्ण बातें स्मरणीय हैं—

1 प्रारम्भिक जीवन —मानसिंह का जन्म 1550 ई० में
गाँव में हुआ था। यह भगवन्तदास के भाई जगतसिंह का पुत्र था। कि
इतिहासकार इसे भगवन्तदास का ही पुत्र मानते हैं। जहाँगीर ने
अपनी कथा में इसे भगवन्तदास का भतीजा लिखा है। आमेर के
... स्थानों में इसे भगवन्तदास का पुत्र कहा गया है। जो सही है।
... इसे भगवन्तदास की मृत्यु के बाद आमेर का राजा बनाया गया।
... उलझन उत्पन्न हो जाती है कि मानसिंह के पिता भगवन्तदास
जगतसिंह। यदि मुसलमान लेखकों को सच मान लिया जाय तो
भगवन्तदास का ही पुत्र था। डॉ० गोपीनाथ शर्मा भी इसे भगवन्तदास
पुत्र मानते हैं क्योंकि निजामुद्दीन, बदायूनी व फरिश्ता जैसे विद्वान भ
का ही इसका पिता मानते हैं।

टाड महोदय इस घटना के विरुद्ध मानसिंह को भगवन्तदास
लिया हुआ पुत्र मानते हैं। भगवन्तदास को कई जगह भगवानदास कहा
गया है।

स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक 'अकबर' में टाड के मत का समर्थन
है। श्री ओझा राजपूताने का इतिहास में लिखते हैं कि—"मानसिंह
दास का दूसरा पुत्र था और उसे आमेर का राजा भगवानदास
लिया था।"

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकार मानसिंह के जन्म के बारे में
अलग राय रखते हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भगवन्त
उसका पुत्र मानसिंह आमेर का शासक बना। मानसिंह ने 1589 से
तक अर्थात् 26 वर्ष तक आमेर पर राज्य किया। उसके शासन काल में
जैसे छोटे से राज्य की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। मुगल दरबार में इस
सम्मान बढ़ गया और अन्य राजपूत घरानों से कहीं अधिक समृद्धि व
मानसिंह के समय आमेर की हुई।

2 मानसिंह मुगल दरबार में —12 वर्ष की अवस्था में मानसिंह
मुगल दरबार में आ गया था। अकबर के साथ रह कर ही उसने सैनिक
शिक्षा में निपुणता प्राप्त की थी वह 13 फरवरी 1565 को आगरा पहुँचा था
और तब से लगाकर 1574 ई० तक अर्थात् 12 वर्ष तक वह अपने दादा के
काल में अकबर के दरबार में रहा उसके बाद वह अपने पिता के शासन
... में 1574-89 तक कुँवर मानसिंह के रूप में अकबर की सेवा में रहा।
इन दोनों कालों के बीच में अर्थात् भँवर तथा कुँवर मानसिंह ने अकबर की
जो सेवाएँ की वे भी सराहनीय हैं। रणथम्भौर के आक्रमण के समय मानसिंह

अपने पिता के समय अकबर के साथ था। अकबर ने जो सूरजहाडा पर विजय प्राप्त की थी उसमें भी मानसिंह का बहुत हाथ था। 1572 ई० में गुजरात में होने वाले ईडर के विद्रोह में मानसिंह ने विद्रोही शेरखाँ फौलादी के लड़कों को पराजित कर लूटा था। इसके अतिरिक्त गुजरात के अभियान में वह अकबर की सेना की अग्रिम पंक्तियों में था। गुजरात से लौटते समय मानसिंह ने डूंगरपुर विजय की थी और उदयपुर में प्रताप से भेंट की। इस प्रकार मानसिंह ने 24 वर्ष की अवस्था से पहले ही गुजरात डूंगरपुर, हाडा, रणथम्भोर और ईडर के भयानक युद्धों में भाग लेकर सफलता प्राप्त कर ली थी उसकी योग्यता से प्रभावित होकर जून 1573 में अकबर ने उसे अपना दूत बनाकर प्रताप के पास भेजा था। मानसिंह का स्वाभिमान हल्दीघाटी के युद्ध का एक कारण बन गया था।

इन सभी बातों से यह पता चलता है कि मानसिंह वीर व योग्य राजपूत था अतः अकबर ने इसे हर अभियान में अपने साथ रखना शुरू कर दिया। अपने कुँवर काल में मानसिंह इस प्रकार अकबर का विश्वास पात्र बनने में सफल हुआ।

3. मेवाड़ और मानसिंह — मानसिंह के जीवन में मेवाड़ अभियान एक महत्वपूर्ण घटना थी। पहली बार मानसिंह को मुगल सेनापति बनाकर एक ऐसे शासक की विजय करने भेजा गया था जो किसी भी तरह मुगलों की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं था। गुजरात से लौटने पर अकबर ने उसे 1576 ई० में 5 हजार घुड़सवार देकर मेवाड़ विजय के लिये रवाना किया। हल्दीघाटी के युद्ध में उसने प्रताप जैसे वीर को पराजित कर पहाड़ों में शरण लेने के लिये बाध्य कर दिया। यद्यपि मानसिंह मेवाड़ के भूगोल से परिचित नहीं था और गोगून्डा में मुगल सेना घिर गयी थी, फिर भी मानसिंह सफलतापूर्वक मेवाड़ से लौट गया था। मानसिंह अकबर की इच्छानुसार प्रताप को पकड़कर दरबार में नहीं ले जा सका। हल्दीघाटी के अभियान से उसकी प्रतिष्ठा को कुछ चोट पहुँची और कुछ समय तक अकबर भी उससे नाराज रहा किन्तु थोड़े ही समय में अकबर यह समझ गया कि मेवाड़ पर पूर्ण अधिकार पाना सम्भव नहीं है अतः उसने मानसिंह को अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर भेजना शुरू किया।

4. मानसिंह उत्तर-पश्चिमी सीमा पर। — प्रताप पर विजय पाने के बाद अकबर यह समझ गया था कि मानसिंह एक उपयोगी सेनापति है। अतः जब काबुल में विद्रोह हुआ तो अफगानों को दबाने के लिये अकबर ने मानसिंह को भेजा। अफगानों का सरदार स्वतन्त्र होना चाहता था। साथ ही काश्मीर

''मिरज़ा की मृत्यु हो गयी तथा स्थानीय सामन्तों ने काबुल पर अधिकार
:या। अकबर ने इस स्थिति से लाभ उठाकर मानसिंह को काबुल विजय
भेज दिया। मानसिंह ने आसानी से काबुल जीत लिया और मिरज़ा
के नाबालिक बच्चों को अच्छे ढंग से दरबार में प्रस्तुत किया। दीर्घ-
में काबुल, पंजाब, सिन्ध में रहने से मानसिंह का स्वास्थ्य खराब होने
साथ ही 6 वर्ष तक इन प्रदेशों में रहकर ऊब गया था अत अकबर ने
सिंह को काबुल से वापस बुला लिया।

6. बिहार का सूबेदार मानसिंह.—1587 94 मानसिंह को बिहार
बेदार बना कर भेजा गया। बिहार के जमींदार उपद्रव कर रहे थे और
सत्ता की अवहेलना करते थे। राजा की अवहेलना मामूली बात थी।
सिंह को विद्रोहियों का दमन करने का अनुभव था अत उसने वहाँ
रता से यहाँ के जमींदारों से संघर्ष किया। अभी उसे बिहार में आये 2
भी नहीं हुए थे उसके पिता का देहान्त हो गया। वह आमेर पहुँचा उसका
चारिक राज्याभिषेक हुआ अकबर ने भी उसका टीका भेजा और 5 हजारी
हजारी पक्की कर दी। वापस लौट कर मानसिंह ने 1590-94 तक
हियों का निर्दयता से दमन किया। उसने गिधौर के राजा पूर्णमल को
त कर मुगल अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। पूर्णमल ने अपनी
ी का विवाह मानसिंह के भाई चन्द्रभान से कर दिया। इसी वर्ष मानसिंह
डूंगपुर के राजा संग्रामसिंह को भी हराया। बंगाल के सुल्तान ने इसी
बिहार के कुछ भागों पर अपना अधिकार कर लिया जिनमें हाजीपुर,
यों, दरभंगा आदि मुख्य थे। मानसिंह ने अपने पुत्र जगतसिंह की सहायता
न लोगों को वहाँ से मार भगाया वहाँ 1594 तक बिहार के सूबेदार की
यत से रहा और इस अवधि में उसने बिहार के सम्पूर्ण विद्रोहियों को
त कर मुस्लिम आधिपत्य स्थापित कर दिया। यह मानसिंह की तीसरी
ज्ञान सफलता थी।

7 उड़ीसा विजय:—1580-83 के बीच अफगान लोग विद्रोह करने
थे और कुतुलखाँ ने उड़ीसा पर अपना अधिकार जमा लिया था। मानसिंह
यह आदेश दिया गया कि वह उड़ीसा पर आक्रमण कर उसे जीत ले।
ने कुछ वर्षों से कुतुलखाँ बंगाल पर सशस्त्र छापेमारी कर रहा था बिहार
सीमा पर भी अफगान लूटमार कर रहे थे। कुतुलखाँ के लड़के नासिरखाँ
भी इसी पद्धति को अपनाया। अफगानों से बिहार के कुछ हिस्सों के मुगल

फौजदारो को मार भगाया था । अत यह आवश्यक हो गया कि उडीसा विद्रोह का दमन कर अफगानो की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया जाय । मा सिंह इस समय आक्रमण के पक्ष मे नही था क्योंकि उसके सैनिक बिहार मे लडते लडते थक गये थे और बंगाल का सूबेदार भी मानसिंह को सै सहायता देने को तैयार नही था अत अकबर का आदेश मिलने के एक बाद 1589 मे मानसिंह उडीसा पर आक्रमण करने के लिये रवाना हुअ उसने आक्रमण का नेतृत्व जगतसिंह को दे दिया था किन्तु जगतसिंह अनु हीनता के कारण हार गया और उसने भाग कर बकुरा जीले मे स्थित विशन के दुर्ग मे शरण ली । उसने कुतुलखाँ के लडके नासिरखाँ से अगस्त 1589 संधि कर ली । यह मुगलो के लिये अपमानजनक बात थी अत. 1590 मानसिंह स्वयं 150 हाथी व विशाल सेना लेकर उडीसा पर टूट पडा । 2 तक-उसने अफगानो का दमन किया और जगह जगह उनका पीछा किया । मे 1592 मे अफगानो ने आत्मसमर्पण कर दिया और उडीसा पर मुगलों अधिकार हो गया । इस विषय पर इतिहासकारो मे मतभेद है । कुछ इतिह कार यह मानते हैं कि मानसिंह ने केवल पुरी जिले व जलेसर के मुख्य स्थ पर कब्जा किया था ।

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव के शब्दो मे—"अन्त मे मानसिंह ने स लतापूर्वक यह विद्रोह दबा दिया और उडीसा तथा तेलीगाना की सीमा विद्रोहियो का दमन कर सम्पूर्ण उडीसा पर अपना अधिकार स्थापित किया ।"

उसने असन्तुष्ट अफगानो को पूर्णरूप से पराजित किया और उडीसा सभी नगरो पर अपना अधिकार जमाया । उडीसा अभियान पूर्णरूप सफल रहा ।

8. मानसिंह बंगाल मे —मानसिंह की इस विजय से प्रसन्न हो अकबर ने उसे 1594 मे बगाल का सूबेदार बना दिया । इस समय मानसिं एक राजा के ठाटबाट से रहा । बगाल, बिहार व उडीसा की सूबेदारी मु साम्राज्य की सबसे बडी सूबेदारी थी । उसने बगाल मे राज महल नगर बसवाया कुछ लोग इस राजधानी को राजप्रसाद भी कहते थे उसने पुर राजधानी टण्डा को छोड दिया । पूर्वी बंगाल मे कुछ विद्रोही थे जो अकबर अधीनता मानने को तैयार नहीं थे । मानसिंह ने ढाका पर आक्रमण कि और उसे जीत लिया । बिहार का राजा भी अपने आपको स्वतन्त्र जिनता उसे भी पराजित कर मानसिंह ने उसकी लडकी से विवाह किया किन्तु बंग के उपद्रव पूर्णरूप से शान्त नहीं हुए थे और इन्हीं उपद्रवों के दमन मे मानसिं

ने अपने दो पुत्र हिम्मतसिंह और दुर्जनसिंह के प्राणों की आहुति दे दी। किन्तु अन्त में वह इन उपद्रवों को दबाने में पूर्णरूप से सफल हुआ। बंगाल में वह कई वर्ष तक रहा। जलवायु ठीक न होने से उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा अतः सम्राट ने उसे 1597 में वापस राजस्थान बुला लिया और अजमेर प्रान्त का सूबेदार बनाकर सलीम के साथ अजमेर भेज दिया। एक प्रशासक के रूप में मानसिंह ने बंगाल व उड़ीसा को संगठित शासन व्यवस्था प्रदान की।

9. सलीम और मानसिंह:—श्री गहलोत के शब्दों में—"जीवन भर वफादारी से सेवा करने के बाद भी मानसिंह अपनी बुआ, बहिन व पोती का मुगल खानदान में विवाह करके भी बादशाह का पूर्ण विश्वासपात्र नहीं बन सका। जहांगीर तो उससे घृणा करता था और उसे पाखण्डी बैटिया ही समझता था।"

सलीम आमेर की राजकुमारी का लड़का था। उसका विवाह भी मानसिंह की बहिन के साथ हुआ था लेकिन फिर भी मानसिंह ने विद्रोह के समय सलीम का साथ नहीं दिया। मानसिंह को सलीम का रहन सहन पसंद नहीं था। साथ ही मानसिंह यह भी जानता था कि सलीम विद्रोह में सफल नहीं होगा उसने सलीम को विद्रोह करने के बजाय विद्रोही के दमन की राय दी लेकिन उसने नहीं मानी। फलस्वरूप मानसिंह ने विद्रोही शहजादे का दमन करने में बादशाह की मदद की। सलीम को अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। और वह हमेशा के लिये मानसिंह का शत्रु बन गया। विद्रोह का दमन करने के बाद अकबर ने मानसिंह को सबसे बड़ी जागीर व मन्सब प्रदान की। मानसिंह को 7 हजार जात और 6 हजार सवार दिये गये। ऐसा लगता है मानसिंह जीवन भर विद्रोहों का दमन ही करता रहा। राजा होते हुए भी उसे राज करने का अवसर नहीं मिला और अन्त में 1614 ई. में इलीचपुर में मानसिंह का देहान्त हो गया। मानसिंह को अपने बेटे जगतसिंह की मृत्यु का गहरा सदमा पहुँचा। साथ ही अकबर की मृत्यु से मानसिंह का दिल और टूट गया था। धीरे धीरे उसकी उम्र के सभी साथी परलोक सिधार गये थे और युवक शासक जहांगीर उसका सम्मान भी नहीं करता था। अतः 1614 ई. में मानसिंह परलोक सिधार गया।

10. मानसिंह का व्यक्तित्व:—श्री टाड के शब्दों में—"भारतवर्ष के इतिहास में कच्छवाहा लोगों को शूरवीर नहीं माना जाता परन्तु राजा भगवन्तदास व मानसिंह के समय कच्छवाहा लोगों ने अपने बल, पराक्रम व वैभव की वृद्धि की थी। मानसिंह बादशाह की अधीनता में था लेकिन उसके साथ रहने वाली सेना बादशाह की सेना से अधिक शक्तिशाली समझी जाती थी।"

दि एक एक में चार पाँच रानियां रहे तो भी इतनी रानियां नहीं हो सकती। गोपीनाथ शर्मा का विचार है कि 2 दर्जन स्त्रियां और एक दर्जन बच्चे अवश्य रहे होंगे। मानसिंह अपने पुत्रों से बहुत प्रेम करता था और जब बंगाल में मारे गये तो उसका बंगाल से ऊब जाना स्वाभाविक था रानियां विभिन्न प्रान्तों की थी अतः उसका व्यक्तिगत जीवन महल- विलासिता से लिप्त था।

(C) मानसिंह का धर्मः—वह हिन्दू था और इतना कट्टर हिन्दू था कि अकबर के आग्रह पर भी दीन इलाही की सदस्यता स्वीकार नहीं की। के लेखक ने मानसिंह व उसकी स्त्री की गणना परम् भक्तों में की मानसिंह ने शिव, शक्ति, गणेश व विष्णु के अनेक मंदिर बनवाये। पटना बैकटपुर गाँव में उसने एक विशाल भवानी शंकर मंदिर का निर्माण वह मंदिरों की व्यवस्था के लिये अपने पास से पैसा देता था। बंगाल र वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा तो उसने वृन्दावन के गोविन्द जी का बनवाया। आमेर में भी जगत शिरोमणि मंदिर की स्थापना भी इसी । धर्म पर दृढ़ होते हुए भी उसने धार्मिक सहिष्णुता थी। उसने के प्रति आलोचना का दृष्टिकोण नहीं अपनाया वास्तव में वह एक कामवादी और उदार धार्मिक प्रवृति का व्यक्ति था।

(D) मानसिंह का विद्याप्रेम—इस राजा की प्रतिभा चहुमुखी थी। रणकौशल और शासन काल में तो वह दक्ष था ही साथ ही मस्तिष्क से इससे वंचित नहीं थे। बड़े राजाओं की तरह इसने शिलालेख आमेर का शिलालेख, रोहतास का लेख वृदावन का लेख, संस्कृत भाषा उसका प्रेम प्रदर्शित करते हैं। यह तलवार का धनी स्वयं कवि भी रूप छद मिलते हैं लेखकों को प्रोत्साहन देना अपना कर्तव्य समझता 2 दर्जन ऐतिहासिक पुस्तक इसके 24 वर्षीय शासनकाल में लिखी समय में दादूदयाल ने वाणी की रचना की थी। मानसिंह के आदेश भी साहित्यिक पुट से रंगे होते थे। देश के विख्यात कवियों के र के दरबार में रहकर वह विद्वानों का सत्कार करना सीख गया वियों को लाखों रुपये देता था। इतिहासकार फार्गुसन के शब्दों में

मानसिंह के पास कई कवि पंडित आश्रय पाते थे। वह कला पारखी संरक्षक था।"

जगत शिरोमणि का मंदिर भी कला की दृष्टि से आकर्षक है। यह मंदिर जगतसिंह की स्मृति में बनवाया गया था। इसी प्रकार वृन्दावन के गोविंद मंदिर की निर्माण शैली में अपूर्व आकर्षण है। मानसिंह की कला का सबसे अच्छा नमूना आमेर के राज प्रासाद हैं। उसके बनाये हुये महल मुगल कला से प्रभावित हैं किन्तु हिन्दू शैली की छाप भी उन पर अंकित है। उसका बनाया हुआ शीश महल आज भी आमेर में देखने योग्य है। मुगल दरबार का अनुकरण कर बनायी गयी बारहदरिया दर्शकों को विस्मय में डाल देती हैं। श्री फरगूसन के शब्दों में—

"नगरों तथा महलों, जलाशयों व मंदिरों के निर्माण में मानसिंह राजपूत राजाओं में सबसे आगे है।"

संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि मानसिंह जीवन में कभी नहीं हारा। वह अकबर का स्वामिभक्त सेनापति बना रहा। कई विद्रोहों का दमन किया। नये नगरों का निर्माण कर मंदिरों, मूर्तियों, राजप्रासादों का निर्माण कर उसने कला साहित्य व शासन व्यवस्था और युद्ध नीति में अपूर्व ख्याति अर्जित की। अपने समय का वह अद्वितीय हिन्दू राजा था।

अध्याय 15

रायसिंह

1574-1612

रायसिंह

महाराजा रायसिंह ने बीकानेर पर लगभग अड़तीस वर्ष तक राज्य
या। उसके शासन का समय बीकानेर के विकास का समय है। अपने
दीर्घकालीन शासन काल में महाराजा रायसिंह ने बीकानेर को एक शक्तिशाली
राज्य बना दिया। रायसिंह अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। अपने
शासन से ही रायसिंह मुगल दरबार की सेवा में उपस्थित रहता था। मुगल
दरबार में उसे 5000 मनसब प्राप्त थी। वह अपने जीवन काल में मुगल
सेना के साथ गुजरात विजय और मुहम्मद हुसैन आदि विद्रोहियों का दमन
करने गया। अकबर ने उसे मारवाड़ के राजा चन्द्रसेन को दण्डित करने भेजा
। वह बलूचिस्तान का विद्रोह दबाने में भी सफल रहा था और जयपुर
राजा भगवन्तदास कछवाहा के साथ लाहौर का प्रबन्धक भी रहा। उसने
शहजादा सलीम के साथ 1603 में मेवाड़ अभियान में भी भाग लिया था।
अपने जीवन के अनेक वर्ष उसने जूनागढ़ और अहमदनगर में व्यतीत किये।
इससे स्पष्ट है कि वह मुगल बादशाहों का विश्वास पात्र था। मुगल बादशाहों
का विश्वास प्राप्त कर धीरे धीरे अपने राज्य को काफी बढ़ा लिया। रायसिंह के
शाही फरमानों के आधार पर उसके राज्य में 47 परगने थे। जिनमें अजमेर,
हिसार, मुल्तान और भटनेर भी गिने जाते हैं।

मारवाड़ के राजा मालदेव ने रायसिंह के दादा राव जैतसी को मार
कर बीकानेर राज्य को अपने अधीन कर लिया था। और रायसिंह का पिता
कल्याणमल अपने राज्य को स्वतन्त्र कराने के लिये शेरशाह के गुगल में जा
गया। रायसिंह ने अपने दादा की मृत्यु का बदला मालदेव के पुत्र चन्द्रसेन
से लिया और उसे जोधपुर से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार हम देखते हैं
कि काफी पुट से बीकानेर और जोधपुर के राठौड़ शासक आपस में अशान्त
हो गये और मुगल शासकों ने इस आपसी वैमनस्य का पूरा पूरा लाभ
उठाया। वैसे तो राव मालदेव के अध्याय में बीकानेर और जोधपुर के सम्बन्धों
पर प्रकाश डाला जा चुका है किन्तु रायसिंह का इतिहास जानने से पहले
बीकानेर का पूर्व इतिहास भी संक्षेप में जान लेना उचित होगा।

नहीं थी। मेवाड़ जैसा शक्तिशाली राज्य अकबर के आगे नहीं टिक सका था। मारवाड़ का शक्तिशाली राजा चन्द्रसेन दर-दर भटकने लगा था। जयपुर के कछवाहा घराने ने मुगलों को लड़की देकर राज्य को मिटने से बचा लिया था। अकबर की राजपूत नीति विवाह और उच्च पदों पर नियुक्तियों ने उसे सारे देश का स्वामी बना दिया था। राठौड़ों में फूट थी ऐसी स्थिति में बीकानेर अपनी स्वतन्त्रता कैसे बनाये रख सकता था। उसके राज्य का एक महत्वपूर्ण भाग भटनेर का किला तो अकबर उससे छीन ही चुका था। यह चेतावनी थी और अपने राज्य के कल्याण के लिए कल्याणमल ने अकबर से मित्रता कर अपनी समझदारी का परिचय दिया। ओझाजी अपनी पुस्तक 'बीकानेर राज्य का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 131 से 135 तक इन्हीं परिस्थितियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"जिन मुसलमानों की सहायता से वह अपना गया हुआ राज्य वापस पा सका था, उनकी शक्ति को वह खूब अच्छी तरह से समझ गया था। वह समय मुगलों के उत्कर्ष का था, जिनका बल प्रवाह बरसाती नदी के समान अपने आगे सबको बहाता हुआ बहुधा भारत में बड़े वेग से फैल रहा था। ...ऐसी परिस्थिति में दूरदर्शी कल्याणमल ने मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति से मेल कर लेने में ही भलाई समझी और बादशाह अकबर के नागौर में रहते समय वह अपने पुत्र रायसिंह के साथ उसकी सेवा में उपस्थित हो गया। वास्तव में राव कल्याणमल का यह कार्य बहुत बुद्धिमानी का हुआ, जिससे अकबर और जहाँगीर के समय शाही दरबार में जोधपुर के बाद बीकानेर का ही बड़ा सम्मान रहा।"

कल्याणमल के इस कार्य का समर्थन करते हुए डॉ० गोपीनाथ जी भी अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 403 पर लिखते हैं कि—"भटिण्डा के बीकानेर के अधिकार से निकल जाने से राव कल्याणमल की सैनिक स्थिति कमजोर हो चली थी और उसकी भी मनोवृत्ति आश्रित रहने में राज्य का हित समझती थी। इसलिए पहले उसने पठानों का और तदनन्तर मुगलों का आश्रय ढूँढना अपने तथा अपने राज्य के लिए श्रेयकर समझा।" उसने अपने पुत्र पृथ्वीराज को अकबर के दरबार में छोड़ दिया जिसे अकबर ने गागरोन का किला जागीर में दिया। ऐसी स्थिति में 1574 ई० में रायसिंह बीकानेर का महाराजा बना। स्पष्ट है कि उसने अकबर और जहाँगीर से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आतंकित मेवाड़, पराधीन जोधपुर और समयानुकूल जयपुर के तालमेल को देखकर, आपसी फूट का अन्दाज लगाते हुए एवं भटनेर से हाथ धोकर, बुद्धिमान कल्याणमल ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर बीकानेर के अनिश्चित भविष्य का अन्त कर विकास और प्रतिष्ठा का शुभारम्भ किया। जब वह अकबर से मिलने

है कि—"इस पद पर उसकी नियुक्ति कुंवर की हैसियत से हुई और राजा बनने के बाद भी कई वर्षों तक वह इस पद का उपभोग करता रहा।" शाहपुर में अपने शासन काल में रायसिंह ने अपनी दानशीलता व संरक्षण का परिचय दिया। उसने अनेकों चारणों को उनकी सेवाओं पर और अनेकों ब्राह्मणों को उनकी विद्वता पर बहुत से गाँव व जागीरें दान दिये। जिसने जैनपुर की ख्यातों में उसे सम्मानपूर्ण स्थान दिला दिया। इस प्रकार राजगद्दी पर बैठने से पहले ही रायसिंह ने अपने व्यक्तित्व का परिचय देकर न केवल मुगल दरबार में बीकानेर का सम्मान बढ़ाया बल्कि राठौड़ों में अपना स्थान भी ऊपर उठा लिया। वैसे तो यह दासता और पराधीनता का प्रारम्भ है फिर भी बीकानेर जैसे देश के लिए भारत की श्रेष्ठ शक्ति से इस प्रकार संबंध व जोधपुर पर रायसिंह का व्यापक प्रभुत्व इस बात के प्रमाण हैं कि आधुनिक बीकानेर का निर्माण रायसिंह के हाथों से हुआ था।

3 रायसिंह और मिर्जा बन्धु—गुजरात विजय के बाद मिर्जा लोग विद्रोही हो गये थे। रायसिंह भी 1572 में गुजरात विजय के लिए भेजी गई सेना के साथ था। गुजरात विजय को अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था कि इब्राहिम हुसैन, मिर्जा मुहम्मद हुसैन और शाह मिर्जा ने विद्रोह खड़े कर दिये। अकबर ने इन विद्रोहियों का दमन करने के लिए जो सेना भेजी उसमें रायसिंह भी आ मिला। विद्रोही इब्राहीम हुसैन मिर्जा जब मुगल सेना के आतंक से भाग कर नागौर चला आया तो रायसिंह ने उस पर आक्रमण कर मुगल सेना की सहायता की। नागौर इस समय रायसिंह के अधीन था। रायसिंह ने विद्रोही इब्राहिम मिर्जा को कठौती नामक गाँव में घेर लिया। दोनों के बाद भयानक युद्ध में पराजित होकर मिर्जा पंजाब की तरफ भाग गया। रायसिंह ने अपनी सीमा तक पीछा किया और इस प्रकार एक विद्रोही को अपने अधीन प्रदेश से मार भगाया। इस घटना से अकबर के प्रति वफादारी का परिचय मिलता है।

इसी प्रकार दूसरा विद्रोह मुहम्मद हुसैन मिर्जा ने गुजरात में किया। जब अकबर स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए गुजरात गया तो रायसिंह भी उसकी सेना में सम्मिलित हो गया। इस लड़ाई में रायसिंह ने बड़ी वीरता का परिचय दिया और अन्त में मुहम्मद मिर्जा को बन्दी बनाकर अकबर बादशाह के सामने पेश किया। बादशाह रायसिंह की वीरता से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने बन्दी मिर्जा को रायसिंह के हवाले कर दिया कि वह विद्रोही को जो चाहे सजा दे। अन्त में भगवानदास की सलाह से रायसिंह ने मुहम्मद हुसैन मिर्जा का वध करवा दिया। इस प्रकार मिर्जा बन्धुओं के दूसरे विद्रोह को शांत करने का श्रेय रायसिंह को मिला। ये दोनों ही विद्रोह तो दिसम्बर 1573 तक समाप्त हो गये। आगे चल कर 1581 में रायसिंह ने

शाह मिर्जा और मिर्जा हकीम के विद्रोहों का भी सफलता से दमन कर दिखाया। इन सफलताओं ने रायसिंह के व्यक्तित्व और ख्याति को काफी ऊंचा उठाया। उसका मनसब बढ़ गया।

4. चन्द्रसेन और रायसिंह—अकबर 'बांटो' और राज्य करो के सिद्धान्त का अनुयायी था। उसने बड़े बड़े राजपूत राज्यों को भाईयों में बांट कर शक्ति कम कर दी थी। जोधपुर में भी उसने समल की जागीर चन्द्रसेन के प्रतिद्वन्द्वी भाई उदयसिंह को दे दी थी। जोधपुर की व्यवस्था रायसिंह को सौंप दी थी। रायसिंह की नियुक्ति का मूल कारण तो यह था कि गुजरात व मारवाड़ पर मेवाड़ का आक्रमण न हो जाय। अकबर तो अपने मालवा और गुजरात अभियानों में व्यस्त हो गया और इस बीच चन्द्रसेन को अपनी शक्ति संगठन का अवसर मिल गया। जोधपुर पर रायसिंह का अधिकार मुगल भारत की पहली नई परम्परा थी। राजपूत राजा अब तक सिर्फ शक्ति के आधार पर ही राज्य करते थे, अकबर ने उन्हें यह पाठ पढ़ा दिया कि राज्य उपहार स्वरूप भी मिल सकते हैं। जोधपुर हाथ से निकल जाने पर राव चन्द्रसेन दक्षिण मारवाड़ में रह कर अपनी शक्ति का संगठन करने लगा था। अकबर मालवा व गुजरात में व्यस्त था। अकबर ने चन्द्रसेन को दण्डित करने के लिए 1571 में रायसिंह को कई अन्य मुगल अधिकारियों के साथ जोधपुर भेजा था। रायसिंह भी चन्द्रसेन से अपना बदला लेना चाहता था। रायसिंह ने पहले चन्द्रसेन के समर्थकों को अपने अपने राज्य से निकाला। उसने कल्ला को पराजित कर सोजत से बाहर भगा दिया। कल्ला सोजत में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। रायसिंह ने उसे गौरम के पहाड़ों में भगा दिया। चन्द्रसेन भी अवसर से लाभ उठाकर जोधपुर के आस-पास मंडराने लगा। वह मुगल अफसरों को तंग करने लगा। जोधपुर और सिवाना के पास की प्रजा को लूटने लगा। अकबर ने शाह कुलीर खान, तयब खान, सुभान कुली खां आदि के साथ रायसिंह व मेड़ता के हाकिम जयमल के पुत्र केसुदास को दक्षिण मारवाड़ विजय करने भेजा। रायसिंह की अधीनता में सोजत और सिवाना के किले भी चन्द्रसेन से जीत लिए गये। रायसिंह ने अकबर को 1575 में अजमेर में यह आग्रह किया कि चन्द्रसेन के विरुद्ध निर्णयात्मक कार्य किया जाना चाहिये ताकि जोधपुर पर से उसका आतंक सदा के लिए समाप्त हो जाय। अकबर ने इस आग्रह पर जलाल खाँ को रायसिंह की सहायता के लिए भेजा। इस आक्रमण ने चन्द्रसेन को रामपुर से भी बाहर भगा दिया और वह कनौज के पहाड़ों में पलायन कर गया जहाँ अत्यधिक दयनीय दशा में दिन बिताने लगा। चन्द्रसेन का पहाड़ों में पीछा करते समय जलाल खाँ को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। किन्तु रायसिंह की प्रार्थना पर अकबर ने शाहबाज खान की अधीनता में और सेना भेजी जिसने अपने तीसरे और अन्तिम प्रयास में चन्द्रसेन के बकादार

राठौर सैनिकों से दुनाड़ का दुर्ग भी छीन लिया और अन्त में चन्द्रसेन की यह दशा हो गयी कि उसके पास मुट्ठी भर साथी मात्र रह गये और खानाबदोश जीवन व्यतीत कर चन्द्रसेन 11 जनवरी 1851 परलोक सिधार गया। रेऊ अपनी पुस्तक मारवाड़ का इतिहास के पहले भाग के पृष्ठ 158 पर लिखते हैं कि मृत्यु से पहले चन्द्रसेन ने मुगलों से जुलाई 1580 में सोजत वापस छीन लिया था। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि रायसिंह की शत्रुता ने उसका जीना दूभर कर दिया था।

5. रायसिंह और सिरोही – चन्द्रसेन के दमन के दो वर्ष बाद अकबर बादशाह ने रायसिंह को सिरोही के शासक सुरताण देवड़ा का दमन करने भेजा। सिरोही का यह शासक जालौर के ताजखाँ के साथ मिलकर मेवाड़ के राणा प्रताप की सहायता कर रहा था। देवड़ा प्रताप के साथ मिलकर उपद्रव मचा रहा था। रायसिंह ने नाडोल को अपना केन्द्र बना कर पहले जालौर पर आक्रमण किया। शाही सेना के सामने आते ही ताजखाँ ने अधीनता स्वीकार कर ली और बादशाह की सेना में मिल गया। अब रायसिंह ने सिरोही से मेवाड़ जाने वाले मार्गों को रोका और सिरोही का सम्बन्ध अन्य राज्यों से टूट गया। अपने को अकेला पाकर सुरताण देवड़ा भी शाही दरबार में उपस्थित हो गया। किन्तु बादशाह की स्वीकृति के बिना ही असन्तुष्ट वापस लौट आया और उपद्रव मचाने लगा। बादशाह ने एक बार फिर रायसिंह को सिरोही का दमन करने भेजा। रायसिंह ने सिरोही को इस प्रकार से घेरा कि विवश होकर सुरताण देवड़ा को 1577 में फिर दरबार में उपस्थित होना पड़ा। सुरताण पुनः दरबार में आ गया लेकिन समस्या उलझी ही रही क्योंकि सुरताण के भाई बीजा देवड़ा ने उपद्रव शुरू कर दिये। बीजा देवड़ा सिरोही राज्य का काम काज देखा करता था। विवश होकर रायसिंह ने बीजा देवड़ा को सिरोही से बाहर निकाला और सिरोही का आधा राज्य मुगल साम्राज्य में मिला लिया। अकबर बादशाह ने इस आधे राज्य का प्रबन्ध मेवाड़ के विद्रोही राजकुमार जगमल को दे दिया। सुरताण देवड़ा को यह अच्छा नहीं लगा कि जिस मेवाड़ की रक्षा के लिये उसका आधा राज्य छीना गया वह मेवाड़ के ही गद्दार को दे दिया गया। रायसिंह तो इस व्यवस्था के बाद वापस लौट आया लेकिन सुरताण देवड़ा ने 1583 ई० में जगमाल पर आक्रमण कर अपना राज्य पुनः ले लिया। नेणसी अपनी ख्यात की पहली जिल्द के पृष्ठ 131 से 133 तक इस घटना का वर्णन करते हैं। उनके अनुसार सुरताण देवड़ा ने 1583 ई० में दत्ताणी के युद्ध में टक्कर ली। इस लड़ाई में जगमाल आदि मारे गये और सुरताण ने पूरे सिरोही राज्य पर वापस अधिकार कर लिया।

6. अन्य अभियान—गुजरात, मिर्जाबन्धु, मारवाड़ और सिरोही के विद्रोहियों को दबाने में सफल रहने के कारण रायसिंह का सम्मान दि

प्रतिदिन बढ़ता गया। यहाँ तक कि पश्चिमी सीमा पर होने वाले निरन्तर विद्रोहों का दमन करने के लिये भी अकबर को रायसिंह से अधिक योग्य मनसबदार नहीं मिला। काबुल, बलोचिस्तान, कन्धार और नासिक आदि विद्रोहों का दमन रायसिंह की सहायता से बड़ी सरलता से हो गया। यही भी छोटे मोटे सरदारों का विद्रोह होता अकबर इस वीर सेनापति भेजकर निश्चित हो जाता। गुजरात, मिर्जाबन्धु, जोधपुर और सिरोही छोड़कर लगभग आधी दर्जन विद्रोहों का सफलतापूर्वक दमन कर राय ने अपनी योग्यता का जो प्रमाण दिया वह अकबर के किसी और मनसबदार ने नहीं दिया डॉ० गोपीनाथजी का कहना है कि "जब तक अकबर जी रहा रायसिंह की गणना एक अच्छे विजेता के रूप में की जाती थी। उस सेवाओं से सन्तुष्ट होकर सम्राट ने उसके पद की वृद्धि की थी और जा भी दी थी। 1593 में उसे जूनागढ़ का प्रदेश और 1604 ई में शमशा तथा नूरपुर जागीर में मिले थे।"

यहाँ उसके अन्य अभियानों की शृंखला मात्र देना उपयुक्त होग जिन अभियानों में उसने सफलतापूर्वक भाग लिया वे निम्न हैं —

1. काबुल का विद्रोह—कुंवर मानसिंह काबुल का विद्रोह दबाने असफल चेष्टा कर रहे थे। अकबर ने रायसिंह को उसकी सहायता के लि 1581 ई में भेजा। रायसिंह ने विद्रोहियों का दमन कर दिखाया।

2. बलोचिस्तान का विद्रोह—1585 में इस देश के कुछ सरदारों विद्रोह खड़ा कर दिया। अकबर ने रायसिंह और इस्माइल कुलीखाँ को विद्रोहियों का दमन करने भेजा। रायसिंह ने बड़े धैर्य और वीरता से स विद्रोहियों को पकड़ कर अकबर के सामने पेश किया।

3. कन्धार विजय—नवम्बर 1591 ई० में अकबर ने रायसिंह खानखाना के साथ कन्धार विजय के लिये भेजा। खानखाना इस समय पश्चि प्रदेश का सूबेदार था। उसने विद्रोहियों का दमन कर कन्धार विजय के लि अकबर से सहायता मांगी थी। अकबर ने रायसिंह को भेजा और वहाँ रायसिंह पूर्णतया सफल रहा।

4 दक्षिण के अभियान—इसी प्रकार दक्षिण भारत के विद्रोहों दमन भी रायसिंह ने किया। अहमदनगर विजय के बाद वह अधिकतर दक्षि ही रहा। दक्षिण में उसने 1593 ई० में बुरहानुलमुल्क का दमन कर शा स्थापित की और 1601 में नासिक का विद्रोह दबाया। बादशाह अकबर प्रसन्न होकर उसे जूनागढ़ और शमशाबाद आदि की जागीरें दक्षिण में दे दी कन्धार जाने से पहले वह 4000 मनसबदार था और 1605 में उसक मनसब पाँच हजारी हो गया। 22 जनवरी 1612 को उसका देहान्त हु

...पुर में हुआ जिससे स्पष्ट है कि जहाँगीर के शासन काल में भी उसे दक्षिण ...अभियानों में भेजा गया।

7. जहाँगीर और रायसिंह—मुसलमान सत्ता शक्ति पर आधारित ...और शाहजादे अपने पिता के समय में ही राज्य पाने को उतावले होकर ...द्रोह कर बैठते थे। जहाँगीर भी कोई अपवाद न था। उसने भी राज्य ...ने के लिये विद्रोह खड़ा किया और इलाहाबाद में अपना आधिपत्य स्थापित ...या। ऐसी स्थिति में अकबर भी उससे अप्रसन्न हो गया और मानसिंह ...दि सरदार भी जहाँगीर के विरोधी हो गये थे। एक बार तो ...ी सम्भावना हो गयी थी कि खान आजम और मानसिंह मिलकर ...हाँगीर की जगह खुसरो को बादशाह बनाने की चेष्टा करेंगे। अकबर जब ...त्यु शय्या पर पड़ा था तो इस प्रकार की चर्चा चारों ओर थी। शाही दरबार ...दो गुट बन गये थे और यह सम्भावना थी कि जहाँगीर का विरोध होगा। ...गीर ने अपने समर्थक रायसिंह को फौरन बीकानेर से बुला लिया ...से स्पष्ट है कि रायसिंह पूर्ण रूप से जहाँगीर का समर्थक था। वैसे तो ...बर बादशाह के समय में ही जयपुर के बाद राजपूत राजाओं में रायसिंह ...े नम्बर पर आता था किन्तु जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही उसका नम्बर ...ला हो गया। रायसिंह का स्थान अब मुगल दरबार के प्रभावशाली सामन्तों ...था। जहाँगीर ने गद्दी पर बैठते ही अपने पहले जुलूस के समय उसका ...ब पाँच हजार कर दिया। मानसिंह जो खुसरो का मामा और अकबर ...सबसे प्रिय सरदार था अब रायसिंह से पीछे रह गया। जहाँगीर रायसिंह ...पूरा भरोसा करता था। रायसिंह ने जहाँगीर के समय के कुछ विद्रोहों ...का दमन किया, जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। ऐसा भी लगता ...क बीकानेर में हुए कुछ षड्यन्त्रों के कारण जहाँगीर कुछ समय के लिये ...सिंह से नाराज हो गया था किन्तु रायसिंह अपने जीवन काल में पूर्ण रूप ...हाँगीर के प्रति वफादार रहा। वह अपनी मृत्यु के समय दक्षिण का सूबे...था जो अत्यधिक महत्व का स्थान माना जाता था।

8. रायसिंह का व्यक्तित्व—रायसिंह अपनी योग्यता और चरित्र के ...र मुगल साम्राज्य का स्तम्भ माना जाता था। इस छोटे से जांगल देश ...जा ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव और योग्यता से भारत के बादशाहों को ...भूत कर लिया था। अपने 38 वर्ष के शासन काल में यह अधिकतर ...मों में ही रहा। फिर भी बीकानेर में उसका दबदबा इतना था कि सिर्फ ...सकरण विद्रोह के और कभी उसके विरुद्ध किसी ने सर नहीं उठाया। ...ह वीर और स्वामीभक्त तो था ही साथ ही साहित्यकार और कला ...ी था तथा जहाँ उसमें कुशल शासक के गुण विद्यमान थे वहाँ वह प्रजा

पालन, दानी और धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक भी था। सामान्यतः ये सभी गुण एक राजा में नहीं होते। उसके इन्हीं व्यक्तिगत गुणों ने उसे मुगल दरबार में सम्मान और स्थान दिला दिया था। उसी के शासन काल में बीकानेर राज घराने का मुगल बादशाहों से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ। उसके कार्यों से प्रभावित होकर अकबर और जहाँगीर दोनों ने समय समय पर उसका मनसब और जागीर बढ़ाये जो उसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। अब हम उसके चरित्र की उन विशेषताओं को देखें जिन्होंने रायसिंह को बीकानेर का पहला विख्यात महाराजा बना दिया।

1. स्वामी भक्त वीर—अपनी कुँवर अवस्था से ही रायसिंह मुगल सेवा में था अतः स्वतन्त्र रूप से युद्ध का मैदान जीतने का अवसर तो उसे नहीं मिला किन्तु जितने भी अभियानों में उसने भाग लिया, पूर्णतया सफल रहा। साथ ही वह अपने मित्र मुगल शासकों के प्रति पूर्णतया वफादार बना रहा। उसने जोधपुर के चन्द्रसेन को जिस प्रकार पराजित कर दर दर की ठोकरें खाने वाला बना दिया और सिरोही के देवड़ा, सोजत के कल्ला, और मारवाड़ के चन्द्रसेन के विरुद्ध सफल अभियानों द्वारा अपने शौर्य की धाक जमा दी। इसी सफलता से प्रेरित होकर अकबर ने उसे विद्रोह दमनी सेनापति का रूप दे दिया और गुजरात, काबुल, कन्धार, बलोचिस्तान व दक्षिण भारत के विद्रोहों का दमन करने भेजा। जहाँ रायसिंह ने अपने सफल सेनापति होने का परिचय दिया। मानसिंह भी एक बार शाहजादा सलीम का विरोधी हो गया था किन्तु रायसिंह सदा बादशाह का विश्वास पात्र बना रहा। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर अकबर ने उसे 4000 का मनसब और जागीरें प्रदान की थी जिनमें जूनागढ़, नागौर, शमसाबाद आदि उल्लेखनीय हैं। जब कभी मुगल साम्राज्य के विरुद्ध कोई गड़बड़ होती, बादशाह रायसिंह की मदद से विद्रोहियों का मरकुचल देते थे। डॉ॰ गोपीनाथ शर्मा भी अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 406 पर उसकी वीरता और स्वामी भक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"अपने वीरोचित एवं स्वामी भक्ति के गुणों के कारण वह अकबर और जहाँगीर का विश्वास पात्र बना रहा।"

2 कुशल शासक—वैसे तो मुगल दरबार में रहने और दूर दूर प्रान्त के विद्रोहों का दमन करने में ही रायसिंह आजीवन व्यस्त रहा किन्तु उसने बीकानेर में कभी अराजकता नहीं फैलने दी। समय के अभाव से वह अपने राज्य की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे सका फिर भी वह अपने लोकहित कार्यों के लिये बहुत प्रसिद्ध था। जब 1578 में भीषण और व्यापक अकाल पड़ा तो रायसिंह ने अपने सारे राज्य में तेरह महीने तक मुफ्त अनाज बँटवाया। इसी प्रकार महामारी के प्रकोप पर वह प्रजा को मुफ्त दवा बँटवाता था। रायसिंह उपद्रवी सरदारों पर कड़ी नजर रखता था। उसके 38 ।

है। उसने अपनी ज्योतिष की टीका का नाम 'बालबोधिनी' रखा था। उसके 'रायसिंह महोत्सव' ग्रन्थ में संस्कृत में उसके वंश का वर्णन मिलता है। एक अज्ञात कवि ने तो रायसिंह से प्रभावित होकर उसी पर एक पुस्तक लिख दी जिसमें रायसिंह पर 43 गीत है। इस पुस्तक का नाम 'राजा रायसिंह री वेल' है। इन गीतों में रायसिंह की वीरता और गुजरात विजय का वर्णन भी मिलता है। रायसिंह ने किले के अन्दर एक बृहत् प्रशस्ति लिखवाई जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। वह साहित्यकारों का संरक्षक भी था। राजस्थान में पहला वैद्यक ग्रन्थ उसी के समय में लिखा गया। जैन साधुओं ने भी उसी के समय में अपने ग्रन्थों का अनुवाद शुरू किया। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'शब्द भेद' की टीका ज्ञान विमल ने इसी समय की थी। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उसके समय में ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास और धर्म पर पुस्तकों का महत्वपूर्ण अनुवाद हुआ।

5. उदार व दानी रायसिंह– रायसिंह साहित्यकारों का संरक्षक तो था ही साथ ही दानी भी था। कवियों से प्रसन्न होकर वह उन्हें करोड़ सवा करोड़ पसाव भी दे देता था। ख्यात लिखने वालों ने भी उसकी दान शीलता की भारी प्रशंसा की है। मुंशी देवी प्रसाद ने तो उसे राजपूतों 'कर्ण' कहा है। रायसिंह त्योहार और विवाहों के समय ब्राह्मणों को खुले हाथ से दान देता था। धार्मिक उदारता के साथ उसमें सहिष्णुता भी थी। सिरोही विजय के समय जब उसका मुसलमान साथी तुरसमखाँ जैन मूर्तियों को नष्ट करने लगा तो अकबर की इजाजत से रायसिंह उन्हें बीकानेर ले गया और उन्हें संभाल कर रख लिया। ये मूर्तियाँ बीकानेर के जैन मन्दिर में आज भी सुरक्षित है। स्पष्ट है कि वह क्षत्री होते हुए जैन धर्म का संरक्षक भी था। वास्तव में जांगल देश को 47 परगनों का सम्भावित व शक्तिशाली बीकानेर राज्य बनाने वाला रायसिंह ही था। उसे आधुनिक बीकानेर का संस्थापक कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अध्याय 16

मिर्जा राजा जयसिंह

1621–1667

मिर्जा राजा जयसिंह

जयसिंह का जन्म 29 मई, 1611 ई० को हुआ था। 1614 में मानसिंह की मृत्यु के बाद उनके अयोग्य उत्तराधिकारी भावसिंह और उसके पुत्र ने केवल पाँच वर्ष तक राज्य किया। यह एक अयोग्य शासक था जिसके मरने के बाद आमेर की गद्दी के लिये उत्तराधिकार युद्ध की सम्भावना नजर आ रही थी। भावसिंह सदा मदिरा के नशे में रहता था, उसमें बुद्धि भी अधिक नहीं थी। मदिरा ने उसे जल्दी ही मार डाला। भावसिंह का बेटा महासिंह गद्दी पर बैठा यह भी अयोग्य शासक था। इन पाँच वर्षों में जोधपुर राज्य अपना प्रभाव बढ़ा रहा था और यह भय था कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर युद्ध होगा अतः जब जयसिंह दो वर्ष का ही था तो उसकी माता दमयन्ती जो उदयसिंह की पोती थी, अपने उत्तराधिकारी पुत्र जयसिंह की सुरक्षा के लिये आमेर छोड़ कर दौसा में रहने लगी। वैसे भावसिंह का भी एक पुत्र था किन्तु वह भावसिंह के जीवन काल में ही मर गया था और जब 1621 में भावसिंह का देहान्त हुआ तो जयसिंह के सिवा और कोई उत्तराधिकारी नहीं था। भावसिंह की मृत्यु के बाद जयसिंह दौसा से आकर आमेर की गद्दी पर बैठा। मानसिंह और जयसिंह के बीच पाँच वर्ष में दो अयोग्य उत्तराधिकारियों ने आमेर के राज्य को दुर्बल बना दिया था। जयसिंह के जीवन की महत्वपूर्ण परिस्थितियों का अवलोकन हम निम्नांकित बातों से कर सकते हैं।

1. प्रारम्भिक जीवन—जयसिंह के पिता महासिंह, राजा मानसिंह का पोता और जगतसिंह का बेटा था। इस प्रकार मानसिंह और जयसिंह के बीच में दो पीढ़ी जल्दी जल्दी निकल गयी थी। मानसिंह—जगतसिंह—महासिंह और जयसिंह। जैसा ऊपर बताया जा चुका है। जयसिंह 1611 ई० में जन्मा था। वह सिर्फ दस वर्ष की अवस्था में आमेर का राजा बना। उसने 46 वर्ष तक राज्य किया और 2 जुलाई, 1667 ई० को दक्षिण अभियान से लौटते समय 56 वर्ष की अवस्था में बुरहानपुर के पास उसका देहान्त हो गया।

रानी दमयन्ती ने अपने पुत्र जयसिंह की शिक्षा दीक्षा आदि में उसी प्रकार रुचि ली जिस प्रकार उसके समकालीन छत्रपति शिवाजी की माता जीजा बाई ने अकेले रह कर शिवाजी को योग्य बनाया था। बचपन से ही जयसिंह

को अनेक भाषाओं का ज्ञान करवाया गया। अरबी, फारसी, हिन्दी, उर्दू और सम्कृत का ज्ञान उसे बचपन में ही करा दिया गया। अपनी माँ के व्यक्तिगत संरक्षण से ही जयसिंह आगे चलकर एक सफल शासक बन सका। राजकुमार जयसिंह को प्रारम्भ से युद्ध, घुड़ सवारी, शासन व्यवस्था और कूटनीति आदि में पूर्ण निपुण बना दिया गया था। यही कारण है कि जब वह दस वर्ष की छोटी सी अवस्था में गद्दी पर बैठा तो उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। उसको अपने जीवन काल में तीन विख्यात मुगल बादशाहों की, सेवा और सहायता करने का अवसर मिला। जयसिंह ने अपनी योग्यता, साहस और कूटनीति का परिचय देकर मुगल दरबार में अपना ही सम्मान व स्थान प्राप्त कर लिया जो राजा मानसिंह को अकबर के समय प्राप्त था। उसके समय में जयपुर राज्य का सम्मान वापस उच्च राज्यों के समान हो गया और यह 46 वर्ष का समय जयपुर की प्रगति व प्रतिष्ठा का युग बन गया।

2 जहाँगीर और जयसिंह—मिर्जा राजा जयसिंह को जहाँगीर बादशाह की सेवा करने का भी अवसर मिला। उस समय मुगल दरबार दो दलों में बँटा हुआ था किन्तु जयसिंह ने जहाँगीर की सेवा निःस्वार्थ भाव से शुरू की। गद्दी पर बैठते ही बादशाह ने उसे 1500 सवार और तीन हजारी जात प्रदान कर अपनी स्वीकृति प्रदान की। जहाँगीर के शासन काल के सात वर्षों के समय में जयसिंह ने दो अभियानों में सफलता प्राप्त कर अपनी योग्यता का परिचय दिया। अभी जयसिंह सिर्फ 12 वर्ष का ही था कि उसे 1623 ई० में अहमदनगर विजय का भार सौंपा गया। दक्षिण भारत का यह प्रदेश मलिक अम्बर नामक व्यक्ति के अधीन स्वतन्त्र था। मलिक अम्बर काफी समय से अपनी स्वाधीनता बनाये हुए था और मुगल बादशाह जहाँगीर इच्छा होते हुए भी अहमदनगर नहीं जीत पाया था। राजा जयसिंह की योग्यता की परीक्षा स्वरूप जहाँगीर ने उसे इस विजय के लिये भेजा। जयसिंह इतनी छोटी अवस्था में मलिक अम्बर को पराजित कर अपने साहस और योग्यता का परिचय देकर अहमदनगर पर अधिकार कर लिया। जहाँगीर जयसिंह की इस सफलता से प्रभावित हुआ और दो वर्ष बाद ही 1625 ई० में उसने जयसिंह को दूसरी महत्वपूर्ण विजय के लिये पठान दलेल खाँ के विरुद्ध भेजा। जयसिंह ने बिना किसी कठिनाई के दलेल खाँ को भी पराजित कर सिर्फ 14 वर्ष की उमर में दूसरी विजय प्राप्त कर अपनी ख्याति का डंका सारे देश में फैला दिया फलस्वरूप जहाँगीर ने राजा जयसिंह को अपने भरे दरबार में सम्मानित किया और सन् 1627 ई० में जयसिंह को 4000 की जात और तीन हजार का मनसब प्रदान किया। साथ ही उसे डंका व झंडा भी दिया गया। इस प्रकार जयसिंह ने सिर्फ 16 वर्ष की अवस्था में तीन हजार मनसब और चार हजारी

दान प्राप्त कर ली। जहाँगीर नामा के पृष्ठ 449 से 469 तक जयसिंह की इन प्रारम्भिक सफलताओं का वर्णन बड़े आदर से किया गया है। अपने पहले ही प्रयास में जयसिंह ने अपनी प्रतिष्ठा की पताका फहरा कर बादशाह का विश्वास प्राप्त कर लिया। जयसिंह की इन दो सफलताओं से जोधपुर की बढ़ती प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा और आमेर का सम्मान बढ़ने लगा। जहाँगीर ने हर विजय के बाद जयसिंह को सम्मान और मनसब आदि दिया।

3. **जयसिंह और शाहजहाँ**—नूरजहाँ और शाहजहाँ में मनमुटाव होने के कारण मुगल दरबार की एकता समाप्त हो गयी थी किन्तु जयसिंह ने शाहजहाँ के प्रति पूर्ण वफादारी प्रदर्शित की और मुगल कालीन वैभव के लोकप्रिय बादशाह शाहजहाँ का सदा विश्वास पात्र बना रहा। शाहजहाँ के समय में सबसे पहले गद्दी पर बैठते ही शाहजहाँ ने जयसिंह को आगरा के पास महावन के जाटों का विद्रोह दबाने के लिये भेजा। इस विद्रोह के दमन में जयसिंह को 41 दिन लगे किन्तु विद्रोहियों का निरन्तर पीछा कर जयसिंह ने इसका पूर्ण दमन कर दिया। बादशाह ने प्रसन्न होकर जयसिंह की मनसब तीन से चार हजार कर दी।

दक्षिण में दो वर्ष तक रह कर जयसिंह विद्रोही मलिक अम्बर के बचे हुए सैनिकों का दमन किया। उस समय उसके साथ मुगल सेनापति खानेजहाँ था। खाने जहाँ शाहजहाँ का समर्थक नहीं था सन 1628 में जयसिंह खाने जहाँ को अकेला छोड़ कर बादशाह के पास अजमेर आ गया। बाद में अपनी स्वामी भक्ति का परिचय देने के लिये बादशाह के कहने पर उसने खाने जहाँ लोदी को रीवा के पास नीमी स्थान पर घमासान युद्ध में एक ही दिन में पराजित कर मैदान छोड़ने पर बाध्य किया। इस विद्रोही सेनापति को दक्षिण के निजाम का समर्थन प्राप्त था। इससे पहले जयसिंह ने धौलपुर में भी खाने जहाँ को पराजित किया था। यह जयसिंह की दूसरी सफलता थी और शाहजहाँ इससे बहुत प्रभावित हुआ। उसने जयसिंह को अपना पूर्ण समर्थक विश्वास पात्र बना लिया। खाने जहाँ लोदी के विरुद्ध अभियान में मैकड़ों राजपूत सैनिक मारे गये और पूर्ण दमन 1631 में जाकर हो पाया किन्तु इस अभियान से मुगल दरबार में जयसिंह का मान बहुत बढ़ गया। शाहजहाँ ने इस विजय पर फिर जयसिंह की पद वृद्धि की।

शाहजहाँ के समय जयसिंह की तीसरी सफलता उजबगों के विद्रोह से सम्बद्ध थी। बादशाह को जब अजमेर में समाचार मिला कि उत्तर पश्चिमी सीमा पर उजबग लोग उपद्रव मचा रहे हैं तो उसने जयसिंह को 1629 ई० में पूर्ण सेनापति के अधिकार देकर सीमा क्षेत्रों में उजबगों का दमन करने

भेजा । जाटों और लोदियों की भांति यहाँ भी जयसिंह को विद्रोहियों के दमन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई । अनेक विद्रोही उजबग मारे गये और जो शेष रहे भी भाग गये । एक ही आक्रमण में जयसिंह ने उजबगों का सफाया कर अपने सैन्य सचालन का परिचय दिया । इसके बाद वह फिर थाने जहाँ के पीछे लग गया और 1631 ई० तक उसका पूर्ण दमन कर दिखाया ।

शाहजहाँ के काल में चौथी महत्वपूर्ण घटना औरंगजेब की प्राण रक्षा थी । घटना बड़ी रोमाचकारी और प्रभावशाली थी । 28 मई, 1633 ई० को बादशाह और उसका परिवार आगरे में हाथियों की लड़ाई देख रहा था कि एक हाथी बिगड़ कर शहजादे औरंगजेब की तरफ झपटा । और लोग अभी किंकर्तव्यविमूढ़ से ही थे व हाथी औरंगजेब को अपने पैरों तले कुचलने ही वाला था कि जयसिंह ने दौड़कर हाथी पर भाले का वार किया जिससे घायल होकर हाथी वापस लौट गया । इस घटना से शाहजहाँ और अधिक प्रभावित हुआ तथा उसने जयसिंह का पद और बढ़ा दिया ।

पांचवा महत्वपूर्ण अभियान परेण्डा का घेरा था । आदिलशाह का पुत्र इस्माइल और बीजापुर का किलेदार विद्रोही हो रहे थे । शाहजहाँ ने दक्षिण भारत के इन विद्रोहियों का दमन करने के लिये शाहजादा शुजा के साथ जयसिंह को भेजा । जयसिंह ने शत्रु को परेण्डा के किले में घेर लिया और तोपों के आक्रमण में शत्रु को हताहत कर भारी क्षति पहुँचाई । किन्तु अति दुर्गम पहाड़ों में मुगलों का भारी तोपखाना काम नहीं कर सकता था और रसद आदि पहुँचने में भी भारी असुविधा रहती थी । इस लिये स्थिति को समझकर जयसिंह ने शत्रु को खुले मैदान में घेरने के लिये किले का घेरा उठाकर शत्रु को बाहर आकर युद्ध करने का अवसर दिया । परेण्डा के घेरे में जयसिंह ने अपने युद्ध कौशल का परिचय देकर सारे मुगल दरबार को प्रभावित किया था।

शाहजी भोंसले बीजापुर शाहजहाँ के योग्य सेनापति थे । बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतें स्वतन्त्र थी और मुगलों को सदा तंग करती थी। शाहजी भोंसले ने दौलताबाद के थाने को घेर लिया और मुगलों को तंग करना शुरू किया । परेण्डा से हट कर जयसिंह ने शाहजी का सामना किया । मराठे सैनिक छुप-छिपकर मुगल सेना पर आक्रमण करते थे । जयसिंह ने भी इसी विधि को अपनाया [illegible] ों की रसद रोक ली । अन्त में शाहजी की पराजय हुई और पड़ी [illegible] मराठा सैनिक और 800 बैल गाड़ियों को हाथी [illegible] [illegible] जयसिंह की इस विजय से बहुत प्रसन्न हुआ और विजय के [illegible]6 में जयसिंह को पांच हजारी मनसबदार बना दिया । [illegible] [illegible] दमन जयसिंह का छठा सफल अभियान था ।

इसके बाद शाहजहाँ ने जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार बनाकर बीजापुर और गोलकुंडा विजय के लिये भेजा । दक्षिण मे मराठे, बीजापुर व गोलकुंडा और मलिक अम्बर आदि विद्रोहियो की संख्या बढती जा रही थी । ये विद्रोही मुगल सेना के लिये सिर दर्द बन गये थे । इन विद्रोहियो का केन्द्र बीजापुर व गोलकुंडा की रियासतें थी । बादशाह ने अपनी मुगल सेना के अग्रभाग का सेनापति व दक्षिण का सूबेदार बनाकर जयसिंह को भेजा जो दौलताबाद में रहकर सारे विद्रोहियों को दबाने भेजा गया था । जयसिंह बडी तेजी से सारे विद्रोहियों का दमन कर दक्षिण मे अमन कायम कर दिखाया । उसने अपनी नीति निपुणता और युद्ध कौशल से मुगलो को विजयी बनाया । बादशाह इस सफलता से भी बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जयसिंह को अनेक बहुमूल्य उपहार दिये और चाटसू व अजमेर के राज्य जयसिंह के राज्य के हिस्से बना दिये गये। यह जयसिंह की सातवीं सफलता थी ।

जयसिंह का आठवा सफल कार्य कन्धार अभियान था । मध्य ऐशिया पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये सभी मुगल बादशाह सदा प्रयत्नशील रहते थे । इसी उद्देश्य से तथा अफगान विद्रोहियों का दमन करने के लिये 1647 में काबुल कन्धार विजय के लिये भेजा । जयसिंह दस वर्ष तक भारत की पश्चिमी सीमा के बाहर रहा । अफगान शत्रु दल मुगलों के रसद मार्ग काट देते थे और कुसमय घेर कर मुगलों को क्षति पहुँचाते थे । यदा कदा मुगल थानो को नष्ट करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया था । जयसिंह ने बडी लगन और योग्यता से कांगडा, कन्धार, काबुल, पेशावर और हिरात आदि स्थानों के युद्धों में विजय प्राप्त कर अपने अभियान को सफल बनाया । सारे शत्रु उसके आतंक और वीरता से भयभीत थे । पहले तीन वर्षों मे ही 1650 तक जयसिंह ने पूर्ण नियन्त्रण व सामान्य स्थिति स्थापित कर बादशाह को प्रभावित किया । शाहजहाँ ने जयसिंह के पुत्र कीरतसिंह को पदोन्नति की और उसे मेवात का फौजदार बना दिया । अगले सात वर्ष तक वह मुगल सेना के अग्रभाग का सेनापति बन कर काबुल मे रहा । बादशाह ने उसे काबुल का सूबेदार बनाया और उसे छै हजारी मनसब व जात प्रदान की । यह मनसब किसी भी हिन्दू राजा के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण और सम्मान का चिह्न था ।

बादशाह शाहजहाँ के प्रति अपनी वफादारी दिखाकर जयसिंह ने 1657 ई० मे गृहयुद्ध के समय शाहजादा शुजा को बनारस के पास बहादुरपुर

मे घेर कर लूट लिया । शुजा तो भाग गया पर जयसिंह को लगभग दो क रुपये की सम्पत्ति हाथ लगी । यह शाहजहाँ के प्रति उसका अन्तिम महा कदम था । शाहजहाँ बीमार पड़ गया तो उसके चार पुत्रों में उत्तराधि युद्ध शुरू हो गया । यहाँ भी जयसिंह ने अपनी योग्यता और नीति निपु का परिचय दिया तथा बिना युद्ध किये 25 जून 1658 को मथुरा में जा औरंगजेब से भेंट की तथा अपने सहयोग तथा स्वामीभक्ति का आश्वा दिया । जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह ने इस अवसर पर दारा की सहाय कर अदूरदर्शिता का परिचय दिया और औरंगजेब से शत्रुता बढ़ा ली । जयसिंह ने शुजा को मार भगाया उसी ने औरंगजेब को मान्यता देकर अप योग्यता और अनुभव का लाभ उठाया । यह भी उसकी महान सफलता कि वह चारों भाइयों मे सबसे योग्य व सफल शाहजादे का समर्थन कर रहा । इस प्रकार शाहजहाँ के अधीन रह कर जयसिंह ने 36 वर्ष के सम मे दस बडे काम सफलतापूर्वक कर जयपुर राज्य का विस्तार ही नहीं कि वरन मुगल दरबार मे अपना श्रेष्ठ स्थान सुरक्षित कर लिया ।

4 **जयसिंह और औरंगजेब** —शाहजहाँ की बीमारी का समाचार सुन कर औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेना उत्तर की ओर आ रही थी तो दारा की तरफ से राजा जसवन्तसिंह ने धर्मत का युद्ध लड कर मारी भूल की । व हार कर जोधपुर चले गये और दारा व औरंगजेब के बीच सामूगढ़ का यु 30 मई 1658 ई को हुआ जिसमे हार कर दारा सहायता के लिये जोधपु भाग गया । राजा जसवन्त उसकी फिर सहायता करते लेकिन जयसिंह ने अपने पत्र द्वारा उन्हे स्थिति का बोध करवाया और भाइयों के झगड़े में न पड़ने की राय दी । फलस्वरूप दारा अकेला रह गया । अन्त मे 14 मार्च 1659 ई. को दोराई के मैदान मे अजमेर के पास चार दिन के युद्ध मे औरंगजेब की जिस सेना ने दारा को पूर्ण रूप से पराजित किया उसके अग्र भाग का सेनापति जयसिंह था । जब दारा युद्ध के मैदान से भागा तो जयसिंह ने उसका पीछा किया और उसे मेड़ता, पीपाड़, होता गुजरात मे भगा दिया । कुछ लेखको की राय है कि दारा को उसने सिन्ध नदी के पार खदेड़ दिया और कुछ की राय है कि उसने दारा का पीछा बिलकुल नहीं किया । लेकिन यह सत्य नहीं है जयसिंह के पुत्र रामसिंह ने दारा के पुत्र सुलेमान को भी नगर मे पकड लिया था । औरंगजेब ने रामसिंह के इस कार्य से प्रसन्न होकर उसे ढाई लाख रुपये की वार्षिक आमदनी की जागीर दी और कीर्तिसिंह को भी कामा की फौजदारी भेंट की । दारा का पीछा करने समय जयसिंह को परिस्थि

शक्ति समझने का बड़ा अच्छा अवसर मिला । वह मेड़ता, जालौर, अहमदाबाद कच्छ आदि भागों में होता सिन्ध नदी तक जा पहुँचा ।

थोड़े समय बाद दारा भी पकड़ा गया और उसे काफिर ठहरा कर औरंगजेब ने प्राण दंड दिया । इन सेवाओं के बदले बादशाह ने एक करोड़ दाम या ढाई करोड़ रुपये वार्षिक आमदनी की जागीर देकर सम्मानित किया । उत्तराधिकार युद्ध मे औरंगजेब का साथ देकर जयसिंह ने मुगल दरबार मे इतना महत्व बहुत बढ़ा लिया वह बादशाह का कृपा पात्र बन गया । यह कदम भी जयसिंह की योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है अन्यथा वह भी जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह की भाँति अपना महत्व कम कर सकता था ।

3. जयसिंह दक्षिण में:—औरंगजेब जयसिंह की योग्यता और नीति निपुणता से बहुत प्रभावित था । उसने उसे काबुल व दक्षिण मे मुगल आधिपत्य स्थापित करते देखा था । शुजा की पराजय मे जयसिंह का हाथ था । दारा को देवराई के मैदान में हराकर भी उसी ने भगाया था । राजा जसवन्त सिंह को भी औरंगजेब के पक्ष मे उसी ने किया था । इस प्रकार जयसिंह औरंगजेब का सबसे अधिक विश्वासपात्र सेनापति बन गया था । उसने बादशाह रहते ही यह अनुभव किया कि दक्षिण भारत मुगलो के हाथ से निकला जा रहा है शिवाजी के नेतृत्व मे मराठो का उदय और मराठो द्वारा आये दिन मुगल थानों मे लूटमार करना एक सर दर्द बन गया था । सूरत को लूट कर तो शिवाजी ने शाइस्ता खाँ आदि को अपमानित कर मुगल परिवार को अपमानित कर दिया था । पूना मे शाइस्ताखाँ के महल पर आक्रमण आदि ऐसी घटनाएँ थी जिनसे दक्षिण मे मराठों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था औ र यह भय बना रहता था कि दक्षिण भारत की अन्य मुसलमान रियासतें भी शिवाजी की अधीनता स्वीकार कर मुगल राज्य से अलग हो जायें और नर्मदा नदी के दक्षिण से मुगल प्रभाव समाप्त हो जायगा । ऐसी स्थिति में एक तरफ मुगल परिवार आतरिक स्थिति से स्वय असतुष्ट था और दक्षिण की स्थिति भी डावाडोल थी तब औरंगजेब ने जयसिंह को दक्षिण में शान्ति स्थापित करने के लिये भेजा । जयसिंह को 30 सितम्बर 1664 को दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा गया । जयसिंह को 14,000 घुड़सवारों का सेनापति नियुक्त कर भेजा । जयसिंह अपने दो पुत्र और सैकड़ों कछवाहा सरदारों के साथ दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित करने चला । उसे पूर्ण अधिकार सौंप दिये गये थे । पूना पहुँच कर जयसिंह ने 3 मार्च 1665 ई. को जसवन्तसिंह से कार्यभार ग्रहण किया ।

जयसिंह ने सबसे पहले दक्षिण की मुख्य शक्ति शिवाजी को व करने की योजना बनाई । इसलिये उसने शिवाजी के सभी शत्रुओं से मि पूर्ण सन्धि कर उन्हें अपनी तरफ मिला लिया । शिवाजी का समुद्री बेड़ा करने के लिये जयसिंह ने पुर्तगालियों से समझौता किया और सहा मांगी । उसने बम्बई के पास अंग्रेजों के यहाँ भी अपना दूत भेजा और उ भी मराठों के विरुद्ध सहायता मांगी । कोंकण के दस्युक्त शासकों को अप तरफ मिला लिया । बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों को भी तटस्थ रहने लिये बाध्य किया । यहाँ तक की छोटे मोटे राजा, व जमींदारों को भी अप तरफ, मिलाकर मित्र विहीन बना दिया । जयसिंह ने यह भी चेष्टा की शिवाजी के सेनापति व साथी भी किसी प्रलोभन से आकर उनकी तरफ मि जायें । इतिहासकार सर देसाई अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि—"एक अ से शिवाजी को चारों ओर से घेरने के लिये यह जयसिंह की 'तूफानी लड़ाई थी ।"[1]

एक तरफ वह सैनिक तैयारियाँ कर रहा था, शिवाजी के शत्रुओं को भड़का रहा था और दूसरी तरफ शिवाजी को हतोत्साहित करने हेतु मित्रता आदि के प्रस्ताव भेजता रहता था । जयसिंह ने शिवाजी को समझाने की भी चेष्टा की और बादशाह औरंगजेब से मित्रता करने में ही हित बताया। अपनी स्थिति बता कर यह प्रलोभन दिया कि बादशाह उन्हें मान्यता देकर दक्षिण का सूबेदार बना देगा और मुगल दरबार में हिन्दुओं का प्रभाव ब से ही हिन्दू धर्म व संस्कृति की रक्षा हो सकेगी ।

किन्तु जब शिवाजी किसी प्रकार के प्रलोभन में नहीं आये और जय सिंह युद्ध की तैयारी कर चुका तो उसने शिवाजी पर तीन तरफ से आक्रम करने का निश्चय किया ।

6. जयसिंह और शिवाजी—एक तरफ शिवाजी को सन्धि का भुलावा देकर जयसिंह उनके विरुद्ध संगठित गुट बना रहा था और दूसरी तरफ स्वयं युद्ध की तैयारियों में लगा था । जयसिंह ने तीन तरफ से शिवाजी पर आक्रमण करने का निश्चय किया । पुरन्धर से 300 फुट नीचे माची नामक किला मराठों के शस्त्रागार और सैनिकों का केन्द्र था तो रायलगढ़ शिवाजी का मुख्य खजाना था । जयसिंह ने दिलेर खाँ को रायलगढ़ पर अनायास आक्रमण करने

[1] सरदेसाई—न्यू हिस्ट्री ऑफ दी मराठा पृष्ठ—154-55.

का आदेश दिया और स्वयं पूना से पुरन्दर की ओर चला। उसने ससवाड में डेरा डाला जो पुरन्दर से 24 मील दूर था। पुरन्दर के पास ही पहाड़ी पर वज्रगढ़ का किला था जिसे जीत लेने पर पुरन्दर विजय सरल हो जाती। इसलिये जयसिंह ने 13 अप्रैल को अचानक वज्रगढ़ पर आक्रमण किया और मराठों को एक ही दिन बाद किला खाली करना पड़ा। शिवाजी की रसद बन्द करने के लिये जयसिंह ने दाऊद खाँ को 6000 सैनिक देकर आस पास के खेत और गावों को लूटने भेजा ताकि शिवाजी की आर्थिक दशा खराब हो जाये और उनके राज्य में अराजकता फैल जाय। आखिर कार जयसिंह मराठों को घेरने में सफल हुआ और शिवाजी पुरन्दर में घेर लिये गये। मराठे बराबर रात्री में बाहर आकर मुगल सेना पर छापे मार कर क्षति पहुँचाते रहे किन्तु रसद बराबर आने से शिवाजी विशाल सेना को हताहत नहीं कर सके। दूसरी तरफ शिवाजी को रसद मिलनी बन्द हो गयी और दाऊद खाँ की विनाशकारी लूटमार के समाचार शिवाजी को और भी चिन्तित करने लगे। पुरन्दर का महत्वपूर्ण किला पूना से 24 मील दूर 2500 फुट की ऊँचाई पर स्थित है और माची का दुर्ग इससे सिर्फ 300 फुट नीचाई पर बना है। विशाल मुगल सेना सारे महाराष्ट्र पर तीन तरफ से चढ़ गयी। पश्चिम से कुतुबुद्दीन खाँ के नेतृत्व में 7000 सैनिकों ने आक्रमण किया। स्वयं पूना से आगे बढ़ा और उसी समय दिलेरखां ने माची का मोर्चा जीत कर मुरारबाजी को परास्त किया। मुगल सेना संख्या व साधन में मराठों से बहुत अधिक थी। मुरारबाजी प्रभू लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। मराठे लगभग दो महिने तक लड़ते रहे किन्तु मुगलों ने शिवाजी को पुरन्दर में घेर लिया। शिवाजी ने युद्ध करना व्यर्थ समझा। आस पास का विनाश उनसे नहीं देखा जाता था अतः उन्होंने अपने दूत भेज कर जयसिंह को सन्धि का प्रस्ताव भेजा। शिवाजी का दूत 20 मई 1665 ई को जयसिंह से मिला तो जयसिंह ने साफ कहलवा दिया कि यदि शिवाजी स्वयं आकर आत्म समर्पण करें तो वह उन्हें अब भी मुगल दरबार में अच्छा पद व सम्मान दिला देगा। जयसिंह ने यह भी आश्वासन दिया कि शिवाजी बिना किसी भय के अकेले आकर मिल लें, उन्हें सही सलामत वापस भेज दिया जायगा। मराठों में आतंक स्थापित करने को जयसिंह ने वीर मुरारबाजी प्रभु का कटा हुआ सर शिवाजी के पास भिजवा दिया किन्तु मराठे विचलित नहीं हुए और यह कहते रहे कि—"एक मुरार बाजी मर गये तो क्या हुआ? हम लोग भी उनके समान वीर हैं और उसी साहस से लड़ते रहेंगे।"[1] किन्तु शिवाजी व्यर्थ जानें

[1]एस आर. शर्मा-भारत में मुगल साम्राज्य-पृष्ठ—521.

गवाना उचित नहीं समझते थे । उधर जयसिंह अधिकांश किलों पर अ
अधिकार जमाना चाहता था ताकि सन्धि में उसका पूरा महत्व रहे । शिवा
को उसने अपने ब्राह्मणों द्वारा प्राण और सम्मान रक्षा का वचन दिया ।

आखिर कार ग्यारह जून 1665 ई. को पालकी में बैठ कर शिवा
किले से बाहर निकले और जयसिंह से मिलने आये । जब वे मार्ग में था
थे तो जयसिंह ने फिर कहलवाया कि यदि अपने पूरे किले हमें सौंपने
तैयार हो तब ही आवें अन्यथा लौट जावें । शिवाजी अपने वीर सैनिकों
व्यर्थ नहीं मरवाना चाहते थे अतः हर शर्त पर सन्धि करने को बिना शि
शर्त जयसिंह के खेमे में आ गये ।

7. पुरन्दर की सन्धि—मनूची का वर्णन जयसिंह की रिपोर्ट
उसने औरंगजेब को भेजी थी तथा उस समय की फारसी कविताओं में जो वर्ण
मिलता है इन तीन साधनों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स
की शर्तें 11 जून 1665 को रात को तैयार की गयी । शिवाजी ने अप
भूलों के लिये खेद प्रगट किया और भविष्य में मुगल साम्राज्य के प्रति व
व्यवहार का आश्वासन दिया । जो दुर्ग शिवाजी ने मुगलों से जीते थे उ
लौटाने के सिवा कुछ और महत्वपूर्ण किले भी देने का वादा किया । इस
बाद जयसिंह ने शिवाजी को इस सन्धि के बारे में दिलेर खाँ से बात करने
भेज दिया ताकि बादशाह को जयसिंह पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो
दिलेर खाँ ने भी शिवाजी को पूर्ण विश्वास दिलाया और सम्मान के लिये उनक
कमर में एक तलवार बाँधकर उन्हें वापस जयसिंह के पास भेज दिया । इसी
औपचारिकता के साथ जो सफल सन्धि जयसिंह ने की उसको इतिहास में पुर
न्दर की सन्धि के नाम से जाना जाता है । इस सन्धि की मुख्य धाराएं इस
प्रकार हैं—

1. शिवाजी ने अपने 35 किलों में से 23 किले और उनके अन्तर्गत
का आसपास कोंकण तथा निजामशाही की 20 लाख रुपये सालाना आमदनी
की भूमि मुगलों को देना स्वीकार किया ।

2. महाराष्ट्र के अन्य छोटे 12 किले और आसपास की भूमि जिसकी
सालाना आमदनी पाँच लाख रुपया थी शिवाजी के अधीन रहे ।

3. शिवाजी के पुत्र शम्भाजी को पाँच हजारी मनसबदार बनाया जा
और शम्भाजी मय सुरक्षादार के रहेंगे ।

4. एक गुप्त शर्त यह भी रखी गयी कि मुगल सेना बीजापुर पर शीघ्र आक्रमण करेगी तब शिवाजी भी बालाघाट और बीजापुर पट्टम घाट पर अधिकार कर लें। मुगल दरबार उस जीते हुए प्रदेश पर शिवाजी का अधिकार मान लेगी।

5 शिवाजी ने मुगल दरबार के प्रति वफादार रहने का आश्वासन दिया।

6 शिवाजी ने 13 वर्षों मे वार्षिक किश्तो के द्वारा 40 लाख दरबार को देने का वादा किया।

7. आवश्यकता पड़ने पर शिवाजी ने निमत्रण पाने पर मुगल से ... का भी वादा किया।

स्मरण रहे कि शिवाजी ने जो प्रदेश छोड़ा वह उपजाऊ नही था बदले में प्राप्त कौकण बालाघाट और बीजापुर पट्टम घाट आदि से उन्हे होने वाली आमदनी 9लाख हूण वार्षिक थी। अगले दिन ही शिवाजी ने पु... खाली कर दिया और 18 जून तक शम्भाजी भी जयसिंह के पास आ पहुँ... शिवाजी चार दिन तक जयसिंह के साथ रहे। इस बीच यूरोपीय यात्री म... से भी उनकी बातचीत हुई। जयसिंह ने हिन्दू एकता को महत्व दिया। ... मत विरोधी थे। जयसिंह मुगल सेवा मे रहकर धर्म की रक्षा करना च... था और शिवाजी स्वतन्त्र रहकर अपना लक्ष एक होते हुए भी विचारों की भि... मेल न हो सका। जयसिंह बादशाह और धर्म दोनों के प्रति पूर्ण वफ... । जिसके फलस्वरूप यह सन्धि हुई।

औरंगजेब ने इन शर्तों को बड़ी खुशी से स्वीकार कर लिया और ... शिवाजी के साथ एक फरमान और खिलअत भेजी। औरंगजेब ने शिव... राजा की उपाधि दी और एक मणिजड़ित तलवार व छुरा भेंट ... जिसे शिवाजी ने विधिवत ग्रहण किया। सन्धि की पुष्टि का समा... जयसिंह को 30 सितम्बर 1665 ई० को प्राप्त हुए।

8. पुरन्दर का महत्व—डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि "इ... ... सन्देह नहीं कि पुरन्दर की सन्धि जयसिंह की राजनीतिक दूरदर्शिता ... सफल परिणाम था।"[1] इतिहासकार सरकार का कहना है कि इसने शिवाजी और बीजापुर के मध्य मे सदा के लिये विरोध का बीज

1. डॉ० गोपीनाथ राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ—380.

दिया।"[1] जयसिंह ने शिवाजी को भी नुकसान नहीं होने दिया और उसके दो करोड़ रुपयों से मुगल खजाने की आमदनी बढ़ा दी। उसने बालाघाट आदि का प्रलोभन देकर बीजापुर अभियान में शिवाजी को अपने पक्ष में कर लिया। इस योजना से शिवाजी को भी काफी लाभ हुआ और उन्होंने अपना खोया हुआ राज्य व आमदनी वापस पा ली। कुछ इतिहासकार यह भी मानते हैं कि जयसिंह ने मुगलों के हित को ध्यान में रखकर शिवाजी को अपने चंगुल में फांस लिया। शिवाजी राजा जयसिंह के कहने से आकर आगरा चले गये जहां उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आगरे जाकर शिवाजी को सन्धि से हानियों का आभास हुआ तभी उन्होंने आगे कभी अपने जीवन में इस प्रकार की सन्धि नहीं की। यह सन्धि जहां जयसिंह की पूर्ण सफलता का स्मारक है वहां शिवाजी की आंखें खोलने वाला भी है। आगरे से लौटने के बाद शिवाजी का दृष्टिकोण ही बदल गया। सन्धि की शर्तें अधिक समय तक न रह सकी और इसका पालन भी असम्भव सा हो गया। मराठों ने 13 वर्ष में 40 लाख हूँण में से एक पाई भी नहीं दी। शम्भाजी भी अधिक समय तक मुगल दरबार में नहीं रहा। मुगल सरकार महाराष्ट्र के किलों पर भी अधिक दिनों तक अपना अधिकार नहीं रख सकी। शिवाजी ने जो वफादारी का वचन दिया था वह आगरा यात्रा के साथ समाप्त हो गया।

जयसिंह ने सन्धि के समय शिवाजी का आगरा जाने का आग्रह किया था और उन्हें जीवन व सम्मान रक्षा का पूर्ण वचन दिया था किन्तु शिवाजी को आगरे में पाकर औरंगजेब इस प्रकार खुश हुआ जैसे शिकारी शेर को पिंजरे में पाकर होता है। जयसिंह बादशाह के स्वार्थी स्वभाव से पूर्णतया परिचित था इसीलिये उसने शिवाजी की रक्षा का भार अपने पुत्र रामसिंह पर छोड़ा था। इस प्रकार यह सन्धि महाराष्ट्र और आगरा दोनों में लोकप्रिय हो सकी, इस सन्धि का सबसे बड़ा लाभ शिवाजी को हुआ। उन्हें निर्भीक होकर बीजापुर पर आक्रमण कर राज्य विस्तार का मौका मिल गया। आगरे जाकर मुगल दरबार की आन्तरिक दशा का अवलोकन करने का भी अवसर मिला। लौटते समय उन्हें भारत भ्रमण और तीर्थयात्रा का भी मौका मिला जिससे वे सारे उत्तर भारत की धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का अवलोकन कर सके। यदि शिवाजी आगरा नहीं जाते तो कदाचित अपना राज्याभिषेक भी नहीं करवाते। इस प्रकार सधि ने शिवाजी की महत्वकांक्षाओं को जगाया उनके देश भक्त हृदय में हिन्दुत्व की भावना दौड़ा

1 डॉ० सरकार—औरंगजेब—भाग 4—पृष्ठ—97.

ती और अव्यवस्थित राज्य को एक समठित मराठा राज्य में परिणत कर दिया अत अप्रत्यक्ष रूप से सन्धि के परिणाम व्यापक और स्थाई थे ।

9. जयसिंह और बीजापुर—जयसिंह को औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजते समय दो बड़ी समस्याओं का समाधान करने का आदेश दिया था ।. एक शिवाजी और दूसरा बीजापुर । जयसिंह ने शिवाजी को तो कभी चतुराई से बिना विशेष युद्ध या विनाश के अपनी तरफ मिला लिया और अब बीजापुर की बारी थी । जयसिंह की यह धारणा थी कि बीजापुर जीते बिना दक्षिण पर प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सकता और न ही सुदूर दक्षिण के प्रदेश कर्नाटक व केरल आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है । इस धारणा से जयसिंह ने अपने पत्रों में औरंगजेब को साफ साफ लिख दिया था कि वह बीजापुर को भी अधीन करेगा । शिवाजी के विरुद्ध युद्ध में बीजापुर के सुल्तान ने खवास खाँ की अधीनता मे सेना भेजी थी किन्तु जयसिंह ने आरोप लगाया कि न तो यह सेना विश्वास योग्य ही थी और न मन लगाकर लड़ी ही थी । इसके विपरीत बीजापुर के सुल्तान ने गोलकुंडा के सुल्तान को शिवाजी की सहायता के लिये भी उकसाया था । यदुनाथ सरकार का कहना है कि "जयसिंह की दृष्टि मे दक्षिण मे स्थित मुगल फौज को निष्क्रिय रखने के बदले उसे बीजापुर के विरुद्ध लगाये रखना उचित था ।"[1]

जिस प्रकार शिवाजी पर आक्रमण करने से पूर्व जयसिंह ने एक गुट बना लिया था उसी प्रकार फिर बीजापुर के विरुद्ध एक गुट बनाया । उसने सन्धि के अनुसार शिवाजी को 2000 घुड़सवार और 7000 पैदल लेकर आक्रमण करने के लिये तैयार किया । बीजापुर के अनेक दरबारियों को प्रलोभन देकर अपनी तरफ मिला लिया । आदिलशाह और मुल्ला अहमद रिसवन ... मुगलों से मिल गये । जजीरा के सिद्दियों को भी बीजापुर के विरुद्ध भड़काया । मराठों का श्रेष्ठ सेनापति नेताजी पालकर इस आक्रमण मे जयसिंह के साथ था जिसे दक्षिण भारत मे द्वितीय शिवाजी कहते थे । लेकिन बीजापुर विजय का स्वप्न पूरा नहीं हो सका । आदिलशाह ने अपनी सेना को इकट्ठा कर लिया और 30,000 सैनिक कर्नाटक के भी अपनी सेना मे भर्ती कर लिये । बीजापुर के आसपास के इलाकों को नष्ट व खाली कर दिया ताकि मुगल सेना को रसद व भोजन आदि न मिल सके । 18 दिसम्बर से 5 जनवरी तक

1 यदुनाथ सरकार—"औरंगजेब"—पृष्ठ, 397.

छोटी मोटी लड़ाई चलती रही। बीजापुर की सेना बारूद के गुब्बारों से मुगल सेना में आग लगा कर उन्हें अस्त व्यस्त कर देती थी और फिर बिखरी हुई छोटी छोटी टुकड़ियों पर आक्रमण कर उन्हें वापस खदेड़ देती थी। कोई नति- जाम न निकलता देख कर जयसिंह को वापस लौटना पड़ा इस अभि अनेक सेना नायक स्वयं मारे गये। राज्य प्राप्ति की दृष्टि से यह अ पूर्णतया असफल रहा। सरकार का कहना है कि—'न एक इन्च भूमि न किसी किले का एक पत्थर हाथ आया और न युद्ध क्षति के रूप में पैसा मिला। शाही कोष का 30 लाख रुपया खर्च करने के अतिरिक्त ज ने अपने पास से एक करोड़ रुपया खर्च कर दिया।'[?] इतना अवश्य है शिवाजी ने अपने सौंपे हुए स्थानों का घाटा पूरा कर लिया। जयसि जीवन का यह एक मात्र अभियान ऐसा था जिससे कोई लाभ नहीं हुआ।

10 जयसिंह का व्यक्तित्व—जयसिंह एक कुशल सेनापति था। उ अपने दादा मानसिंह की योग्यता और बड़े दादा भगवन्तदास की राजनी योग्यता का समावेश था। उसने भारत और भारत के बाहर तक मुगल र की धाक जमा दी थी। अपने 46 वर्ष के शासन काल में वह निरन्तर मे लगा रहा जिसमे सिर्फ बीजापुर क्षेत्र से निराश लौटना पड़ा। इससे है कि वह एक योग्य सेनापति था।

(1) उसकी कूटनीति का परिचय औरंगजेब का समर्थन, शिवाजी के वि गुटबन्दी और बीजापुर पर संयुक्त आक्रमणों की योजनाओं को देखने मिलता है। वह शत्रुओं से भी काम निकाल लेता था और जो काम से और शक्ति नहीं कर सकती थी वह अपनी कूटनीति से पूरा कर लेता था जैसे शिवाजी को आगरे भेजना। मुगल बादशाह उसे हमेशा कठिन से कठि काम सौंपते थे।

(2) जयसिंह एक अच्छा शासक भी था यद्यपि उसका अधिकांश सम सीमा या दक्षिण भारत में बीता लेकिन फिर भी उसने अपने राज्य में मुगल शैली पर आधारित शासन व्यवस्था लागूकर दी और अजमेर आदि की रिया सतें इनाम में पाकर अपना राज्य विस्तार भी किया। सबसे बड़ी बा उसकी सफलता की यह है कि अधिकतर बाहर रहने के बावजूद भी उसके राज्य में पूर्ण शान्ति और सुरक्षा बनी रहती थी।

(3) जयसिंह कला प्रेमी भी था। उसके समय में साहित्य व कला का पूरा

...स्म हुआ। आमेर महल उसकी स्थापत्य कला के प्रति रुचि व्यक्त करने ...व की शान में खड़े हैं। उसके समय के महल व किलो पर मुगल कला ...ा सीधा प्रभाव है। वह स्वयं कई भाषाएँ जानता था और विद्वानो का आदर ...रता था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'बिहारी' उसी के दरबारी कवि थे। ...हारी के भानजे कुलपति मिश्र ने 52 ग्रन्थो की रचना की थी। इसी के ...मय में रामकवि ने 'जयसिंह चरित्र' की रचना की जो अत्याधिक महत्व- ...र्ण है। स्पष्ट है कि योद्धा व सफल शासक जयसिंह साहित्य और कला का ...प्रेमी था।

जयसिंह ने अपने समय के महान हिन्दू राजा शिवाजी पर विजय ...र इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया तथा साथ ही शिवाजी ... विनाश से बचाकर हिन्दू धर्म के प्रति अपनी अटूट आस्था का प्रदर्शन ...या।

वहाँ हम उसकी सफलताओ को देख रहे हैं वहाँ उसकी असफलताओ ...भी एक नजर डाल लेना अति आवश्यक है। उसे मुगल दरबार ...श्रेष्ठ मनसब व मान प्राप्त थी वहाँ बीजापुर की एक मात्र पराजय पर ...गजेब ने उसकी प्राप्तियों को धूल में मिलाकर उसे अपमानित कर वापस ... लिया। जयसिंह ने इस बीजापुर युद्ध मे एक करोड़ रुपया अपने पास ...र्च कर लिया था जो उसे नही करना चाहिये था। औरगजेब ने बड़े तिर- ...र व अपमान के साथ यह रकम जयसिंह को वापस लौटाई थी। शिवाजी ...आगरे भेजकर जयसिंह ने दूसरी गलती की। वह बरसो से औरगजेब के ...था और उसके क्रूर व स्वार्थी स्वभाव क ... था। अपने पुत्र रामसिंह ...शिवाजी की रक्षा का भार सौंपकर ... मुगल बादशाह ...पना शत्रु बना लिया और ... विरुद्ध षडयंत्र शुरू ... दिये जिसके फलस्वरूप आगे ... उसके छोटे लड़के ...सिंह ने अफीम ... आगे कहते हैं कि ... पिता, भाइयों और ... कैसे हो

कि—"जयसिंह की मृत्यु एलिजाबेथ के दरबार के सदस्य बॉसिंघम की भांति हुई जिसने अपना बलिदान ऐसे स्वामी के लिये किया जो काम लेने में कठोर और काम के मूल्यांकन में कृतघ्न था।"[1]

इस स्वामीभक्त योग्य राजा को औरंगजेब ने षड्यन्त्र द्वारा उसी छोटे लड़के कीर्तिसिंह के हाथों जहर देकर मरवा दिया। दक्षिण से वापस लौटते समय बुरहानपुर के पास 2 जुलाई 1667 ई० को जयसिंह अपने पुत्र के हाथ से अफीम के साथ विष मिला प्याला पीकर ऐसा सोया कि फिर कभी नहीं उठा।

अध्याय 17

महाराजा जसवन्तसिंह

महाराजा जसवन्तसिंह

प्रारम्भिक जीवन—महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म 26 दिसम्बर, 1626 ई० में बुरहानपुर में हुआ था। ये मारवाड के राजा गजसिंह के पुत्र थे। इनकी माता मेवाड़ की राजकुमारी थीं। जसवन्तसिंह जब ग्यारह वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। पिता के स्वर्गवास के समय जसवन्तसिंह बूँदी में अपना विवाह करने गये थे। वीर पिता का वीर बेटा जसवन्तसिंह पिता के देहान्त के समय बूँदी में था। गजसिंह का देहान्त आगरे में हुआ था अतः जसवन्तसिंह बिना समय गँवाये फौरन आगरा गया। वहाँ पहुँचते ही बादशाह शाहजहाँ ने 25 मई 1638 को स्वयं उसे शाहीतौर पर टीका दिया और खिलअत दी। साथ में हीरों जड़ी कटार, एक घोड़ा, एक हाथी, एक झण्डा, राजा का खिताब और 4000 सवारों की जात प्रदान की। शाहजहाँ ने राजा जसवन्तसिंह को टीके के साथ मारवाड के पाँच परगनों का राज्य भी दिया। ये परगने जोधपुर, सोजत, मेड़ता, सिवाना और फलोदी के थे। साथ ही गजसिंह के समय के वफादार दीवान ठाकुर राजसिंह कूँपावत को उनका दीवान बना दिया।

जसवन्तसिंह इस समय बालक थे और जोधपुर में उत्तराधिकार के झगड़े होते रहते थे इसलिए शाहजहाँ ने बिना समय गँवाये जसवन्तसिंह को जोधपुर का राजा घोषित कर इस विवाद को अगले 40 साल के लिये समाप्त कर दिया। अपना टीका पाने के 24 दिन बाद जसवन्तसिंह ने भी बादशाह को दो हाथी भेंट किये। उसके बाद बालक राजा शाहजहाँ के साथ पेशावर गया। रास्ते में लाहौर के पास शाहजहाँ ने राजा जसवन्तसिंह की मनसब 5000 कर दी और उसे मारवाड का छोटा परगना जैतारण भी दे दिया। एक ही वर्ष में बादशाह ने उसे चार बार शाही सम्मान और खिताब प्रदान किये। लाहौर, अमहद और दिल्ली में दो वर्ष बादशाह के पास रहने के बाद जसवन्त सिंह 21 फरवरी, 1610 को अपने राज्य जोधपुर में लौटे और 30 मार्च को बड़ी धूम-धाम से . . . हुआ। दो वर्ष

के छोटे से समय मे जसवन्तसिंह बादशाह शाहजहाँ का प्रिय सरदार बन गया था। अतः युवा होने से पहले ही उसे ईरान के शाह के विरुद्ध अभियान में भेजा गया। इस अभियान में वह शाहजादा दारा के साथ कंधार विजय करने गया था। जसवन्तसिंह को भी मुगल दरबार से स्नेह हो गया था। और उसने अपने सभी प्रिय व वीर राजपूत सरदारों को अपने पास बुला लिया था। किन्तु कंधार तक पहुँचने से पहले ही फारस के शाह शफी का देहान्त हो गया अतः मुगल सेना बिना लड़े वापस लौट आई। कंधार से लौटकर जसवन्तसिंह जोधपुर गया। अभी वह दो वर्ष भी घर न रह पाया था कि शाहजहाँ ने उसे आगरे का सूबेदार नियुक्त किया। इस समय जसवन्त सिंह सिर्फ उन्नीस वर्ष का था। आगरे का सूबेदार नियुक्त होना एक बड़े महत्व की बात थी इस नियुक्ति ने 1645 में जसवन्तसिंह का सम्मान बढ़ा दिया। उसकी गिनती श्रेष्ठ मुगल सरदारों मे होने लगी। टाड महोदय का कहना है कि—"राजस्थान के उस समय के राजाओं में जसवन्तसिंह को बहुत ख्याति मिली। वह एक सफल शासक था और उसके शासन मे सभी प्रकार राज्य ने उन्नति की थी वह विचारशील, गंभीर और रणकुशल राजपूत था।"*

2. प्रारम्भिक सफलताएँ—1641 में वफादार दीवान ठाकुर राजसिंह का देहान्त हो गया और शाहजहाँ ने महेशदास राठौड़ को जोधपुर का नया दीवान नियुक्त किया। किन्तु महेशदास न योग्य था और न वफादार। साथ ही महेशदास को शाही मनसब प्राप्त था और उसका मुगल राजधानी आगरा मे रहना आवश्यक था। इन कारणों से जसवन्तसिंह ने महेशदास को दीवान के पद से हटाकर गोपालदास को अपना दीवान बनाया। महेशदास राठौड़ इससे नाराज हो गया और उसने राजा के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। ओझा का कहना है कि "नैणसी की अधीनता में सेना भेजी गई जिसने देश और महेशदास के विद्रोह का तत्काल दमन कर दिया।"‡ वयस्क होते ही शीघ्र ही जसवन्तसिंह ने जोधपुर का राज-कार्य अपने हाथ में ले लिया और दीवान महेशदास के विद्रोह का दमन उसकी पहली सफलता थी।

शाहजहाँ की माँ जोधाबाई से जसवन्त सिंह का खून का सम्बन्ध था। बादशाह ने उसे 'सालाजात भाई' की पदवी देकर उसका सम्मान और बढ़ा दिया। राजा को सोने की पालकी और घोड़ा देकर फिर सम्मानित किया गया।

* टाड, राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ—382.

‡ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास—भाग एक—418.

जसवन्तसिंह के घोड़ों में से एक बार दो हजार और दूसरी बार 2,500 घोड़े अपनी निजी सेना के लिये लेकर जसवन्तसिंह का और अधिक सम्मान किया गया। बाद में उसे 5000 की मनसब 5000 की जात देकर अपने श्रेष्ठ दरबारियों में स्थान दिया। बादशाह की अनुपस्थिति में आगरे का सूबेदार रहना भी किसी राजपूत के लिये बड़े गौरव की प्राप्ति थी। औरंगजेब की अधीनता में सेना को एक बार फिर काबुल भेजा गया। बादशाह भी उसके साथ था किन्तु 1649 के कंधार अभियान में भी जसवन्तसिंह ने सक्रिय भाग नहीं लिया और बादशाह की गैरहाजरी में राजपूतों पर नियन्त्रण रखने के लिये उसे काबुल से वापस भारत भेज दिया गया। इस प्रकार 5000 की जात व मनसब प्राप्त करना, बादशाह को अपने विश्वास-पात्र सैनिकों की सेना देना, 'खालाजान' सेवा का खिताब पाना, और औरंगजेब के साथ काबुल तक जाना आदि, जसवन्तसिंह की सुलभ प्राप्तियाँ व दूसरी सफलता थी। मार्च 1650 को 26 तारीख को बादशाह शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह को विशेष दरबार में मोतियों का हार पहनाया। इन सब सम्मानों से स्पष्ट है कि जसवन्तसिंह मुगल बादशाह का प्रिय दरबारी था। शाहजहा ने ऐसा सम्मान और किसी हिन्दू राजा को नहीं दिया।

एक विद्रोही का दमन किया, शाही दरबार में ऊँचा स्थान प्राप्त किया। तीसरी सफलता अब जसवन्तसिंह की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रश्न जैसलमेर के उत्तराधिकार का था। जैसलमेर के राव मनोहर दास के देहान्त बाद रामचन्द्र ने राज्य हड़प लिया था। मुगल बादशाह ने वास्तविक हकदार सबलसिंह को जैसलमेर का राव बनाया और जसवन्तसिंह से उसे गद्दी दिलाने को कहा। सबलसिंह ने इस कार्य के बदले में फलोदी और पोकरण के परगने जसवन्तसिंह को देने का वादा किया। जसवन्तसिंह ने अपने विश्वासपात्र सरदार गोपाल दास, चम्पावत, विट्ठल दास और नाहरखाँ को सेना देकर जैसलमेर भेजा। सबलसिंह भी अपने 700 सवारों के साथ इनसे आ मिला। इस सेना ने 5 अक्टूबर 1650 को पोकरण जीता और जैसलमेर आ पहुँची। ख्यातों का कहना है कि—"रामचन्द्र भाग गया और जैसलमेर पर सबल का अधिकार हो गया।"* यह जसवन्त सिंह की तीसरी सफलता थी। विजय से जोधपुर का राज्य विस्तार हुआ और जोधपुर, सोजत, ..., सिवाना, फलोदी, और पोकरण के परगनों पर उसका राज्य स्थापित

इन प्रारम्भिक सफलताओ ने राजा जसवन्तसिंह का मान बहुत
दिया और जनवरी 1654 मे शाहजहाँ ने अपने विवाह की वर्षगाठ के उप
मे जसवन्तसिंह को 6000 सवार और जात की मनसब से सुशोभित किय
इस प्रकार राजा जसवन्तसिंह के शासन के पहले 20 वर्ष प्रगति, समृद्धि
सफलता के वर्ष थे। जोधपुर की जो क्षति अकबर के समय राव चन्द्रसेन
मोटा राजा उदयसिंह के अधीन हुई थी। राजा जसवन्तसिंह ने उस खोये
स्थान व राज्य को पुनः प्राप्त कर अपना व अपने देश का गौरव बढ़ाया।

3. धर्मत का युद्ध—शाहजहाँ सितम्बर 1657 मे बीमार पड़ गया
और शीघ्र ही उसके मरने की अफवा चारो तरफ फैल गई। शाहजहाँ ने अप
बडे लडके दारा को उत्तराधिकारी घोषित किया। दारा दिल्ली और पंजा
का शासक था। दारा के धार्मिक विचार बडे उदार थे। वह हिन्दुओ व रा
पूत सरदारो का प्रिय था। उसके तीन छोटे भाई शुजा, औरंगजेब और मुरा
क्रमश बगाल, दक्षिण और गुजरात के शासक थे। ये तीनो ही शाहजहाँ
जगह मुगल बादशाह बनना चाहते थे। पिता की बीमारी का समाचार पा
तीनों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। बगाल के शासक शुजा ने अ
महलो मे अपना राज्याभिषेक किया और दिल्ली की तरफ बढ़ा। दारा जि
दिल्ली आगरे का राज्य भार सभाल लिया था, अपने पुत्र सुलेमान शिकोह और
आमेर के राजा जयसिंह को शुजा का दमन करने भेजा। जयसिंह ने बनारस
के पास शुजा को पराजित कर भगा दिया। किन्तु दक्षिण की तरफ से होने
वाला आक्रमण भयानक था। दक्षिण का शासक औरंगजेब बड़ा चालाक और
कूटनीतिज्ञ था उसने गुजरात के शासक अपने छोटे भाई से समझौता कर लिया
कि पंजाब, कश्मीर, सिन्ध, अफगानिस्तान तो मुराद लेगा और शेष भारत पर
औरंगजेब का अधिकार रहेगा। उसने अपने गुप्तचर आगरे मे छोड रखे थे और
युद्ध की पूरी तैयारियाँ कर रहा था। वह चुपचाप अपनी सेना लेकर नर्मदा
तक आ गया। उसने दक्षिण मे शान्ति रखने को शिवाजी को भी भूमिदान
कर मित्र बना लिया था। पड़ोसी राज्य बीजापुर से सन्धि करली और दारा को
तग करने के लिये ईरान के शाह को अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के
उकसाया। अपने छोटे भाई मुराद को आगे रखकर वह उत्तराधिकार
युद्ध किया ताकि कोई उस पर सदेह न करे। मुराद ने अपने मंत्री अली
को कत्ल कर अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया।

शाहजहाँ के चारों लडके जब इस प्रकार दिल्ली के लिए
लड़ने मरने को तैयार हो गये तो राजपूतों को क्या करना था

मिर के राजा जयसिंह ने शाहजहाँ के उत्तराधिकारी दारा का साथ दिया
र शुजा को दबाने बनारस गया इसी समय मुराद और औरंगजेब ने दक्षिण
से आगरा की ओर कूच किया। राजा जसवन्तसिंह और कासिम खाँ को
रंगजेब व मुराद को दबाने के लिए भेजा। यह आदेश भी दिया गया था
यदि सम्भव हो सके तो दोनों राजकुमारों को समझा बुझाकर वापस उनके
न्तों में लौटा दिया जाय। डॉ० श्रीवास्तव का कहना है कि -"शाही सेना
का सेनापतित्व संयुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था, विद्रोही राजकुमारों
से कोई प्रभाव नहीं डाल सकी।"[1]

औरंगजेब और मुराद की सेना नर्मदा पार कर उज्जैन से 14 मील
पश्चिम में स्थित धरमट के मैदान में आ गई। जसवन्तसिंह ने सन्धि
समय हाथों से निकाल दिया। औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को जोधपुर लौट
ने के लिए लिखा किन्तु वह आगे ही बढ़ता गया। दारा ने सबसे बड़ी गलती
की थी कि औरंगजेब व मुराद का गठबन्धन हो जाने दिया। अक्टूबर
58 में शाहजहाँ पूर्णतया स्वस्थ हो गया था और नवम्बर में मुराद ने अपने
को बादशाह घोषित किया था। दूसरी भूल उसने दो सेनाएँ अलग-अलग
कर की। "मुराद का दमन करने कासिम खाँ को भेजा गया और औरंग-
के विरुद्ध राजा जसवन्त सिंह के नेतृत्व में सेना भेजी।"[2] जसवन्त सिंह
औरंगजेब की बात नहीं मानी। अब धरमट का युद्ध अनिवार्य हो गया।
सिम खाँ के कुछ अफसरों को छोड़कर बाकी सब मुसलमान औरंगजेब से
मिले। जसवन्त सिंह के अधीन मुसलमान सरदारों ने भी उसे धोखा दिया
र रात्रि में औरंगजेब से आ मिले। जसवन्तसिंह को शाहजहाँ ने मालवा का
दार बना कर भेजा था।

जसवन्त सिंह 6 फरवरी 1658 को उज्जैन पहुँचा। वह मुराद और
रंगजेब का सगठन नहीं रोक सका। औरंगजेब ने कवि राय को जसवन्त सिंह
समझाने भेजा कि वह सिर्फ अपने पिता से मिलने और उनका स्वास्थ्य
ने जा रहा है अतः बीच में शाही सैनिकों का रक्त व्यर्थ बहाकर देश व
न शक्ति का नुकसान न करे। किन्तु जसवन्त सिंह इस प्रकार के भुलावे
आने वाला नहीं था। रेऊ का कहना है कि जसवन्तसिंह ने उत्तर दिया
-"यदि राज कुमार आगे नहीं बढ़ेंगे और वापस लौट जायेंगे तो बादशाह
आदेशानुसार युद्ध नहीं होगा। अन्यथा मुझे इस उपेक्षा के लिए क्षमा किया
य।"[3] गुरुवार 15 अप्रेल 1658 को औरंगजेब ने गम्भीरी के पूर्वी

1. डॉ० ए. एल श्रीवास्तव—'मुगलकालीन भारत' पृष्ठ—350.
2. रेऊ—'मारवाड़ का इतिहास' भाग एक पृष्ठ—220.
3. रेऊ—'मारवाड़ का इतिहास' भाग एक पृष्ठ—222

किनारे पर धरमट नामक स्थान पर डेरा डाला और अगले दिन युद्ध लड़ने का निश्चय किया। जसवन्तसिंह के पास 266 शाही मनसबदार, 1,000 बन्दूकची और 23,244 घुड़सवार थे। कासिम खाँ 10,000 सेना लिए खड़ा था, मुकुन्द सिंह हाडा, रतन सिंह राठौर आदि भी जसवन्तसिंह के अधीन थे। औरंगजेब के पास लगभग 19,000 सैनिक थे और उसके तोपखाने में यूरोप के तोपची भी थे। युद्ध की तारीख अलग-अलग दी गई है। डॉ० श्रीवास्तव पृष्ठ 350 पर 25 अप्रैल को युद्ध बताते हैं और डॉ० भार्गव अपनी पुस्तक 'मारवाड एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 16 अप्रैल 1658 ई० बताते हैं। प्रातःकाल साढ़े आठ बजे घमासान युद्ध शुरू हुआ देवसिंह बुन्देला ने धोखा दिया और मुराद से जा मिला। कासिम खाँ भी तटस्थ तमाशा देखता रहा। फिर भी जसवन्तसिंह के राजपूतों ने डटकर मुकाबला किया। दोपहर तक घमासान लड़ाई हुई। राजपूत घिर गये, उनके पास खुलकर युद्ध करने का भी स्थान नहीं था। अतः वे अपनी शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं कर सके। घायल होने के बावजूद भी जसवन्तसिंह बहादुरी के लड़ता रहा तभी राठौड़ रायमल जोधा ने अन्य सरदारों के साथ मिल कर अपने राजा की रक्षा की और महेशदास व आसकरण आदि ने राजा को मैदान छोड़ने के लिए बाध्य किया। उन्होंने जसवन्तसिंह को चारों तरफ से घेर लिया और युद्ध के मैदान से बाहर ले गये। वह जोधपुर चला गया। उसके लौटने के बाद रतन सिंह राठौड़ ने सेनापति का पद ग्रहण किया और राजपूत अन्त तक लड़ते रहे। इस युद्ध में औरंगजेब की विजय हुई और राजपूतों के 40 सरदार और 2000 वीर मारे गये[1]

यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि—"वास्तव में यह तलवार और बारूद का युद्ध था जिसमें तोपखाने ने घुड़सवारों को रौंद डाला।"[2] वास्तव में यह युद्ध तलवार और बारूद का युद्ध था जिसमें घोड़ों पर तोपों की विजय हुई।

एस आर शर्मा का कहना है कि—"मुगल खानदान को यह दुःखद कहावत सी बन गई थी कि राजा के लिए कोई आत्मीय नहीं है। इस प्रकार युद्ध में जो भाई शामिल हुए वे उनका भी यही नारा था कि तख्त या तख्ता ताज या कफन।"[3]

डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक राजस्थान का इतिहास के पृष्ठ 439 पर कहते हैं कि—"इस युद्ध में सहस्रों की संख्या में राजपूत काम आये और

1 जोधपुर की ख्यात—भाग 1, पृष्ठ—207, 223.
2 सरकार— औरंगजेब'—दूसरा भाग पृष्ठ—355
3 एस आर. शर्मा— भारत में मुस्लिम साम्राज्य' पृष्ठ—425.

समर्थ शहजादे के हाथ आई। इस विजय की स्मृति में धर्मत का नाम हाबाद (फतियाबाद) रखा गया।"

डॉ० श्रीवास्तव का कहना है कि—"कासिम खाँ को केवल एक उच्च सर की क्षति उठानी पड़ी और दूसरे दिन उसके कई अफसर औरंगजेब से मिले। जसवन्तसिंह के जोधपुर लौटने पर एक अद्भुत घटना घटी। वीर रानी ने उन्हें दुर्ग में प्रवेश नहीं करने दिया क्योंकि वे शत्रु को पीठ कर युद्ध स्थल से भाग आये थे।"[1]

डॉ० रघुबीर सिंह लिखते हैं कि—"कोटा का राव मुकुन्द हाड़ा और के तीन भाई, शाहपुरा का सुजान सिंह सीसोदिया, गौड़ अर्जुन, भाला दयाम आदि प्रारम्भिक आक्रमणों में काम आये। जसवन्तसिंह के जाने के बाद, बाकी बची शाही राजपूत सेना का नेतृत्व रतलाम के राव राठौड़ ने किया और कुछ समय बाद वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वह वहीं रहा।"[2]

टाड महोदय का कहना है कि—"मारवाड़ के थोड़े ही समय बाद वन्तसिंह के साथ आगरे से जो मुगल सेना आई थी और कासिम खाँ का सेनापति था, वह जसवन्तसिंह की सेना से निकल कर औरंगजेब की के साथ मिल गई।"[3] थोड़े से राजपूत मात्र रह जाने से जसवन्त सिंह र निश्चित हो गई थी।

4. जसवन्तसिंह जोधपुर में—मैदान से भाग कर राजा सोजत पहुँचा कुछ दिन रह कर जोधपुर पहुँचा। घर पहुँच कर राजा को अपनी पराजय का बड़ा दुख हुआ। यहाँ एक रोचक घटना सुनने में आती है। मुसलमान बर्नियर, मनूची, तथा खफी खाँ का कहना है कि जब महाराजा जोधपुर तो उनकी 'उदयपुरी रानी' ने किले का दरवाजा बन्द करवा लिया कहला भेजा कि—"राजपूत युद्ध में या तो विजयी लौटते हैं या वहीं म हैं। महाराजा पराजय के बाद लौट नहीं सकते यह कोई और व्यक्ति

इतना कह कर वह सती होने लगी तो उसकी माँ ने उसे समझ र जसवन्त सिंह से पराजय का बदला लेने का वचन दिलाया तब रानी आ सके। इस कथा से वीर राजपूत स्त्रियों के चरित्र का पता चलता

1. डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव—'मुगलकालीन भारत' पृष्ठ—350
2. डॉ० रघुबीर सिंह—'पूर्व आधुनिक राजस्थान' पृष्ठ—114
3. टाड—'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ—384.
4. डॉ० गोपीनाथ—'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ—439.

है विश्वेश्वरनाथ रेऊ 'मारवाड़ के इतिहास' भाग एक के पृष्ठ 224-25 पर इस कि[illegible] का खण्डन करता है। उनका कहना है कि रानी के कहने से बाहर [illegible] भाग महाराजा का अपमान नहीं कर सकता था और न ही उदयपुर की महारानियाँ अपनी बेटी को समझाने जोधपुर आ सकती थीं।

कविराज श्यामलदास का कहना है कि जिस रानी ने द्वार बन्द कि(ये) थे वह उदयपुर की नहीं बूँदी की राजकुमारी थी। राव शत्रुशाल हाड़ा की रानी सीसोदनी थी जिसकी पुत्री कर्मदेवी का विवाह जसवन्त सिंह के साथ हुआ था। सिसोदी रानी की पुत्री होने के नाते उसे सिसोदी कह उदयपुर की मान लेना एक भ्रम है। कथा में सत्यता कम नजर आती है। डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि—"राजपूत वीरांगनाएँ अपने पति के सा(थ) किसी भी स्थिति में इस प्रकार अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकती और जीवित राजा को मरा हुआ कहकर सती होने के लिए तैयार होना, कप[illegible] दोष पड़ता है।"* वास्तव में घायल पति को घर में न आने देना, प(ति) के जीते जी सती होने की चेष्टा करना, रानी की माँ का घर में रहना या बूँदी से इतना जल्दी आ जाना, ये सारी बातें एक सुखद कल्पना मात्र है जो ऐतिहासिक रोमांच पैदा कर देती हैं। जो भी हो स्वयं जसवन्तसिंह को अपनी हार का बड़ा दुख था।

5. हार के कारण—यदि हम जसवन्तसिंह की हार के कारणों पर ध्यान दें तो मोटी मोटी ये बातें सामने आती हैं—

(1) तोपखाने की परवाह न करते हुए आगे बढ़ने की चेष्टा जिससे उसके श्रेष्ठ सैनिक बेकार मारे गये और वह चारो तरफ से घिर गया। यह जसवन्त सिंह की भूल थी कि उसने शत्रु के तोपखाने और बन्दूकचियों की परवाह न करते हुए सामने से आक्रमण किया।

(2) टाड महोदय का कहना है कि—"यद्यपि औरंगजेब ने फ्रांसिसी गोलन्दाजों, तोपों और बहुत से हाथियों के साथ एक विशाल सेना लेकर राजपूतों से युद्ध किया था, फिर भी जसवन्त सिंह ने उनको पराजित कर दिया होता, यदि जसवन्त सिंह ने औरंगजेब की सेना के आने पर प्रमादशाली से काम न लिया होता। जसवन्त सिंह अपनी अदूरदर्शिता के कारण विजय से वंचित हुआ।"**

(3) जसवन्त सिंह ने मैदान छोड़कर अपनी पराजय सुनिश्चित कर

---

* डॉ० गोपीनाथ शर्मा—'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ—440

** टाड—'राजस्थान का इतिहास' पृष्ठ—385.

दी। उसे सेना का अन्त तक सचालन करना चाहिये था। यदुनाथ सरकार का कहना है कि—"जसवन्त सिंह के मैदान से हटते ही मुकाबला फीका पड़ गया। इधर राजपूत जोधपुर की तरफ भागे और उधर औरंगजेब आगरे की तरफ बढ़ा।"*

(4) मैदान का चयन उचित नहीं था। राजपूत सेना के चारो तरफ खन्दकें और दलदल था जिसने सेना की प्रगति और आगे बढ़ने मे बाधा डाली।

(5) औरंगजेब दृढ़ प्रतिज्ञ था कि उसे बादशाह बनना है। जसवन्त सिंह तो क्या उसने अपने भाइयों को भी नहीं छोड़ा। दूसरी तरफ जसवन्त सिंह को शाही आदेश था कि राजकुमारों को यथा सम्भव समझा कर अपने-अपने प्रान्त वापस भेज दे। उन्हें कोई क्षति न पहुँचाने का भी आदेश उसे मिला था। अतः जसवन्त सिंह दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं था और नीति व नैतिक बल भी नहीं बन सका। आखिर वह एक प्राधीन सेनापति मात्र था और राजपरिवार से डरना स्वाभाविक था।

(6) जसवन्त सिंह की सेना सगठित नहीं थी। कई प्रकार के सैनिक, कई जातियाँ, कई युद्ध विधियों ने उसकी सेना को एक नहीं होने दिया। अनेक राजपूत भी उससे शत्रुता रखते थे। मुसलमान तो ठीक युद्ध के समय उसका साथ छोड़ गये। कासिम खाँ ने भी धोखा दिया। अतः उसकी पराजय स्वाभाविक थी।

6. धरमत का महत्व—जहाँ इस युद्ध ने औरंगजेब को सफलता की सीढ़ी पर ला खड़ा किया। वहाँ दारा की भावी कठिनाइयाँ भी सामने दिखने लगीं। इस युद्ध ने यह निश्चित कर दिया कि भारत का भावी बादशाह कौन होगा दारा या औरंगजेब? लूट मे औरंगजेब को हाथी, घोड़े, ऊँट, धन, रसद आदि के साथ प्रतिष्ठा वृद्धि भी प्राप्त हुई। सभी औरंगजेब को भावी बादशाह समझने लगे। उसकी धाक सारे भारत पर जम गई। दारा घबरा गया। दारा और उसके अनुयायी धरमत की विजय को अच्छा शगुन समझने लगे।

प्रश्न यह था कि जसवन्त सिंह का भविष्य क्या होगा? औरंगजेब ने दारा को पराजित कर आगरा भी जीत लिया। अपने भाइयों को एक-एक कर बुरी तरह बेरहमी से मरवा भी डाला और अपने पिता को बन्दी बनाकर शहंशाह के जीते जी बादशाह भी बन गया। ऐसी स्थिति में जसवन्तसिंह का मुगल दरबार में क्या स्थान रह गया? वह विद्रोही हो जाय या शाही दरबार में हाजिर होकर क्षमा माँग ले? यदि वह आगरा चला भी गया तो

* सरकार—'औरंगजेब' पृष्ठ—566.

क्या औरंगजेब उसे माफ कर देगा ? पिछले 20 सालों में जो सम्मान जसवन्त सिंह ने सम्राट शाहजहाँ के दरबार में पाया था वह समाप्त हो गया । अ विद्रोही राजकुमार बादशाह बन गया था । धरमत की पराजय ने जसवन्त सि की 20 साल की मेहनत पर पानी फेर दिया । औरंगजेब उसे सन्देह की नज से देखने लगा । महाराजा के हृदय में भी मुगलों की सेवा का वह उत्साह नह रहा और औरंगजेब को भी आगे कभी राजा पर पूरा विश्वास नहीं हो सका इस प्रकार धरमत का युद्ध दिल्ली और जोधपुर के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों बीच एक दरार बन गया जो धीरे-धीरे और चौड़ी पड़ती गई ।

7 अजमेर अभियान.—धरमत से लौटकर जसवन्तसिंह ने अप मुन्दरदास को जालौर से बुला कर जोधपुर का कार्यभार उसे सौंप दि और स्वयं मेड़ता आ गया । उसी समय मुगल घराने के आपसी युद्ध से ला उठाकर मेवाड़ के राणा जयसिंह ने अजमेर पर आक्रमण करने की योजन बनाई । वह इस अभियान में जसवन्तसिंह की मदद चाहता था । जसवन्त सि तैयार हो गये और अजमेर जा पहुंचे । इसी समय 15 जून 1658 को उ समाचार मिला कि औरंगजेब ने दारा को पूर्ण रूप से पराजित कर मैदा से भगा दिया है । स्पष्ट हो गया कि औरंगजेब भारत का बादशाह बन गया । राजा जसवन्तसिंह अभी उलझन में थे अजमेर पर आक्रमण करें या नहीं तभी औरंगजेब का एक फरमान उन्हें मिला कि वापस जोधपुर लौट आओ। कुछ समय तक तो राजा ने आनाकानी की और फिर 12 जुलाई को वापस जोधपुर लौट गये । यदि जसवन्त ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया होता तो उसके सम्बन्ध सदा के लिये खराब हो जाते । इसके विपरीत सितम्बर में जसवन्तसिंह पंजाब गया और सतलज नदी के किनारे नये बादशाह के सामने हाजिर हुआ । औरंगजेब ने प्रसन्न होकर राजा को उसकी मनसब जड़ाऊ तलवार और खिलअत लौटा दी । दोनों साथ दिल्ली लौट आये । किन्तु औरंग-जेब के दिमाग में शक प्रवेश कर गया था ।

8 विद्रोही जसवन्तसिंह—औरंगजेब को राज्याभिषेक के थोड़े दिन बाद ही समाचार मिला कि शुजा अपनी सेना सहित दिल्ली की तरफ आ रहा है । इसलिये अपने अन्तिम प्रतिद्वन्द्वी भाई शुजा को पराजित करने औरंग-जेब राजा जसवन्तसिंह को साथ लेकर चला । तीस दिसम्बर 1658 को वह इलाहाबाद पहुँचा और दोनों भाइयों का आमना सामना इलाहाबाद के पास खजवा के मैदान में हुआ । दोनों ने अपना अपना मोर्चा जमा लिया और 5 जनवरी 1659 को सुबह युद्ध शुरू होना था । मोर्चे में जसवन्तसिंह को पहले दक्षिण पार्श्व (पक्ष) से आक्रमण करने को रखा गया किन्तु बाद में अविश्वास के कारण उसे चन्दावल से लड़ने का आदेश दिया गया जो सुरक्षि

गा था। यह व्यवहार जसवन्त को बुरा लगा और उसने शुजा को सूचना भी दी कि वह अर्ध रात्री मे शाही छावनी पर आक्रमण कर देगा और त्पार मचाकर आतंक फैला देगा, इसलिये शुजा को भी रात्री मे शाही सेना आक्रमण कर देना उचित होगा। सम्भवत यह समाचार मुअज्जम खाँ गा औरंगजेब को मिल गया था। उसने राजा जसवन्तसिंह को जगह बदल र पीछे भेज दिया।

चार जनवरी की रात्री को 14 हजार सैनिकों ने शाही खेमे पर हमला कर दिया और लूटमार में सैकडो सैनिक मारे गये। शुजा ने इस आक्रमण नहीं किया और औरंगजेब को अपने शिविर मे शान्ति स्थापित ने का अवसर मिल गया। औरंगजेब सजग था उसने विद्रोहियों का दमन दिया। जसवन्तसिंह उस समय युद्ध स्थल से दूर चला गया था। यह की बुद्धिमत्ता थी अन्यथा उस पर विद्रोह का आरोप प्रमाणित हो जाता। ध से लौट आने का कारण यह बताया जाता है कि राजा अस्वस्थ थे। जसवन्त ने विद्रोह न भी किया हो किन्तु औरंगजेब ने इस विद्रोह के उसे ही दोषी ठहराया कि वह मैदान से चला गया था इसीलिये यह गड़ मची थी। जो भी हो इस घटना से राजा जसवन्तसिंह के चरित्र विद्रोह का दाग भी लग गया। समय और परिस्थितियों को देखकर ऐसा ता है कि जसवन्त सिंह पर थोपे गये आरोपो मे थोडी बहुत सचाई अवश्य होगी। षडयत्र असफल रहा, बादशाह का विश्वास और कम हो गया। ने जसवन्त सिंह को राजधानी से दूर भेजने का फैसला कर लिया। जसवन्तसिंह को धोखेबाज कहना उचित नहीं क्योंकि औरंगजेब ने भी तो इसी नीति से हड़पा था। जसवन्त सिंह अपनी घरमत की लडाई का का चुकाना चाहता था। दूसरी तरफ दारा भी राजा जसवन्तसिंह को पत्र लिख चुका था। जसवन्तसिंह इलाहाबाद से सीधा जोधपुर गया। ने में उसने कई मुगल थानों को लूटा। औरंगजेब ने तो उसके पीछे मुगल सेना दी थी तभी राजा जयसिंह ने बीच बचाव कर दोनों मे सुलह दी। आखिरकार उसने राजा जसवन्तसिंह को गुजरात का सूबेदार कर भेज दिया।

9. जसवन्तसिंह और मराठे—इधर औरंगजेब अपने भाइयों को में लगा हुआ था उसी समय दक्षिण मे शिवाजी की अधीनता में मराठों शक्ति बढ़ती जा रही थी। औरंगजेब ने शाइस्ता खाँ को 1659 में मराठों पर नियंत्रण स्थापित करने को भेजा किन्तु दक्षिण की स्थिति सुधर पाई। इसलिये 1662 ई. मे जसवन्त और अन्य कुछ अन्य सरदारों को स्ता खाँ की मदद के लिये भेजा। शाइस्ता खाँ ने शिवाजी के कई

दुर्ग छीन लिये और पूना पर अधिकार कर शिवाजी के महल में रहने । जसवन्तसिंह दस हजार सैनिकों के साथ पूना के मार्ग में सिंहगढ़ मे गया था। पाच अप्रैल 1663 की रात्री को शिवाजी ने पूना में प्रवेश शाइस्ता खां के महल में घुसकर आक्रमण किया। शिवाजी के कुछ सि अंधेरे मे जनाने खाने मे घुस गये जिससे शोर हो जाने से भगदड़ मच। शाइस्ताखां खिड़की से कूद कर भाग गया। भागते भागते शिवाजी के से उसके हाथ का अंगूठा कट गया। जसवन्तसिंह को जब समाचार मिला वह शाइस्ता खाँ के हाल पूछने लगा। शाइस्ता खाँ ने अपनी पराजय की छि और झेंप मिटाने को कहा कि 'मैंने तो समझा था कि तुम शत्रु से लड़ते ल मारे गये होंगे।' शिवाजी ने इसके बाद ही सूरत को लूटा। औरंगजेब ने समझा कि शायद जसवन्तसिंह शिवाजी से मिल गया है अतः उसे वा बुला लिया। किन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। शिवाजी सिंहगढ़ पहाड़ी मार्ग से पूना गये थे जिसका पता जसवन्तसिंह को नहीं था। सा ही पूना में शाइस्ता खाँ की छावनी भी शिवाजी को किले मे जाने से नह रोक सकी। जसवन्तसिंह पहले चरण में मराठों का दमन नहीं कर सके।

दक्षिण के उपद्रव बढ़ रहे थे इसलिये दो वर्ष बाद शाहजादे मुअज्जम के साथ जसवन्त सिंह को वापस दक्षिण में नियुक्त किया। जसवन्तसिंह ने इस बार समझदारी से काम लिया और मराठों पर आक्रमण करने के बजाय उन्हें मित्र बनाने की चेष्टा की। शिवाजी भी अपनी शक्ति संगठन करना चाहते थे अतः उन्होंने जसवन्तसिंह के पास सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा। जसवन्तसिंह और शाहजादा इस समाचार से बहुत प्रसन्न हुए। बादशाह को सधि की शिफारिश कर दी। बादशाह मान गया और जसवन्तसिंह के प्रयत्नों से थोड़े समय के लिये मुगल मराठों में सन्धि बनी रही। बादशाह ने शिवाजी को राजा की उपाधि दी। शम्भाजी (शिवाजी का पुत्र) मुगल शाहजादे के पास औरंगाबाद गया जहाँ उसे पाँच हजारी मनसब, एक हाथी, रत्न जटित तलवार दी गई। जसवन्तसिंह के इस कार्य से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे धिराद और राधणपुर के परगने भी दिये।

10 अन्तिम दिन.— राजा जसवन्तसिंह 35 वर्ष से मुगल दरबार की सेवा कर रहे थे। इस बीच तीन बार वे काबुल और सीमा प्रान्त के विद्रोहों का दमन कर चुके थे। पेशावर में पठानों ने उपद्रव मचाकर मुगल अफसर खाँ को मार डाला। औरंगजेब ने राजा जसवन्तसिंह को 1673 में काबुल जाने का आदेश दिया। राजा गुजरात, मारवाड़ होता हुआ खैर पहुँचा और पठानों पर कई भीषण आक्रमण किये। अन्त में पठानों इस अनुभवी राजपूत का लोहा मान लिया। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष

मान समहद में सीमा पर रहकर वितोह और स्वास्थ्य खराब रहने से 28 नवम्बर 1678 ई को राजा जसवन्तसिंह अपने पीछे दो गर्भवती विधवा रानियाँ छोड़कर परलोक सिधार गये । उनके साथ साथ-जोधपुर-और मुगलों की मित्रता के सम्बन्ध भी समाप्त हो गये ।

11 व्यक्तित्व —मआसिर-उल-उमरा के लेखक ने कहा है कि—"अपनी सम्पत्ति और अनुयायियों की संख्या के कारण वह भारत के राजाओं में सिरोमणि था ।"[1] राजा जसवन्तसिंह साहसी थे । उन्होंने अपने जीवन में अनेक युद्ध लड़े किन्तु धरमत को छोड़कर और किसी में नहीं हारे । शाहजहाँ के समय उसने बीस वर्ष तक घूम-घूम कर विद्रोहों का दमन किया । शाहजहाँ ने आगरा का सूबेदार तक बनाया था । इससे उसका विश्वास तथा स्नेह साफ दिखता है ।

जसवन्तसिंह की अधीनता में मारवाड़ का राज्य विस्तार सबसे अधिक था । और किसी हिन्दू राजा का राज्य इतना बड़ा नहीं था । जोधपुर, सोजत मेड़ता, सिवाना, जैतारण, पोकरण, फलोदी, जालौर और भीनमाल तो उसके राज्य के अंग थे ही । इनके अतिरिक्त उसके पास 22 अन्य परगने भी थे जिनमें बदनौर, केकड़ी, नारनौल, रोहतक आदि उल्लेखनीय हैं । उसकी अधीनता में जोधपुर भारत का एक महत्वपूर्ण राज्य था । शाहजहाँ के समय तो वह अकेला और औरंगजेब के समय में जसवन्तसिंह और आमेर का राजा जयसिंह सिर्फ ये ही दो हिन्दू राजा दरबार में सबसे बड़ी मनसब और जात सम्मान पाते थे । जसवन्त के पास सात हजारी मनसब थी । ख्यातों से ज्ञात होता है कि जसवन्तसिंह एक योग्य सेनापति, और कुशल व्यवस्थापक था । अपनी रियासत से दूर रहने पर भी वह कुशल व अनुभवी प्रशासकों को रखकर राज्य में सुव्यवस्था बनाये रखता था ।

राजा विद्या और कला का भी प्रेमी था । वह स्वयं अच्छा कवि था तथा जीवन और मानव चरित्र को भली प्रकार समझता था । राजस्थान के अतुल फजल-नैणसी को उसी ने खोजा और सँवारा था । वह विद्वानों का आदर करता और उन्हें सहायता व संरक्षण देता था । उसने खुद ने दो नाटक लिखे थे—प्रबोध चन्द्रोदय और सिद्धान्त सार । उसके समय के रचित ग्रन्थों में 'भाषा भूषण' सबसे अच्छा है । सरत मिश्र, नरहरिदास, बनारसीदास, और नवीन कवि आदि उसके समय के विद्वान थे । जोधपुर की ख्यातों का प्रसिद्ध लेखक मुहणोत नेणसी उसका ही मंत्री था । ओझाजी का कहना है

1. आलमगीर नामा—पृष्ठ 32

कि "उसकी ख्यात तथा जोधपुर रा परगणा री ख्यात', राजस्थान के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अध्ययन के अनुपम ग्रन्थ हैं।"[1]

वह हिन्दू धर्म का रक्षक था। औरंगजेब जैसा कट्टर मुसलमान उसके रहते भारत के हिन्दुओ पर अत्याचार नही कर सका। जब वह दूर सीमा पर था तब बादशाह ने थोडा बहुत दमन कर लिया। वह अपने पीछे ऐसे देश भक्तो का समूह छोड गया जिसने मुगल बादशाह को नाको चने चबा दिये पर मारवाड को पराधीन नही होने दिया। डा० गोपीनाथ के शब्दो मे—मारवाड राज्य का वह अन्तिम शासक था जिसने अपने बल और प्रभाव से अपने राज्य का सम्मान बनाये रखा। मुगल दरबार का सदस्य होते हुए भी उसने अपनी स्वतंत्र प्रवृति का परिचय दे राठोड वंश के गौरव और पद की प्रतिष्ठा बनाये रखी। "जब तक वह जीवित रहा औरंगजेब भी अपने कई सपनो को चरितार्थ नहीं कर सका।"[2]

---

1 ओझा-जोधपुर राज्य का इतिहास—भाग 1 पृष्ठ 472

2 डॉ० गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 445

दुर्गादास

जसवन्तसिंह की मृत्यु के साथ मारवाड की स्वतन्त्रता को विपदा के बादलों ने घेर लिया। उनकी मृत्यु के साथ जोधपुर राज्य की स्वतन्त्रता का संग्राम शुरू हुआ जो औरंगजेब की मृत्यु के बाद तक चलता रहा। महाराजा जसवन्त सिंह का देहान्त 28 नवम्बर 1678 को जमरूद नामक स्थान पर हुआ था। वे अपने पीछे जमरूद में ही दो विधवा गर्भवती रानियाँ छोड़ गये थे। जिन्हें सरदारों ने महाराजा का उत्तराधिकारी पाने की इच्छा से सती नहीं होने दिया। सरदारों ने जसवन्त सिंह की मृत्यु का समाचार औरंगजेब को भेज दिया और यह माँग की कि बालिग होने तक उन्हें सोजत व जैतारण की जागीर दे दी जाय। औरंगजेब को यह समाचार दिसम्बर मे प्राप्त हुआ। वह उस समय अजमेर की तरफ में था। उसने महाराज के होने वाले उत्तराधिकारी को मुसलमान बनाने का फैसला किया। जमरूद से लौटते समय लाहौर मे दोनों विधवा रानियों ने 19 फरवरी 1679 को 2 पुत्रों को जन्म दिया। एक अजीत सिंह और दूसरा दलथम्बन था। इनके जन्म से राठौड़ो मे नई शक्ति व साहस का संचार हुआ। उससे औरंगजेब को बड़ा धक्का लगा। उसने इन राजकुमारो को मार डालने व जोधपुर को नष्ट करने की योजना बनाई जिन्हें दुर्गादास ने अपनी बुद्धि व साहस से असफल कर दिया। दुर्गादास की स्वामी भक्ति व देश प्रेम का मूल्यांकन हम निम्न बातो से कर सकते हैं —

1. औरंगजेब की राक्षसी चेष्टा—इतिहासकार टाड औरंगजेब की जोधपुर के प्रति नीति को राक्षसी चेष्टा कहकर पुकारते हैं। बादशाह ने राठौर सरदारों को लाहौर से दिल्ली बुलाया और यह आश्वासन दिया कि महाराज जसवन्त सिंह के उत्तराधिकारी को सोजत व जैतारण की जागीर दे दी जायेगी। और वयस्क होने पर राज्य भी दे दिया जायेगा। महाराज की मृत्यु का समाचार जब जोधपुर पहुँचा तो हाड़ा रानी की अधीनता मे लगभग 20 हजार राठौर देश की रक्षा के लिए एकत्रित हो गये। औरंगजेब ने शाही फरमान द्वारा इन सरदारों को प्रलोभन देकर वापस अपनी-अपनी जागीरो मे भेज दिया। और राजपूतों का संगठन एक बार भंग हो गया।

जोधपुर के प्रति उसका दूसरा कदम अजीत सिंह को दिल्ली मे रोक

मुसलमान बनाने की नीति थी यह चाहता था कि जोधपुर मुसलमानों की अधीनता में डूब जाये। या मुगल राज्य का एक प्रान्त बनकर रह जाये।

अपनी इस दमनकारी नीति के कारण औरंगजेब जोधपुर को स्वतन्त्र नहीं देख सकता था। दूसरी तरफ दुर्गादास की अधीनता में राठौड़ अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना चाहते थे। इन परिस्थितियों ने दुर्गादास को जन्म दिया और वह साधारण सेवक से सेनानायक व देश भक्त बन गया। औरंगजेब की कुटिल नीति दुर्गादास के व्यक्तित्व के विकास का कारण बन गई।

2. प्रारम्भिक जीवन—दुर्गादास का जन्म 1638 ई० में हुआ था। उसके पिता आसकरण महाराजा जसवन्तसिंह के मन्त्री थे। पारिवारिक झगड़ों के कारण आसकरण ने अपनी पत्नी व दुर्गादास को छोड़ दिया था और जिस प्रकार शिवाजी को जीजा बाई ने योग्य बनाया उसी प्रकार दुर्गादास को भी उसकी माँ ने योग्य बनाया। दुर्गादास और उसकी माँ लुडावे गाँव में रहते थे। वह बचपन से देश भक्त था और अपने राजा का अपमान नहीं सह सकता था। एक दिन जब वह खेती की रखवाली कर रहा था तब एक सरकारी नौकर ने उसके खेतों में ऊँट चरने छोड़ दिये। दुर्गादास ने ऊँटों को बाहर निकाला तो उस सैनिक ने उन्हें भला बुरा कहा और राजा जसवन्त सिंह की मजाक उड़ाते हुए कहा कि उसका किला तो धोला ढुँढ़ा है जिसके छत तक नहीं है। देश भक्त दुर्गादास जिसने अपने स्वामी को देखा तक नहीं था, इस अपमान को नहीं सह सका। उसने उस सरकारी नौकर को मार डाला। जब यह समाचार जसवन्त सिंह के पास पहुँचा तो उसने प्रसन्न होकर दुर्गादास को अपनी सेवा में रख लिया। और यह घोषणा की कि भविष्य में दुर्गादास मारवाड़ राज्य का उद्धार करेगा। इस कथा का वर्णन श्री ओझाजी ने अपनी पुस्तक 'मारवाड़ का इतिहास' के दूसरे भाग में किया है और श्री यदुनाथ सरकार ने भी इसे दोहराया है। दुर्गादास की योग्यता का पता बचपन में ही लग गया था। उसी ने मारवाड़ राज्य को मुगल राज्य में मिलाये जाने से बचाया था। राजा जसवन्त सिंह के उत्तराधिकारी को मुगल कैद से निकाल लाया और अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बिठा कर अपना कर्त्तव्य पूरा किया।

3. अजीत की रक्षा—औरंगजेब ने लाहौर में राठौर सरदारों को दिल्ली आने का आदेश दिया और दूसरी तरफ जोधपुर पर अपना अधिकार कर लिया। उसने खाने जहाँ बहादुर को विशाल सेना के साथ जोधपुर भेजा और साथ ही वहाँ के किलेदार फौजदार व अन्य अफसरों की नियुक्ति की। खाने जहाँ बहादुर ने जोधपुर पर अधिकार जमाया और आस-पास के मन्दिरों

नी सरदारों के साथ फौलाद खाँ पर टूट पड़ा 60 साथी भी मारे गये और वह भी काम आया, राजपूत सरदार अजीतसिंह को पहले ही लेकर निकल गये थे। दुर्गादास ने सफलतापूर्वक यह काम किया और सन्ध्या पड़ने तक दिल्ली की सीमाओं से बाहर निकल गया 23 जुलाई को अजीतसिंह व दुर्गादास मारवाड़ आ पहुँचे।

राजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' में कहते हैं कि—"स्वामी भक्त राठौड़ों ने इतिहास प्रसिद्ध वीरवर राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व में अपने शिशु स्वामी को औरंगजेब के पंजे से बचाने का दृढ़ निश्चय किया। उनको घेरने वाली शाही सेना को तलवारों के बल से चीरकर औरंगजेब के सारे प्रयत्नों व इरादों को विफल बनाते हुए वे शिशु अजीत व उसकी माता को साथ लिये हुए दिल्ली से मारवाड़ की तरफ चल पड़े। यों 15 जुलाई 1679 को दिल्ली में ही राजपूतों के विद्रोह का प्रारम्भ हुआ जो अगले 30 वर्षों तक बराबर चलता रहा।"

अजीतसिंह को दिल्ली से मारवाड़ पहुँचने के विषय में कई मत हैं। ऐसा कहा जाता है कि फौलाद खाँ के पहुँचने से पहले ही राठौर महल से रातों में निकल चुके थे। और अपनी जगह पर दासियाँ और छोटे छोटे बच्चे छोड़ गये थे। कुछ लोगों का कथन है कि दोनों राजकुमारों को पिटारियों में रखकर निकाला गया। टाड महोदय का कहना है कि मिठाई के टोकरे में रखकर राजकुमारों को ले गये। सर यदुनाथ सरकार का कथन है कि दुर्गादास लड़ाई के बीच में से वीरतापूर्वक अजीतसिंह को निकाल कर चल दिया। श्री रेऊ 'मारवाड़ राज्य का इतिहास' के भाग में यह मानते हैं कि राठोड़ों ने अजीतसिंह को सरदार मोकमसिंह की स्त्री बाघेली के साथ सकुशल दिल्ली से निकाल दिया था। मुसलमान इतिहासकार लिखते हैं कि रानियाँ मर्दाना लिबास पहनकर किले से बाहर निकल गयी थी। जोधपुर राज्य की ख्यात में वह लिखा है कि जब शाही सेना अजीतसिंह को दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये पहुँची तो राजपूत उस पर टूट पड़े और युद्ध के बीच दुर्गादास उन्हें लेकर निकल पड़ा। कुछ मुसलमान इतिहासकार रानियों के मारे जाने का वर्णन भी करते हैं। इन सब मतों का सार निकाला जाय तो यही कहा जा सकता है कि दुर्गादास ने बुद्धि के प्रयोग से अजीतसिंह को मुगल के चंगुल से निकाल लिया था और उसकी माता सहित सुरक्षित मारवाड़ पहुँचा दिया था। दुर्गादास ने सारे रास्ते की सुरक्षा पहले ही कर ली थी किन्तु जब मारवाड़ पहुँचा तब उसने हर थाने पर मुगल सेना देखकर मेवाड़ के महाराजा राजसिंह से प्रार्थना की कि वे अजीतसिंह को अपने राज्य में रहने दें। महाराजा को

12 गांवों की जागीर दे दी व उसकी रक्षा का आश्वासन भी दे दिया। इस प्रकार दुर्गादास दिल्ली से मारवाड़ तक निरन्तर संघर्ष करने के बाद अजीतसिंह को मारवाड़ पहुँचाने में सफल हुआ।

औरंगजेब को जब यह सूचना मिली तो उसने एक ग्वाले के लड़के को अजीतसिंह की जगह एक नकली राजकुमार घोषित कर दिया। गुस्से में उसने इन्द्रजीत को भी गद्दी से हटा दिया। और जोधपुर के फौजदार को भी किले से निकाल दिया क्योंकि ये दोनों मिलकर भी दुर्गादास को जोधपुर में घुसने से नहीं रोक सके।

6. मेवाड़ मारवाड़ संघ—औरंगजेब ने मारवाड़ पर भयानक आक्रमण किया और अपने बड़े लड़के अकबर को विशाल सेना देकर विद्रोहियों के दमन के लिये भेज दिया। राठौड़ सरदार हर स्थान पर मुगलों का विरोध कर रहे थे। वे छापामार युद्ध कर रहे थे। रसद को लूटना, मुगल यातायात को हानि पहुँचाना राठोड़ो, का दैनिक कार्यक्रम बन गया था। वे जालौर, शिवाना, गोडवाना, नागौर, डीडवाना और सांभर आदि स्थानों को लूटते व जंगलों में छिप जाते। ऐसा लगता था कि सारे मारवाड़ में राठौड़ो की छापामार युद्ध प्रणाली आतंक फैला रही है। अतः शाहजादा अकबर जो अब तक चित्तौड़ में निवास कर रहा था 16 जुलाई 1680 ई॰ को सोजत में आकर रहने लगा और मारवाड़ पर आक्रमण कर राजपूतों का दमन करने लगा। दुर्गादास ने यह अनुभव किया कि वह अकेला मुगल सेना से नहीं लड़ सकेगा। अतः उसने उदयपुर के राणा राजसिंह के साथ मित्रता करने की चेष्टा की किन्तु इसी वर्ष राजसिंह का देहान्त हो गया। और राजा जयसिंह से संधि की वार्ता चलती रही। आखिर कार 14 जून 1681 ई॰ को दुर्गादास मेवाड़ के साथ संधि करने में सफल हुआ। मारवाड़ और मेवाड़ दोनों ने मिलकर शहजादा अकबर को परेशान करना शुरू किया। इस संधि के परिणाम स्वरूप शहजादे अकबर के होसले पस्त हो गये। और वह दुर्गादास की चाल में आ गया अकबर को जब एक वर्ष तक कोई सफलता नहीं मिली तो उसने विद्रोहियों के साथ मित्रता कर ली और 1 जनवरी 1681 ई॰ में अकबर को नाडोल में अकबर को भारत का बादशाह घोषित किया गया। कुछ समय के लिये मारवाड़ में संघर्ष बन्द हो गया। अकबर, दुर्गादास और मेवाड़ की सेना औरंगजेब का मुकाबला करने के लिये अजमेर की तरफ चल पड़ी। इस प्रकार दुर्गादास ने कूटनीति से काम लेकर मेवाड़ मारवाड़ और अकबर के बीच चल रहे संघर्ष को समाप्त कर दिया।

7. औरंगजेब का प्रयत्न—औरंगजेब ने जब यह सुना कि शाहजादा अकबर विद्रोही हो गया है और उनसे युद्ध करने आ रहा है तब उसने चारों तरफ से सेना बटोर कर अजमेर के पास दोराई के गांव में अकबर और राजपूतों का सामना किया। अकबर का मुख्य सेनापति तेहव्वर खाँ धोखे से बादशाह के पास बुलाकर मार डाला गया। उसे यह धमकी दी गई कि यदि वह बादशाह के पास फौरन नहीं आ जायेगा तो उसके छोटे छोटे बच्चों की खाल में भूसा भर कर उसके पास भेज दिया जायेगा और उसकी स्त्री को वेश्या बना दिया जायेगा। जब यह समाचार तेहव्वर खाँ के पास पहुँचा तो वह शीघ्र ही बादशाह के पास चला गया और वहाँ उसे कत्ल कर दिया गया। अब औरंगजेब ने अकबर को एक पत्र लिखा और दुर्गादास को फाँस लेने की बधाई दी। और कहा गया कि इसी प्रकार उसे सुबह तक रोके रखे। और अपनी व बादशाह की सेना के बीच रखे ताकि पिता पुत्र दोनों मिलकर राजपूतों का सफाया कर दें। यह पत्र औरंगजेब ने दुर्गादास के पास पहुँचा दिया। दुर्गादास इस पत्र से घबरा गया और राजपूतों सहित पीछे हट गया। अकेला अकबर औरंगजेब का मुकाबला न कर सका और जंगलों में भाग गया। दुर्गादास ने उसे ढूँढ़ा और मराठों के सुरक्षित राष्ट्र महाराष्ट्र में पहुँचा दिया और इस प्रकार औरंगजेब ने दुर्गादास के इस प्रयास को भी विफल कर दिया।

8. मारवाड़-मुगल संघर्ष—दुर्गादास अकबर को लेकर मराठा दरबार में पहुँचा तो औरंगजेब ने अपनी शक्ति मराठों के खिलाफ लगा दी। इस चाल से मारवाड़ विध्वंस से बच गया। और दुर्गादास चुपचाप मारवाड़ में आ गया। सरदारों की यह इच्छा हुई कि वे बालक महाराज के प्रकट होने की घोषणा कर दें। और 23 मार्च 1687 को पालड़ी गांव में महाराज का विधिवत सम्मान हुआ और सभी सरदारों ने उन्हें नजराना भेंट किया। सारी जागीरों में घुमा घुमाकर अजीतसिंह को राजा घोषित किया गया। और मारवाड़ का नया संगठित रूप तैयार किया गया। दुर्गादास और अजीतसिंह के बीच इस मत मुटाव उत्पन्न होने चले गये और युद्ध की नीति के मामलों को लेकर राजा अजीतसिंह व सेनापति दुर्गादास में बड़ा मतभेद हो गया। अजीतसिंह खुले मैदान में युद्ध करना चाहता था जबकि दुर्गादास छापामार युद्ध में विश्वास रखता था। क्योंकि मारवाड़ सैनिक दृष्टिकोण से इतना सघन नहीं था औरंगजेब इन दिनों राजपूतों के सर्वनाश में लगा हुआ था। उसकी शक्ति भी विशाल थी। दुर्गादास ने यहाँ फिर नीति से काम लिया और औरंगजेब के आक्रमणों को कम करने के लिये छोटे शहजादे बुलन्द अख्तर और

उसकी पुत्री सफियतुन्निसा बेगम को बन्दी बना लिया। और यह घोषणा कर दी थी मारवाड़ पर आक्रमण कम नहीं हुआ तो इन शाही बच्चों की जिन्दगी खतरे में है। औरंगजेब को लाचार होकर दुर्गादास के साथ बातें करनी पड़ी। बातचीत के लिये ईश्वरदास व सुजानखां भेजे गये। वीर दुर्गादास ने बातचीत करने में कोई आपत्ति नहीं समझी और दीर्घकालीन 25 वर्षीय युद्ध जो दिल्ली से दुर्गादास के अजीतसिंह को लाने पर शुरू हुआ था, वह समाप्त हो गया। औरंगजेब ने दुर्गादास को 30 हजार सवार का मनसबदार बनाया। एक रत्नजड़ित कटार एक मोतियों की माला और 1 लाख रु० देकर सम्मानित किया और उसे पाटन का फौजदार नियुक्त कर उसे पाटन भेज दिया। अजीतसिंह को भी मेड़ता की जागीर देकर शान्त कर दिया गया। किन्तु अजीतसिंह जोधपुर पर अधिकार करना चाहता था। अतः दुर्गादास और अजीतसिंह दोनों ही अवसर की बाट देख रहे। और जब 1707 में औरंगजेब का देहान्त हुआ तो राठौरों ने जोधपुर के किलेदार जफरकुली को निकाल कर जोधपुर पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो युद्ध 1669 में शुरू हुआ था वह 1707 में समाप्त हो गया था। औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने मारवाड़ का स्वतन्त्र राज्य मान लिया और अजीतसिंह ने मेवाड़ के राणा से मिलकर अजमेर पर भी अपना अधिकार कर लिया। बादशाह ने अजीत को अपने पिता का मनसब पुनः प्रदान किया और शाही दरबार में बुला लिया। इस घटना के साथ मारवाड़ का स्वतन्त्रता संग्राम समाप्त हो गया। दुर्गादास को अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

दुर्गादास का व्यक्तित्व—इतिहासकार वी० एस० भार्गव अपनी पुस्तक "मारवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स" में कहते हैं—"दुर्गादास राठौड़ जिसने अजीतसिंह का संरक्षण देकर मारवाड़ में राठौड़ों की सत्ता को बनाये रखा था [illegible] उज्जैन के पास 1718 ई० में एक देश से निकाले गये व्यक्ति की हैसियत से मर गया।"

> यदि दुर्गादास न होता तो मारवाड़ अपनी स्वतन्त्रता खो देता। और [illegible] का एक प्रान्त बन जाता। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली [illegible] दुर्गादास के देश प्रेम व स्वामीभक्ति का ही परिणाम [illegible] बुद्धि का परिचय देकर राजपूतों के [illegible] किया [illegible] दुर्गादास ने राजकुमारी व उसकी [illegible] की। [illegible] मारवाड़ [illegible]

को संगठित कर छापामार युद्ध के लिये प्रोत्साहित किया। उदयपुर के राजाओं से संधि कर राजपूतों की शक्ति के बल दिलाया। शाहजादे अकबर को अपनी तरफ मिलाकर औरंगजेब के षड्यन्त्रों को चुनौती दी। उसी ने अकबर को मराठों के पास लेजाकर औरंगजेब का ध्यान दूसरी तरफ बँटा दिया जिसके फलस्वरूप राजपूत मारवाड की विजय निडर होकर कर सकें। उसी ने औरंगजेब के लड़के व पोती को बन्दी बनाकर संधि के लिये बाध्य किया और दुर्गादास के प्रयत्नों से ही 1698 ई० में औरंगजेब ने अजीतसिंह को जोधपुर के अतिरिक्त और अधिकांश मारवाड की जागीरें प्रदान कर दी। उसे मनसबदार बनाया और तीन परगनों का फौजदार भी नियुक्त किया। औरंगजेब के बराबर बुलाने पर भी अजीतसिंह मुगल दरबार में नहीं गया। अपनी मृत्यु के समय औरंगजेब अजीतसिंह से नाराज था किन्तु वह दुर्गादास के रहते अजीतसिंह का कुछ भी बिगाड न सका। दुर्गादास 1617 ई० तक मुगल दरबार में एक मनसबदार की हैसियत से रहा किन्तु राजस्थान की ख्यातों में इसके विपरीत वर्णन मिलता है कि दुर्गादास शाही दरबार में कभी नहीं गया। और वह सामर जीतने के बाद अजीतसिंह से अनबन हो जाने के कारण देश से निकाल दिया गया।

1702 ई० में अजीत व दुर्गादास के सम्बन्ध बिल्कुल खराब हो गये। और दुर्गादास को मारवाड छोड़ना पडा किन्तु यह सत्य है कि दुर्गादास की सहायता के बिना अजीतसिंह औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों से जोधपुर और मारवाड राज्य जीत नहीं सकता था। इतिहासकार डॉ० रघुवीरसिंह का कथन है कि—"12 मार्च 1707 को प्रथम बार अपनी इस वंश परम्परागत राजधानी में अजीतसिंह ने प्रवेश किया और अपने पैतृक किले को गंगाजल व तुलसी से शुद्ध किया। यों 28 वर्ष के अनवरत प्रयत्न के बाद दुर्गादास की जीवन साधना सफल हुई।"

दुर्गादास एक सच्चा मित्र था। उसने अकबर की रक्षा की। वह सच्चा हिन्दू भी था। उसने औरंगजेब के बेटे व पोती को सकुशल उसके पास पहुँचा दिया। जोधपुर में दुर्गादास अजीतसिंह से अधिक प्रसिद्ध था और वह स्वयं समझ गया था कि अब जोधपुर को उसकी आवश्यकता नहीं रह गयी है। जब महाराजा अजीतसिंह ने उसे सरदारों की पंक्ति में खड़ा होने को कहा तो वह वहाँ से चल दिया। महाराज ने उसे बुलाया तक नहीं। ओझाजी ने अपनी पुस्तक 'जोधपुर राज्य के इतिहास' में दुर्गादास की प्रशंसा करते हुए

अध्याय 19

मराठे और राजपूत

शया और भारत के सबसे अधिक विद्वान पंडित गाग भट्ट को बुला कर अपना राज्याभिषेक करवाया था। यदि शिवाजी क्षत्री नहीं होते तो यह विद्वान धन के लालच में उनका राज्याभिषेक नहीं करवाता। सर यदुनाथ सरकार और ग्रेडफ इस सत्य को नहीं मानते। लेकिन कवि श्यामलदास वीर विनोद की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 1581-82 पर शिवाजी के दादा मालू घोसला को मेवाड के सिसोदिया वंश का एक योग्य सवारों का अफसर बताते हैं। यह मालू घोसला 1600 ई० में अहमद नगर के सुल्तान के यहाँ नौकरी करने चला गया वहाँ उसकी स्त्री ने एक मुसलमान पीर शाह सेफर की मिन्नत मानी और उसे पुत्र प्राप्त हुआ। इस पुत्र का नाम मालू घोसला ने पीर के नाम पर शाहजी रखा। मालू के इस लड़के शाहजी का सम्बन्ध जादूराव की लड़की जीजाबाई से हुआ जो खानदानी रईस होगा। अहमद नगर के सुल्तान ने इसे पूना और सौपा आदि की जागीर देकर दक्षिण में बसा दिया। शिवाजी इसी शाहजी के बेटे थे। इसलिए कुछ लोग शिवाजी को सिसोदिया वंश का क्षत्री मानते हैं क्योंकि उनका दादा मेवाड़ का उच्च कुल का क्षत्री था। शिवाजी ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए अपने जीवन काल में राजपूतों से सदा अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे।

श्री सावरकर और सर देसाई के साथ राबर्ट ओर्मी इस बात को मानते हैं कि शिवाजी के हिन्दू पद पादशाही का आधार राजपूतों और मराठों के बीच खून का सम्बन्ध था। डॉ० कृष्ण स्वरूप गुप्ता ने अपने अप्रकाशित शोध ग्रन्थ 'मेवाड़ एण्ड दि मराठाज़' में इस बात को स्वीकार किया है कि शिवाजी क्षत्री थे। लेकिन शिवाजी के पुत्र शभाजी का विवाह रामनगर की सिसोदिया राजकुमारी से हुआ था जिसका वर्णन पेशवा दफ्तर की जिल्द 10 के पत्र स० 5 पर मिलता है। यदि शिवाजी सिसोदिया होते तो उनके लड़के का विवाह मेवाड़ की एक राजकुमारी से नहीं होता। यह तो स्पष्ट है कि वे क्षत्री थे और उनके पूर्वज मेवाड़ निवासी थे। मेवाड़ के शासक और शिवाजी के वंशज दोनों अपने आप को अयोध्या के राजा राम के वंशज मानते थे। शिवाजी ने कभी राजपूतों के क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया किन्तु यह महान दुर्भाग्य की बात रही कि औरंगजेब ने शिवाजी का दमन करने के लिये पहले राजा जसवन्तसिंह को भेजा और बाद में राजा जयसिंह को। एक जोधपुर नरेश था और दूसरा जयपुर का राजा। शिवाजी मई 1666 ई० में आगरा भी जयसिंह के सम्मान से ही गये थे और जब औरंगजेब ने उन्हें कैद कर लिया तो जयसिंह के लड़के रामसिंह ने उन्हें निकल भागने में सहायता दी।

शिवाजी की मृत्यु के बाद दुर्गादास अपने साथ शहजादा अकबर को लेकर शंभा जी के पास मदद पाने गया। शंभाजी अकबर की मदद अवश्य

करते लेकिन उसी समय अकबर शम्भाजी के प्रतिद्वन्द्वी राजा राम से मेल बढ़ाने लगा। फलस्वरूप शम्भाजी ने उसकी मदद नहीं की। इस प्रकार देखते हैं कि औरंगजेब के समय में मराठे और राजपूतों में मेल-जोल व सद्भावना तो थी किन्तु किसी प्रकार का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं सका। वैसे दोनों ही मुगल साम्राज्य के विरुद्ध प्रभावशाली राजनीतिक आन्दोलन उठा रहे थे, जिनका लक्ष्य स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता थी। महाराणा उदयसिंह और प्रताप की भांति शिवाजी और शम्भाजी आदि ने भी हिन्दू राष्ट्र निर्माण के लिये जीवन भर युद्ध किया। दोनों का शत्रु एक था, लक्ष्य एक था फिर भी आश्चर्य है कि दोनों जातियाँ मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में एक नहीं हो सकी। श्री गहलोत का कहना है कि—"राजपूतों ने मराठों को एक नवीन शक्ति के रूप में देख कर अवहेलना की और मराठों ने अपनी शक्ति की सर्वसत्ता स्थापित कर राजपूतों से समानता का व्यवहार चाहा। वे मुगलों के विरुद्ध राजपूतों को अपना सहयोगी नहीं बना सके।"*

फिर भी दोनों में कोई वैमनस्य नहीं था। सन् 1730 के बाद जब बाजीराव प्रथम ने नर्मदा नदी पार कर मालवा में अपना अधिकार जमाना शुरू किया तो मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह द्वितीय को भावी भय सताने लगा। उन्होंने सारे राजपूत राजाओं को सचेत करना चाहा, राजपूतों का संगठन बनाकर मराठों की शक्ति को मालवा और राजस्थान में बढ़ने से रोकना चाहा। इसी प्रकार के प्रयत्नों से मराठों को भी शंका हो गई। अन्यथा दोनों हिन्दू शक्तियों के आपस में लड़ाई या शत्रुता का कोई कारण नहीं था। जिन्होंने जिस भूमि के दावे थे उसी भूमि के राणा ने उनके वकीलों के विरुद्ध राजपूतों को उकसा कर जाति और धर्म के बन्धन तोड़ दिये। तभी मराठों ने चौथ की लूटना आदि शुरू किया।

3 दिल्ली की दशा—सन् 1707 में मुगल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसके बाद जितने भी बादशाह गद्दी पर बैठे वे सब इतने अयोग्य थे और औरंगजेब की उन गलतियों को दूर नहीं कर सके जिन्होंने, राजपूत, मराठे और मुसलमानों को भी मुगलों का शत्रु बना दिया था। मेवाड़ पर 1716 से 1734 तक राणा संग्रामसिंह द्वितीय ने राज्य किया था। यह काल मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का समय था। दिल्ली के इर्द गिर्द की सभी शक्तियों ने उन्नति की परन्तु किसी को भी दुर्भाग्यवश सफलता नहीं मिल सकी। मुगल राजकुमार दिल्ली के तख्त के लिए आपस में लड़ते थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका 63 वर्ष का द्वितीय पुत्र मुअज्जम बहादुरशाह

* गोविन्दसिंह मेहता—मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शासन के ..., पृष्ठ—31

गम है गद्दी पर बैठा। यह भी अपने पिता की तरह कट्टर मुसलमान था। सिर्फ पांच वर्ष राज्य करने के बाद 1712 में इसका 68 वर्ष की अवस्था में देहान्त हो गया। इसके चार लड़कों में लाहौर में उत्तराधिकार युद्ध हुआ और अपने तीन भाइयों को मार कर बहादुरशाह का सबसे बड़ा लड़का जहांदारशाह गद्दी पर बैठा। उसने पूरे एक वर्ष भी राज्य नहीं किया था कि उसका भतीजा फर्रुखसियर अपने विलासी चाचा को आगरे में पराजित कर मुगल बादशाह

किन्तु डरपोक योग्य से योग्य ला खां ने अपने लिया। हुसैन- विश्वनाथ की

अधीनता में दस हजार मराठे सैनिक लेकर 16 फरवरी 1718 को वह दिल्ली पहुंचा। बादशाह ने हुसैन अली से माफी मांगी और जैसे तैसे एक वर्ष काटा। आखिरकार डरपोक बादशाह को जनान खाने से बाहर घसीट कर गला घोट कर मार डाला। इस घटना में मराठों का भी हाथ था। हुसैन अली खां ने 1717 की सन्धि में मराठों को दक्षिण प्रान्त की मालगुजारी से चौथ देकर, शाहू को राजा मान कर सैनिक सहायता प्राप्त की थी। उसी ने बादशाह को मार कर अगले एक वर्ष में दो बालकों को बादशाह बनाया मगर वे दोनों भी फरवरी से सितम्बर के बीच चल बसे तब मुहम्मद शाह को 1719 में बादशाह बनाया गया। इसने 29 वर्ष तक राज्य किया। इसके समय में मुगल साम्राज्य का सर्वनाश हो गया। फर्रुखसियर से जोधपुर के राजा अजीत सिंह ने अपनी पुत्री का विवाह किया था। उसकी मृत्यु पर वह उसे वापस जोधपुर ले गया और फिर हिन्दू बना लिया। दुर्बल बादशाह मुहम्मद शाह के समय में हैदराबाद का निजाम स्वतन्त्र शासक बन गया और 1724 में हैदराबाद राज्य की नींव पड़ी। मराठे आजाद हो गये। गुजरात पर उनका प्रभाव स्थापित हो गया। सन् 1723 में उन्होंने नर्बदा पार कर मालवा पर अधिकार जमाना शुरू कर दिया। किन्तु दिल्ली के बादशाह मराठों का कुछ नहीं बिगाड़ सके। स्वाभाविक था कि गुजरात और मालवा में अपना प्रभाव स्थापित कर लेने पर, दिल्ली तक आने की इच्छा रखने वाले मराठे, बीच में पड़ने वाले राजस्थान को भी अपने प्रभाव में लाना चाहेंगे। इस परिस्थिति ने दुर्बल दिल्ली ने मराठों और राजपूतों को आमने सामने खड़ा कर दिया। न तो मराठों को दिल्ली की शक्ति का भय था और न राजपूतों को दिल्ली से मराठों के विरुद्ध किसी भी प्रकार की सहायता की आशा थी। दिल्ली की दुर्बलता दोनों को राज्य विस्तार के लिये प्रेरणा दे रही थी। वहां दोनों के सम्बन्ध तनावपूर्ण और कटु होते जा रहे थे। यदि केन्द्र शक्तिशाली रहता तो मराठों को उत्तर

मे विस्तार का अवसर ही नही मिलता। हुसैन अली ने 1717 में मराठों को दक्षिण की चौथ देकर उनकी हिम्मत को बहुत बढ़ा दिया। बादशाह फर्रुखसियर के वजीर सैयद था इन सैयद भाइयों के निमन्त्रण पर बालाजी विश्वनाथ ने मुगलो की राजधानी दिल्ली पहली बार देखी थी। उस समय के बाद मराठो की इच्छाएँ बराबर बढ़ती गई। जयपुर के राजा जयसिंह ने कुछ समय तक मराठो को उत्साहित कर सहयोग दिया और अब उनकी इच्छाएँ बढ़ गई तो उन्हें रोकना सम्भव नही रहा। बालाजी विश्वनाथ के पुत्र उत्तराधिकार पेशवा बाजीराव प्रथम और जयसिंह के बीच दिल्ली मे मित्रता हो गई थी। इसी मित्रता पर आधारित मराठा राजपूत सम्बन्ध हुरड़ा सन्धि, जो 1734 मे राजपूत राजाओ ने मराठो के प्रसार को रोकने के लिये की थी, तक मराठा व राजपूतो के सम्बन्ध सामान्यतः मित्रतापूर्ण बने रहे लेकिन दोनो का स्वार्थ एक था इसलिये आखिरकार सघर्ष भी टाला नही जा सका।

4 सवाई जयसिंह—जयपुर के राजा सवाई जयसिंह को बदलती हुई मुगल राजनीति का कई बार शिकार बनना पडा। डॉ० रघुबीरसिंह का कहना है कि—"सवाई जयसिंह अपने समय का एक महत्वाकांक्षी राजपूत राजा था। वह साँभर से लेकर दक्षिण भारत मे नर्मदा नदी तक अपना राज्य स्थापित करना चाहता था अतएव मालवा के हरे भरे उपजाऊ भू भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उसने अपने प्रतिद्वन्दी सरदारों के विरुद्ध मराठो की सहायता को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना चाहा।"

मुगल दर्बार में जयसिंह का प्रभाव कम होता जा रहा था। उसे मालवा का सूबेदार बना कर भेजा गया फिर दो वर्ष बाद हटा दिया गया। इस प्रकार के सदिग्ध वर्ताव से सवाई जयसिंह नाराज होता गया। वह बहुत महत्वाकाक्षी था उसी ने राज्य बढाने के लिये बूँदी पर आक्रमण किया। बूँदी के राजा बुद्धसिंह को जयसिंह की बहन ब्याही थी। जब जयसिंह ने अपने बहनोई को हटाकर अपने दामाद को बूदी का राजा बना दिया तो उसकी बहन ने अपने भाई जयसिंह के विरुद्ध मराठा सरदार मल्हार राव होल्कर को राखी बाँधकर भाई बनाया और बहुत सा धन देकर बूँदी वापस जीतने के लिये मदद माँगी। होल्कर ने अपने साथ राणोजी सिन्धिया को भी ले लिया और बूँदी को जीत कर, नये राजा दलेल सिंह को गद्दी से हटाकर वापस बुद्धसिंह को बूँदी का राजा बना दिया। राजस्थान मे राजघरानों के झगडों मे मराठों का यह पहला हस्तक्षेप था। इसके बाद उनके हस्तक्षेप का ताता बँध गया और मराठो व राजपूतों का सघर्ष शुरू हुआ। इसलिए यदि हम सवाई जयसिंह को मराठा-राजपूत संघर्ष का जन्मदाता कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जयसिंह ने ही स्वार्थ सिद्धि के लिये प्रारम्भ में मराठों के साथ सम्मानपूर्ण बर्ताव किया जब उसे मुगल दरबार में सत्तारूढ़ दल का विश्वास प्राप्त नहीं रहा तो उसने अपनी जगह बनाये गये मालवा के सूबेदार के विरुद्ध मराठों को वरगलाया। उसी के कहने पर मराठों ने मालवा में प्रवेश किया। मालवा के पड़ोस में होने के कारण मराठों का अगला शिकार राजस्थान बन गया जिसका उत्तरदायित्व जयसिंह पर ही है। राजस्थान में मराठों के घुसपैठ की भूमिका इस प्रकार जयसिंह के हाथों तैयार की गयी।

5. विदेशी आक्रमण —भारतवर्ष पर विदेशियों के आक्रमण का तांता लगा रहा है। आर्यों के आगमन से लेकर आज तक समय समय पर शक्तिशाली विदेशियों के आक्रमण होते रहे हैं। मुगल साम्राज्य की गिरती दीवार को 22 वर्षों के समय में दो भयानक आक्रमणों का सामना करना पड़ा। पहला आक्रमण नादिरशाह ने मई 1739 में किया और दिल्ली की आबरू लूट कर ले गया। दूसरे आक्रमण ने तो मुगल साम्राज्य की पतंग ही काट दी। अहमद शाह अब्दाली एक बड़ी अफगान सेना लेकर भारत पर चढ़ आया। उसने 14, जनवरी 1761 के दिन पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों को बुरी तरह से पराजित किया। मराठों ने तो सिर्फ दस वर्ष में ही अपनी शक्ति को पुनः संगठन कर लिया किन्तु दिल्ली का डरपोक बादशाह कटी पतंग की तरह शाहआलम का पड़ा जिसे पकड़ कर मराठों ने नाम मात्र का बादशाह बनाकर दिल्ली के सिंहासन पर बिठा दिया। मुगल सम्राट के नाम पर मराठों का वकील दिल्ली का शासन चलाने लगा। स्पष्ट है कि इन दो विदेशी आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य को दफना दिया। ऐसा लग रहा था कि मुगलों का स्थान मराठे लेंगे। तभी 1754 ई. में जोधपुर ने अजमेर और जयपुर ने रणथम्भौर पर अधिकार कर राजस्थान से मुगलों के आधिपत्य का नामोनिशान तक मिटा दिया। मराठे जो मुगलों का स्थान ले रहे थे, यह चाहते थे और आशा रखते थे कि राजपूत मराठों के प्रति भी वफादार रहेंगे और जब ऐसा नहीं हुआ तो सन् 1751 से दोनों का संघर्ष काल शुरू हो गया। विदेशी आक्रमणों ने मुगल शक्ति का अन्त कर, मराठों को उनका स्थान दिलाकर, राजपूतों को स्वतन्त्र होने का अवसर प्रदान कर, मराठों व राजपूतों के साम्राज्यवादी हितों को टकरा दिया और दोनों जातियों में तनाव बढ़ता गया।

अराजकतापूर्ण राजस्थान की राजनीति में मराठा राजपूत संघर्ष की शुरुआत 10 जनवरी 1751 ई. को प्रारम्भ हुई जब माधोसिंह का राज्याभिषेक जयपुर में हुआ था। इसके कुछ ही वर्ष बाद राजपूत-मराठा कशमकश शुरू हो गई। रुधिर की होली खेलने वाले वीर राजपूत अब अपने देश को लूटने वाले मराठों का बाल भी बांका नहीं कर सकते थे। उनके भयानक आक्रमणों

को रोकने के लिये ये राजपूत राजा अपने दूतों के साथ अमूल्य उपहार भेजा करते थे। उन्हें प्रसन्न करते रहते थे और उनकी सेना और सर को प्रसन्न रख कर जैसे तैसे अपना वंश और राज्य बचाते हुए थे इस। न राजस्थान को दरिद्र बना दिया। यह दशा 1818 तक रही, अब हेस्टिंग्ज ने राजस्थान को मराठों के दमन से बचाया।

अब हम यह देखें कि इन तीन कालों में (1710-1751 तक 1751-17 तक और 1792 से 1818 तक) राजस्थान की मुख्य रियासतों पर मर का क्या प्रभाव पड़ा या इनके मराठों से कैसे सम्बन्ध रहे। ये तीन रा मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर हैं।

मेवाड़ और मराठे

मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर मराठों ने अपना महल बना चाहा अतः राजपूतों पर अधिकार स्थापित करना स्वाभाविक था बाजीराव प्रथम की विस्तार वादी नीति को सफल बनाने के लिये मराठों ने नर्मदा पार की तो मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह का मन सभी घा काओं से कांप उठा। उस समय राजपूत शासक न योग्य थे और न उ एकता थी। शिवाजी के वंशजों ने अपने ही मेवाड़ के राणाओं पर अत्याच शुरू कर दिये।

दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण, कत्ले-आम और बालीस क रुपये की नकदी का नुकसान भी राजस्थान को अछूता छोड़ गया। देश इस दुर्घटना का राजस्थान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मेवाड़ का मुख्य भा अब बिलकुल स्वतंत्र था। इन दिनों मेवाड़ राज्य की लम्बाई एक सौ चाली मील और चौड़ाई एक सौ तीस मील थी। राज्य में दस हजार से अधि नगर व गाँव थे। लेकिन 1710 से 1850 तक मराठों के सम्पर्क में र कर 150 वर्षों में मेवाड़ की जो दुर्दशा हुई उसका अध्ययन हम निम्नलि बातों से कर सकते हैं। —

1. मूक मैत्री युग —महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय 1710 ई. में मेवा के सिंहासन पर बैठे। उन्होंने 24 वर्ष तक राज्य किया। टाड महोदय उन राज्याभिषेक 1716 में और मृत्यु 1734 में बताते हैं।[1] उनके शासन काल में मराठों से मेवाड़ के संबंध मित्रतापूर्ण थे। इस शान्ति व मित्रता के युग में स्मरण रखने योग्य दो तीन बातें ही हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि शिवाजी के वंशज मेवाड़ को अपनी भूमि मानते थे और मेवाड़ के राणाओं को

---

[1]टाड राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 241

'रंगा' कहकर सबोधित करते थे। दूसरी स्मरणीय मित्रता की बात यह है कि राणा संग्रामसिंह ने अपने समय में शिवाजी के परिवार से सबंध स्थापित कर लिये थे। मेवाड़ के रघुवीरसिंह सिसोदिया को राजा मालोजी के वश में कपोर नारायण राव के गोद भेज दिया था। कवि श्यामलदास इसका खंडन वीर विनोद में करते हैं किन्तु श्री महर्जीन इसे मान्यता देते हैं।

तीसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध शम्भाजी का रामनगर की राजकुमारी से विवाह था। ये तीनों ही बातें विरोधी लगती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुसंधान माँगता है किन्तु यदि ये कल्पना मात्र भी है, तो भी यह तो प्रमाणित होता ही है कि इस युग में मराठे और मेवाड़ के बीच मूक मैत्री थी जिसका न तो लिखित प्रमाण ही मिलता है और न जिसे खण्डित ही किया जा सकता है। राणा संग्रामसिंह द्वितीय अपने जीवन काल में ही यह समझ गये थे कि आने वाले समय में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति मेवाड़ को भी रौंद डालेगी अत अपने जीवन काल में संग्रामसिंह ने जयपुर के राजा जयसिंह की सहायता से मेवाड़ के एक नगर हुरड़ा में सारे राजपूत राजाओं का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें राजस्थान की रक्षा के लिये राजपूतों का संगठन बनाया गया। डॉ० मथुरालाल शर्मा अपनी पुस्तक 'जयपुर राज्य का इतिहास' में इस सम्मेलन का सारा श्रेय केवल सवाई जयसिंह को दे देते हैं जबकि वास्तव में इस विचार का प्रचार महाराणा संग्रामसिंह ने किया था। वे जयसिंह से आगूंचा स्थान पर मिले जिसके फलस्वरूप हुरड़ा सम्मेलन हुआ था। इस मूक मैत्री युग के इस सम्मेलन को अलग से देखना उचित होगा।

2. हुरड़ा सम्मेलन—इस सम्मेलन के जन्मदाता महाराणा संग्रामसिंह का सम्मेलन के कुछ समय पूर्व 1734 में देहान्त हो गया। डॉ० कृष्ण स्वरूप गुप्ता ने अपने शोध प्रबन्ध में सिद्ध किया है कि यह सम्मेलन मेवाड़ के राणा ने बुलाया था। जो भी हो यह तो स्पष्ट है यह सम्मेलन मेवाड़ के एक छोटे से कस्बे हुरड़ा में हुआ था। इसलिए इसे मेवाड़ की प्राप्तियों में ही गिनना उचित होगा। संग्रामसिंह की मृत्यु के 40 दिन बाद ही राणा जगतसिंह ने इस सम्मेलन में भाग लिया। यह सम्मेलन 17 जुलाई, 1734 को प्रारम्भ हुआ। डॉ० कृष्ण स्वरूप गुप्ता का कहना है कि—"महाराणा जगतसिंह आमोद प्रमोद के शौकीन थे अत. उनसे यह आशा करना व्यर्थ था कि वह मराठों पर उतनी सतर्कता से ध्यान देता, जितना उसके पिता संग्रामसिंह ने दिया।"

हुरड़ा सम्मेलन के छः उद्देश्य थे—

1. मराठों के आक्रमण से राजस्थान की रक्षा के लिये राजपूत राजाओं को संगठित करना।

2. जयसिंह अपना राज्य विस्तार करना चाहता था। यह तभी हो सकता था जब वह मराठों का विस्तार रोक सके। इसलिए वह मराठों के विरुद्ध राजपूत संगठन चाहता था ताकि उसकी राज्य विस्तार इच्छा पूरी हो सके।

3. जोधपुर का राजा अभयसिंह गुजरात में राज्य विस्तार चाहता था। यह भी मराठों पर प्रतिबन्ध लगने से ही सम्भव हो सकता था।

4. मराठों ने सवाई जयसिंह को मन्सौर के युद्ध में हरा दिया था। वह मराठों से बदला लेना चाहता था।

5 मराठों ने बूंदी के राजा बुद्धसिंह को पुनः गद्दी पर बिठाकर राजस्थान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप शुरू कर दिया था जिससे सभी राजा चौकन्ने हो गये थे। इस प्रकार के हस्तक्षेप को भविष्य में रोकने के लिये यह सम्मेलन बुलाया गया था।

6. उत्तराधिकार के आन्तरिक मामले में दूसरे राजा हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

प्रतिनिधि—सम्मेलन में भाग लेने के लिये मेवाड़ के राणा जगतसिंह द्वितीय, मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह, आमेर के सवाई जयसिंह, कोटा के हाड़ा राजा दुर्जनसाल, बीकानेर के जोरावरसिंह, करोली के गोपालसिंह और किशनगढ़ के राजसिंह हुरडा आये थे। सम्मेलन में मध्य-भारत के भी कई शासक आये थे। रतलाम, शिवपुरी, ईडर, गौड़ और अन्य राजपूत राजाओं ने भाग लिया था। यह सम्मेलन केवल राजस्थान के राजाओं का सम्मेलन न होकर राजपूत राजाओं का सम्मेलन था। सच तो यह है कि राणा सांगा ने या तो बाबर के विरुद्ध राजपूतों का नेतृत्व किया था या हुरडा में राणा संग्रामसिंह ने राजपूतों को फिर एकत्रित किया था किन्तु सम्मेलनों के रूप में यह राजपूतों के इतिहास में पहला सराष्ट्रीय प्रयास था।

निर्णय—पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात् सारे राजपूत राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि तीन बातों पर अमल किया जाय—

1 एक सगठित राजपूत सेना तैयार की जाय जिसमें सभी राजपूत राजा अपनी अपनी सेना का एक भाग भेजेंगे। यह सेना वर्षा समाप्त होने पर कोटा के पास रामपुरा में एकत्रित होगी। और वहाँ से उसे मराठों के विरुद्ध भेजा जायेगा।

2 मराठों की घुस-पैठ को रोकने के लिये राजपूत मुगल बादशाह से
माँग इस हेतु एक प्रार्थना बादशाह को भेजी जाय ।

3. मराठो से लड़ने वाली राजपूत सेना मे मेवाड़, कोटा, जयपुर और
की सेना की प्रधानता होगी और ये शासक भी युद्ध मे भाग लेंगे ।

इस प्रकार मुगलो की मदद से एक दिन को आपसी झगड़े भूलकर
कागज पर एक हो गये ।

परिणाम—हुरड़ा सम्मेलन इसलिये बुलाया गया था कि राजस्थान मे
के प्रवेश को रोका जाय । लेकिन सवाई जयसिंह और दुर्जनसाल के
के सिवा किसी ने न तो अपनी सेना ही भेजी और न खुद ही आया । दोनो
कोटा से 22 मील दूर मुकन्दरा घाटी तक गये और लौट आये । मराठो
अभियान एक कल्पना मात्र बन कर रह गया और हुरड़ा समझौता
कागजी दस्तावेज मात्र । यह सम्मेलन अपने लक्ष्य मे पूर्णतया असफल
मराठों को जब इस प्रकार की योजना का पता चला तो उन्होंने मालवा
अधिकार करने के बाद मेवाड़ और अन्य राज्यो पर आक्रमण व लूटमार
कर दी । सवाई जयसिंह ने अलग से मराठो से संधि कर ली । वह 8
1736 को किशनगढ़ के पास बाजीराव पेशवा से मिला और मराठो
शाह से अधिक से अधिक लाभ दिलाने की चेष्टा करने का वादा कर
राज्य को तो बचा लिया और मेवाड़ व मारवाड़ को अपने भाग्य पर
दिया । यह जयसिंह की कूटनीतिक चाल थी । उसने मराठों का आतंक
करने के लिये उनसे संधि कर अन्य राजाओ के साथ विश्वासघात किया ।
हुरड़ा सम्मेलन उच्च आदर्शों का गर्भाधान था जो स्वार्थ के धमाको
पतन का दुखदाई रूप धारण कर गया ।

3. मराठे मालवा में—मराठो ने 1699 ई० मे पहली बार मालवा
प्रवेश किया था । और 1710 के बाद तो उनका मालवा प्रवेश एक साधा-
रण बात हो गई थी । महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय को एक तरफ मराठों का
भय सता रहा था और दूसरी तरफ वे उनके दरबार मे अपना राजदूत रख
कर संबंध बनाये रखना चाहते थे । भाईचारे को बनाये रखने के लिये मेवाड़
का दूत बाघसिंह कई वर्षों से शाहू के दरबार में रहता था । उसी ने शाहू और
सामन्तो मे समझौता करवाया था । बाघसिंह की मृत्यु के बाद उसका
जयसिंह मेवाड़ का दूत बनकर पूना में रहता था । इस मित्रता के
बावजूद, सवाई जयसिंह के आग्रह पर, राणा संग्रामसिंह ने अप्रैल 1717 मे
सेना मराठों को मालवा में रोकने के लिये भेज दी । उस समय जयसिंह

मालवा का सूबेदार था। मेवाड़, जयपुर की मिली जुली सेना ने मराठा सेना को दिवलपुर के स्थान पर हराकर पीछे हटा दिया। उसी समय राणा संग्रामसिंह का प्रतिनिधि बाघसिंह शक्तावत राणा की तरफ से सिरोपाव देकर शाहू जी भौंसले से मित्रता कर रहा था। राणा संग्रामसिंह ने किस उद्देश्य से सेना भेजी यह बात स्पष्ट नहीं है फिर भी वह 1717 में मराठों की नीति व कार्य के आधार पर मालवा से वापस भेजने में सफल हो गया था। कानाजी भौंसले ने आक्रमण न करने का वादा किया और नर्वदा के दक्षिण में चला गया। यह संग्रामसिंह की महत्वपूर्ण सफलता थी और बाजीराव प्रथम के पेशवा होने तक मालवा मराठों के प्रकोप से बच गया।

दिवलपुर के युद्ध से मराठे महाराणा से शत्रुता रखने लगे थे। फरवरी 1726 में उन्होंने मालवा की सीमा पर मेवाड़ के कुछ गाँवों को लूटा। संग्रामसिंह ने कुंवर उम्मेदसिंह को भेजा जिसने मराठों को पीछे हटा दिया। शाहू को जब यह पता चला तो उसने अपने सरदारों को मेवाड़ पर आक्रमण न करने का आदेश दिया क्योंकि मेवाड़ और मराठे दोनों का लक्ष्य हिन्दू राज्य की स्थापना था। उसी समय जयसिंह ने मुगल सेना के साथ मराठों पर आक्रमण करना चाहा। उसने संग्रामसिंह को साथ ले लिया। तीसरी बार दोनों राजाओं ने मिलकर मराठों को मालवा से निकालने [illegible] किया। यह सन्धि 6

जयसिंह मन्दसौर के युद्ध में बुरी तरह हार गया। होलकर ने फरवरी, 1733 ई० में मन्दसौर के नजदीक जयसिंह को पराजित कर दिया। जयसिंह ने मराठों को 5 लाख रुपये हरजाने के दिये। राणा संग्रामसिंह ने भी 5 लाख रुपये देने का वादा किया। तीन लाख उसी समय दिये गये और दो लाख एक वर्ष के अन्दर-अन्दर देना तय हुआ। मन्दसौर की पराजय मेवाड़ व जयपुर की ही नहीं राजपूतों की पराजय थी। यहीं से मराठा मेवाड़ मित्रता समाप्त हो गयी। महाराणा संग्रामसिंह का देहान्त 11 जनवरी, 1734 ई० को हो गया और उनके साथ ही मराठा मेवाड़ मित्रता का भी अन्त हो गया।

4. मराठे मेवाड़ में—यह तो स्पष्ट है कि राणा संग्रामसिंह ने अपने जीते जी मराठों को मेवाड़ में प्रभाव स्थापित नहीं करने दिया। मराठों के दरबार में बाजसिंह को दूत बनाकर रखना, पारिवारिक सम्बन्ध बनाये रखना, इस्लामपुर में मराठों को पराजित कर कूटनीति से उन्हें मालवा से बाहर भेजना, जयसिंह से संधि कर मराठों पर हमला करना और हुरड़ा सम्मेलन बुलाना आदि पाँच ऐसे महत्वपूर्ण कदम थे, जिन्होंने मेवाड़ के इस अन्तिम महत्वपूर्ण हिन्दू राणा को राजस्थान के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिला दिया। उसकी मृत्यु के बाद जिस तरह बाँध टूटने के बाद बाढ़ का पानी सारे देश में फैल जाता है उसी प्रकार मराठे सारे राजस्थान पर छा गये।

महाराणा संग्रामसिंह के उत्तराधिकारी जगतसिंहजी में नेतृत्व के गुण नहीं थे। हुरड़ा सभा उनकी लापरवाही से असफल रही थी। टाड महोदय का कहना है कि—'वह अपने हाथियों की लड़ाई में अधिक आनन्द अनुभव करता था न कि मराठों को राजपूताने से बाहर रहने देने में।"[1] मेवाड़ के सामन्त एक दूसरे के शत्रु हो गये थे। स्वार्थ सर्वोपरि साधना बन गया था। असंतोष बढ़ता जा रहा था और दरबारी राणा जगतसिंह से भी असंतुष्ट थे।

आपसी फूट ने राजपूतों को मराठों के विरुद्ध एक नहीं होने दिया। राणा के वफादार सेवक रावत कुबेरसिंह ... एक बार फिर राज- संगठन बनाने ...
... व जयपुर के
... में जयसिंह
... में बाँट

बूँदी के राजाओ को मोहरो की तरह बूँदी की गद्दी से उठा उठा कर मे लगे हुए थे। जोधपुर के महाराज अभयसिंह और जयपुर के जय शत्रुता थी अतः सयुक्त मोर्चा बनाने का यह दूसरा प्रयास भी, पहले की ही असफल रहा।

शाहू की प्रार्थना को ठुकरा कर राणा ने और बडी भूल की। शा कोई सतान नही थी। वह राणा के छोटे भाई नाथसिंह को गोद लेना च था। अपने झूठे अहम मे राणा ने शाहू के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। राणा ने नाथसिंह को शाहू के गोद भेज दिया होता तो रंग-मच का नक्श बदल जाता और शाहू के जीवन काल मे मित्रता रहने के बाद नाथसिंह के मेवाड महाराष्ट्र का मेल और भी प्रगाढ हो जाता। शाहू को अप्रसन्न राणा ने स्वय मेवाड की शाति को आग लगा दी।

राधाबाई की तीर्थ यात्रा—फरवरी 1735 मे बाजीराव पेशवा माता राधाबाई तीर्थ यात्रा के लिये उत्तर भारत मे आई। मार्ग मे वह उ पुर व नाथद्वारा भी रुकी। महाराणा ने 6 मई, 1735 को उदयपुर मे पेश की माता का भव्य स्वागत किया। हजारो रुपये महमान नवाजी पर ख किये गये और जाते समय अनेक अमूल्य उपहार भी दिये। यह यात्रा रा नीतिक महत्व की थी और इससे लाभ उठाकर मराठों ने राजपूत राजाओ राजनीतिक विचारो का आदान प्रदान शुरु किया। राणा ने जयसिह से कह पेशवा की माता पर से जजिया कर माफ करवा दिया। इस यात्रा के ब बाजीराव पेशवा स्वय मारवाड आया।

बाजीराव उदयपुर में—जयपुर के राजा जयसिह ने बाजीराव निमत्रित किया था। वह मुगलो से मालवा मे अधिक सुविधा पाने आ रह था। वह बासवाडा होता हुआ 3 फरवरी, 1736 को उदयपुर पहुँचा। वी विनोद के अनुसार राणा ने उसे चम्पा बाग मे ठहराया।[1] पेशवा राणा से बनेडा की जागीर लेना चाहता था। इसके लिये पहले भी कई पत्र लिखे जा चुके थे। राणा ने बनेडा देने मे इन्कार कर दिया लेकिन साथ ही बनेडा की आमदनी पेशवा को देने का वचन दिया। पेशवा बनेडा लेकर मेवाड का स्व ... का सामन्त बनना चाहता था। महाराणा ने पेशवा से सधि की। स नीन लाख नकद, कई आभूषण और पाच घोडे भी दिये। स अनुसार राणा ने पेशवा को आठ साल मे, 1735 से 1743 तक

[1] वीर विनोद—पृष्ठ 1222.

ग्यारह लाख पच्चीस हजार रुपया देना स्वीकार किया और उसके बाद प्रति वर्ष एक लाख पच्चीस हजार रुपया देते रहने का वचन दिया।

बाजीराव की उदयपुर यात्रा का सीधा फल यह निकला कि राणा ने मराठों की अधीनता स्वीकार कर ली। महाराणा को शाहू के बराबर मानकर तथा अपने आप को मेवाड़ का सामन्त कह कर भी बाजीराव बाजी मार गया। यह एक प्रकार से चौथ थी और जब कभी मेवाड़ के शासकों ने इसके देने में विलम्ब किया तो मराठों ने शक्ति के जोर से वसूल कर ली। 'वंश भास्कर' में यह भी कहा गया है कि राणा ने बाजीराव की हत्या के इरादे से उसे सात फरवरी, 1736 को पिछोला झील में स्थित महल में भोजन पर नि-
किया। पेशवा को षड्यन्त्र का पता चल गया, वह राणा पर बहुत नारा-
जिसे पाँच लाख रुपया और देकर राणा ने उसे शांत किया। यह घटना क-
कवि की कल्पना लगती है। पेशवा पाँच दिन उदयपुर रहकर आठ फ-
1736 को जयपुर चला गया। उसकी उदयपुर यात्रा मेवाड़ की परा-
का आरम्भ है।

जयपुर का उत्तराधिकार युद्ध—जयसिंह ने 1708 ई० में मेव-
राजकुमारी से विवाह करते समय यह संधि की थी कि उदयपुर की राज-
से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही जयपुर का राजा बनेगा। इस राजकुम-
माधोसिंह का जन्म हुआ था। सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद उसक-
लड़का ईश्वरसिंह जयपुर का राजा बना। उस समय से पहले ही माधोसि-
रामपुरा की जागीर दे दी गयी थी किन्तु वह सन्तुष्ट नहीं था और जयपु-
राजा बनना चाहता था। उदयपुर का राणा जगतसिंह अपने भानजे की
कर रहा था। कोटा का राजा दुर्जनसाल भी इनसे आ मिला। बूँदी की
से हटाये गये राजा बुद्धसिंह का नवयुवक बेटा उम्मेदसिंह भी इस
शामिल हो गया। मार्च एक व दो, 1747 को संयुक्त सेना को ईश्वरीसि-
सेनापति हरगोविन्द नाटाणी ने राजमहल के युद्ध में बुरी तरह पराजित कि-
दिल्ली से लौटते पेशवा ने दोनों भाइयों में समझौता करवाना चाहा
पेशवा की शर्तें ईश्वरीसिंह को मंजूर नहीं हुईं। अत पेशवा ने बगरू न-
स्थान पर ईश्वरीसिंह को युद्ध में हराकर संधि करने पर बाध्य किया। म-
सिंह को पाँच परगने[1] और दिये और युवक राजा उम्मेदसिंह को बूँदी
राज्य वापस दिया गया।

महाराणा जगतसिंह अभी भी सन्तुष्ट नहीं हुए थे। वे अपने भा-
माधोसिंह को जयपुर का राजा बनाना चाहते थे। उधर ईश्वरीसिंह ने पे-

1. टोंक, टोडा, मालपुरा, निवाई और रामपुर।

सरदारों का समर्थन भी प्राप्त था। सींधिया और होल्कर 15 लाख रुपये की भेंट पाकर नर्यासिंह का समर्थन करने आये। इसी बीच चार साल के शासन के बाद प्रतापसिंह II का देहान्त हो गया। उसके लड़के राजसिंह ने भी मराठों से सहायता माँगी और दो उत्तराधिकारियों की लड़ाई सुलझाने होल्कर उदयपुर आया और 9 मार्च 1755 को राजसिंह व नर्यासिंह के बीच समझौता करवा दिया। राणा ने नर्यासिंह का तीन लाख रुपये सालाना की जागीर दी। साथ ही महाराणा ने मराठों को 25 लाख रुपया सालाना भेंट देने का वादा किया। यह बहुत बड़ी रकम थी जिसका भुगतान कभी पूर्ण नहीं हो सका अत. राणा राजसिंह ने मेवाड़-मालवा सीमा के कई जिले मराठों को दे दिये।

दुर्भाग्य से राणा राजसिंह भी 1761 में मर गये। उनकी मृत्यु के बाद उनके एक पुत्र हुआ। इस बीच राजसिंह के चाचा अरिसिंह को राणा बना दिया गया। अब फिर मेवाड़ की गद्दी के दो हकदार हो गये। एक अरिसिंह जो विधिवत राणा बने थे और दूसरा राजसिंह का नवजात राजकुमार। स्वार्थी नर्यासिंह का लड़का भीमसिंह व अमरचन्दसिंह नवजात राजकुमार को राणा बनाना चाहते थे। महाराणा अरिसिंह को मल्हार राव ने कई पत्र लिखे और हिसाब साफ करने को कहा किन्तु धन के अभाव में यह काम नहीं हो सकता था। उसी बीच नर्यासिंह के लड़के भीमसिंह ने मराठों से अरिसिंह को गद्दी से हटाकर राजसिंह के बालक राजकुमार को राणा बनाने की प्रार्थना की। राणा अरिसिंह ने 49 लाख रुपये देकर अपना पीछा छुड़ाया। लेकिन यह परेशानी तो हर साल की थी अगले वर्ष 1765 में सींधिया का दीवान उदयपुर पहुँचा उसे 25 लाख प्रतिवर्ष वाली किश्त चाहिये थी। राणा सिर्फ एक लाख 75,000 रुपया दे पाये। अतः मराठों ने जावद जिले को लूटा, तुकोजी होल्कर ने मेवाड़ के गाँवों को लूटना शुरू किया। विवश होकर कर्ज लेकर महाराणा को सारे कर का भुगतान करना पड़ा। सींधिया ने अपने सरदारों को वापस बुला लिया।

भीमसिंह के प्रयास जारी रहे। उसने राणा राजसिंह के लड़के रतनसिंह को 1765 में कुम्भलगढ़ में मेवाड़ का राणा घोषित कर दिया और तब से अरिसिंह की मृत्यु सन् 1773 तक अरिसिंह और रतनसिंह के बीच मेवाड़ की गद्दी के लिये झगड़ा चलता रहा। रतनसिंह की मृत्यु बाल अवस्था में चेचक से हो गई किन्तु भीमसिंह आदि ने एक नकली लड़के को

मेवाड़ से बाहर निकालना चाहता था। वह जब महाराणा भीमसिंह की शादी हुई तो आवश्यकता के अनुसार राजमाता को धन नहीं दे सका। जबकि मानी लड़की की शादी में खूब धन खर्च करता रहा। इससे राजमाता नाराज हो गई और उसने राव भीमसिंह चूडावत को मंत्री पद से हटाकर सोमचन्द शक्तावत को मंत्री बना दिया।

सोमचन्द ने ताकत में आते ही पहले तो मराठे सरदार सींधिया को लिख भेजा कि मेवाड़ का पूरा कर्ज चुक गया है अतः जीते हुए प्रदेश वापस लौटाये जाँय। जब सींधिया ने कोई उत्तर नहीं दिया तो सोमचन्द ने कोटा की सहायता लेकर पहले निम्बाहेड़ा जीता और फिर रामपुरा पर अधिकार कर लिया। रामपुरा का मराठा सरदार शिवाजी नाना, अहिल्याबाई और सिंधिया से सहायता लेकर मेवाड़ पर चढ़ आया। रामपुरा पर मेवाड़ का आक्रमण मराठों ने अपने पर आक्रमण समझा और जनवरी 1788 को मराठा सेना ने सोमचन्द की अधीनता में मेवाड़ की सेना को मन्दसौर में 26 जनवरी को बुरी तरह हरा दिया। मराठों ने अपने खोये हुए प्रदेश वापस ले लिये। यह युद्ध मन्दसौर के पास हरकिया खाल में हुआ था। इस युद्ध में हार जाने से शक्तावतों की शक्ति कुछ क्षीण हो गई और चूडावत-शक्तावत युद्ध शुरू हो गया। सबसे पहले रावत अर्जुनसिंह ने 24 अक्टूबर 1789 को सोमनाथ की हत्या कर दी।[1] इस घटना से राणा भीमसिंह भी अपने पुराने मंत्री भीमसिंह चूडावत का विरोधी हो गया। कोटा का दीवान और महाराणा मिलकर भी भीमसिंह चूडावत से चित्तौड़ नहीं जीत सके। उन्होंने माधोजी सींधिया से सहायता माँगी। वह 1780 में जयपुर और 1790 में जोधपुर को हराकर सारे राजस्थान में अपना प्रभाव जमा चुका था। चूडावत-शक्तावत युद्ध ने उसे मेवाड़ पर अधिकार करने का मौका दे दिया। जुलाई 1791 में माधोजी सींधिया मेवाड़ आया। उसके डर से भीमसिंह चूडावत चित्तौड़ छोड़ने को तैयार हो गया लेकिन शर्त पर कि कोटा का दीवान जालिमसिंह जो शक्तावतों की मदद कर रहा था, मेवाड़ छोड़ देगा। माधोजी के प्रयत्नों से चित्तौड़ राणा भीमसिंह को मिल गया। चूडावत-शक्तावत युद्ध तो समाप्त हो गया पर मेवाड़ को इसकी भारी कीमत देनी पड़ी। मेवाड़ में सींधिया का प्रतिनिधि रहने लगा, जिसे नायब कहा गया।

---

[1] टाड राजस्थान—भाग—1. पृष्ठ—521

पहला नायब अम्बाजी इंगले नियुक्त हुआ। और आपसी लड़ाई से मेव मराठों के पूरे चंगुल में फंस गया।

7. अम्बाजी इंगले का शासन—माधोजी सींधिया जनवरी 1792 में मेवाड़ छोड़कर गया उसने अपना नायब अम्बाजी इंगले को मेवाड़ में छोड़ दिया। अम्बाजी इंगले एक योग्य शासक था। वह 1799 तक सा वर्ष तक मेवाड़ में रहा। उसके समय में मेवाड़ ने मराठों का सारा क चुका दिया। महाराणा अम्बाजी इंगले को प्रसन्न रखने को उस पर प्र वर्ष लगभग आठ लाख रुपया खर्च करते थे। अम्बाजी की सहायता से राण भीमसिंह ने डूंगरपुर मन्सोरगढ़ और बदनौर को जीतकर अपने तीनों सरद को बाँट दिया। मेवाड़ के पुराने विद्रोही रतनसिंह को भी पराजित क कुम्भलगढ़ पुन प्राप्त कर लिया। अम्बाजी की सहायता से राणा ने अन्य विद्रोही सरदारों को भी एक एक कर अधीन कर लिया और तीन वर्ष के समय में 1795 तक पूरा मेवाड़ वापस महाराणा की अधीनता में आ गया। श्री ओझा का कहना है कि—"कुम्भलमेर विजय के साथ दीर्घकाल से चले आ रहे गृह युद्ध का अन्त हो गया।"[2]

महाराणा ने रायपुर, राजनगर, गुरला, गदरमाला, हमीरगढ़ व जहाजपुर पर पुन अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।[2] टाड महोदय का कहना है कि "महाराणा की आमदनी पचास लाख रुपये सालाना से बढ़ गयी।"[3] इस प्रकार अम्बाजी इंगले के सहयोग से महाराणा भीमसिंह ने कुछ समय के लिये पूरे मेवाड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर शान्ति व समृद्धि की ओर कदम उठाया। तभी पेशवा ने अम्बाजी इंगले को उत्तर भारत का नायब बनाकर भेज दिया और उसकी जगह गणेश पन्त को मेवाड़ का नायब नियुक्त किया। गणेश पन्त इतना योग्य नहीं था। वह मेवाड़ के इन दरबारियों को एक नहीं रख सका। उसी समय मेवाड़ के प्रश्न को लेकर होलकर और सींधिया में संघर्ष शुरू हो गया। दो मराठा छावनियों की लड़ाई से मेवाड़ का विनाश, लूटमार और अराजकता पुनः शुरू हो गई अम्बाजी इंगले के जाने के बाद मेवाड़ की इतनी दयनीय दशा हो गई जितनी पहले

---

1. ओझा—राजस्थान का इतिहास—भाग—2. पृष्ठ 993.
2 वीर विनोद—पृष्ठ-1717
3 टाड—राजस्थान—भाग एक—पृष्ठ—521.

हृदयस्पर्शी है। मेवाड़ उजाड़ हो गया, राणा असमर्थ हो गया और मराठों ने मेवाड़ को अपना प्राखेट स्थल बनाकर राजस्थान के इस हरे भरे देश को श्मशान के समान बना दिया। अब से अंग्रेजों के आगमन तक का समय मेवाड़ की फूट और विनाश का समय है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मराठों की आपसी फूट से उनकी शक्ति का भी पतन शुरू हो गया। लार्ड वेलेजली ने पेशवा को पराजित कर सहायक सन्धि स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया एक एक कर सभी मराठे सरदार, गायकवाड़ फिर होल्कर फिर सींधिया व भौंसले को भी अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् 1818 में लार्ड हेस्टिंग्ज ने राजस्थान के राजाओं से अलग सन्धि कर ली जिसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिस आपसी फूट ने मेवाड़ को उजाड़ दिया उसी फूट ने मराठों की शक्ति को भी समाप्त कर दिया।

8. मराठों का प्रभाव—मुगलों के साम्राज्य का युग 1740 तक माना जाता है। उसके बाद के लगभग 80 वर्ष (1818) तक भारत पर मराठों का आधिपत्य रहा। राजपूत मराठा संघर्ष का मूल कारण धन प्राप्ति था। वे राजस्थान को अपने राज्य में नहीं मिलाना चाहते थे। प्रतिवर्ष नियमित धन प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था। राजपूतों की आन्तरिक कलह से उन्होंने मेवाड़ भूमि को लूटा और अपार धन प्राप्त किया। वे अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल रहे। "मराठे मेवाड़ में सार्वभौमिक सत्ता स्थापित कर चुके थे। उनके प्रतिनिधि राणाओं के सलाहकार थे।"[1]

मेवाड़ के कुछ भाग स्थाई रूप से मराठों के अधीन चले गये जैसे रामपुरा, निम्बाहेड़ा आदि।

मराठों की देखादेखी जोधपुर और कोटा राज्यों ने भी गोडवाड़ और जहाजपुर पर क्रमशः अधिकार कर लिया।

जिस मेवाड़ ने मुगलों को शक्ति के आगे सर नहीं झुकाया था वह इतना दुर्बल हो गया कि अंग्रेजों के आगे शस्त्र उठाने का साहस भी नहीं कर सका। सारे सामन्त स्वतंत्र हो गये और राजस्थान के इस श्रेष्ठ राज्य का गौरव, उसकी वीरता, पुस्तकों की शोभा मात्र बनकर रह गयी।

1. गहलोत—मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध—पृष्ठ 68.

लोग भाग मेवाड़ छोड़ छोड़कर अन्य राज्य में जा बसे। मेवाड़ की जनसंख्या कम होती चली गयी। हरी भरी भूमि पर मराठों के दांत गड़े रहने से खेती भी चौपट हो गयी। प्रतिदिन के संघर्ष ने व्यापार को भी चौपट कर दिया। बड़े बड़े व्यापारिक केन्द्र उजड़ गये। भीलवाड़ा उजड़ते उजड़ते एक छोटा सा गाँव रह गया। राणा प्रजा से कर्ज लेकर काम चलाने लगे। हर साल अकाल पड़ने लगे। मेवाड़ के आर्थिक जीवन पर मराठे यमराज बन कर बैठ गये।* और अकबर महान के सपनों का देश अंग्रेजों की झोली का पात्र बन गया। मराठों ने मेवाड़ को उजाड़ दिया।

* गहलोत—मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध पृष्ठ -69

अध्याय 20

जयपुर और अंग्रेज

1800-1900

जयपुर और अंग्रेज

1. अंग्रेजों का आगमन—"आप जो कुछ भी कह रहे हैं उस पर त्य आप भी पूर्णतया विश्वास नही करते हैं यह तो मैं नही कह सकता परतु हुँ जालिम की इस बात को याद रखना कि वह दिन दूर नही है जब सारे हिन्दुस्तान मे एक ही सिक्का चलेगा।"

डॉ॰ रघुवीर सिंह, कोटा के प्रधानमन्त्री जालिमसिंह का यह वाक्य देते हैं जो उसने अंग्रेजी प्रतिनिधि कर्नल टाड से 1817 में कहा था। इस वाक्य से स्पष्ट है कि राजस्थान के राजा यह अनुभव करने लगे थे कि अंग्रेजो का आधिपत्य धीरे-धीरे सारे राजस्थान पर भी छा जायेगा। 17 वी शताब्दी मे व्यापार के लिए इंग्लैंड से आये कुछ मुट्ठी भर साहसी जवानों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से भारत मे व्यापार शुरू किया था। 1615 ई. मे जहाँगीर ने इन्हें व्यापार करने की स्वीकृति प्रदान कर देश मे अंग्रेजो का आगमन शुरू कर दिया। इन लोगो के साथ पुर्तगाली, डच व फ्रांसिसी भी भारत मे आये। किन्तु नीति निपुण अंग्रेजो ने एक-एक कर अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियो को भारत से दूर भगाया। क्लाइव ने अर्काट को जीतकर अंग्रेजी राज्य का आरम्भ किया और 1818 में पिंडारियो को पराजित कर मराठों की शक्ति का विध्वंश कर लार्ड हेस्टिंग की अधीनता मे अंग्रेज राजस्थान के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत के स्वामी बन गये। धन कमाने, भाग्य बनाने की लालसा से साहसी व अनुशासन पूर्ण अंग्रेजों ने भारत के मुसलमान व मराठा शासकों को गद्दियो से हटाकर अपने राज्य को सुदृढ़ बना लिया था। लार्ड वेलेजली की अधीनता मे सहायक प्रथा के माध्यम से अंग्रेजों ने मराठों की शक्ति को क्षीण कर दिया था। मराठों का सबसे बड़ा नेता पूना का पेशवा अंग्रेजो की अधीनता मे आ गया था। इन्दौर के होल्कर राजाओं को भी 1804 में पराजित कर अधीन कर लिया था। अंग्रेजी सेना का राजस्थान में पहला प्रवेश 1805 में हुआ जब सेनापति लेक ने भरतपुर को जीतकर वहाँ के राजा से 20 लाख रुपये हर्जाना लिया व सारे राजस्थान मे अंग्रेजों के प्रति एक विस्मित आश्चर्य

था। जयपुर राज्य पर से मुगलों का संरक्षण समाप्त हो गया था केवल पिंडा-रियों की लूटमार सजीव थी।

इतिहासकार टाड के शब्दों में—"समुद्र पार करके जो अंग्रेज इस देश में आये थे केवल उनकी शक्ति इन दिनों सजीव व जागृत हो रही थी। इस समय में जगतसिंह की आँखें बराबर इन अंग्रेजों की तरफ देख रही थी। उसने यह समझकर सन् 1803 में अंग्रेजों के साथ सन्धि कर ली।"

3. 1803 की सन्धि—जगतसिंह 19 वर्ष का गद्दी पर बैठा था। कुछ समय तक वह पिता की मृत्यु का बहाना कर अंग्रेजों के प्रस्ताव को टालता रहा किन्तु जब वेलेजली के प्रतिनिधियों ने जयपुर पर आक्रमण की धौंस दी तो जगतसिंह डर गये और जसवन्तराव होल्कर के मना करने पर भी उसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। अंग्रेज सेनापति जनरल लेक अपनी सेना के साथ जयपुर तक आ पहुँचा फलस्वरूप जयपुर व अंग्रेजों के बीच सन्धि हुई जिसकी प्रमुख धारायें निम्न हैं—

(1) कम्पनी व जगतसिंह और उसके उत्तराधिकारी सदा मित्र बने रहेंगे।

(2) एक का मित्र, दूसरे का मित्र, एक का शत्रु दूसरे का शत्रु होगा।

(3) जयपुर के आंतरिक मामलों में कम्पनी कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। जगतसिंह को अपने राज्य में शासन का पूर्ण अधिकार होगा।

(4) यदि कोई तीसरी शक्ति (मराठे) अंग्रेजों पर आक्रमण करेगी तो जगतसिंह सेना सहित कम्पनी की तरफ से लड़ेगा।

(5) जगतसिंह कम्पनी की सीमा को मान्यता देगा और यदि उसके राज्य में कोई सीमा के झगड़े हुए तो कम्पनी की मदद से उन्हें सुलझायेगा।

(6) किसी भी आवश्यक समय आमेर की सेना कम्पनी की सेना के साथ रहकर युद्ध करेगी।

(7) कम्पनी की आज्ञा के बिना जगतसिंह किसी यूरोपीय को अपने यहाँ नौकर नहीं रखेंगे।

इस सातवी धारा के बारे मे श्री गहलोत व टाड में मतभेद है। टा
का कहना है कि आमेर के राजा अंग्रेजों की स्वीकृति के बिना किसी विदे
शक्ति से सन्धि नही करेंगे तथा गहलोत कहते हैं कि जयपुर नरेश बिना अंग्रे
की आज्ञा के किसी यूरोपीय को अपनी सेना मे नौकरी नही देंगे। इस प्रका
सेना में भर्ती करने या दूसरी शक्ति से मित्रता करने का अन्तर इस धारा
है। यह सन्धि 15 जनवरी 1804 मे गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकार कर ल
गई (इसके परिणाम अत्यधिक महत्वपूर्ण थे—मराठो की लूटमार कम
गई, इन्दौर के होल्कर राजा को बहुत बुरा लगा। उसने जयपुर पर आक्र
किया मार्च 1804 मे अंग्रेजो की सेना ने होल्कर को जयपुर नही जीतने दिया
अंग्रेजो ने प्रतिक्रिया मे टोंक पर अपना कब्जा कर लिया। होल्कर जयपुर रा
की तरफ से होता हुआ उत्तर राज्य की तरफ निकल गया किन्तु जयपुर
सेना उसे रोक नही सकी। अतः अंग्रेज जयपुर से कुछ नाराज हो गये फि
फिर भी अमीर खां की लूटमार कुछ समय के लिए बन्द हो गई। हो
बाद ही यह सन्धि टूट गई क्योंकि 1805 ई० मे अंग्रेजों ने होल्कर के विरु
युद्ध मे जयपुर से सहायता मांगी और वह उन्हें नही मिली अत अंग्रेजो
स्वय इस सन्धि को बेकार समझकर जयपुर से सम्बन्ध तोड़ लिए। अंग्रे
के प्रतिनिधि ने यह आरोप लगाया कि जयपुर, उदयपुर, जोधपुर मिलक
अंग्रेजों के विरुद्ध सगठन बना रहे हैं अत लार्ड कार्नवालिस ने 3 जनवरी
1806 को सधि भग करदी। मेटकॉफ के शब्दों मे—"इस प्रकार एक वी
और विश्वासी मित्र को अंग्रेजों ने अपने भाग्य पर छोड़ दिया।"

श्री टाड के शब्दों मे—"सधि टूटने का अपराध राजा जगतसिंह का
नही कम्पनी पर था।"

जो भी हो सधि टूटने से पिंडारियों ने राजस्थान को फिर से लूटना
शुरू किया और कम्पनी के माथे पर एक ऐसा कलंक लग गया कि वे एक
अपने मित्र को परिस्थितियों के कारण दबाकर उससे अधिक धन [illegible]
करते थे। अमीर खां ने 1811 में जयपुर को लूटा और 20 लाख रु
की मांग की। जयपुर के राजा के पास इतना धन नहीं था, अत उसने पु
अंग्रेजों से मित्रता करनी चाही। जब अमीर खां को यह [illegible]
उसने जयपुर को बुरी तरह से लूटा और 1816 ई० में जयपुर पर
घेरा डाल दिया जयपुर के राजा ने अंग्रेजों से सहायता मांगी और 2 अप्रै
1818 को सन्धि की गई हुई—

4. 1818 की सन्धि—इस सन्धि का श्रेय जयपुर के दीवान मानजीदास को दिया जाना चाहिये जो पिछले 6 वर्ष से अंग्रेजों से सम्बन्ध सुधारने की कोशिश कर रहा था। अमीर खाँ को जब यह पता चला कि मानजीदास अंग्रेजों से मित्रता करना चाहता है तो उसने राजा जगतसिंह को बाध्य किया कि वह मानजीदास को जेल मे डाल दे। राजा ने ऐसा ही किया तभी अंग्रेज जयपुर की रक्षा के लिए आ गये और अंग्रेज प्रतिनिधि मेटकॉफ ने स्वर महाराजा के प्रतिनिधि को बुलाकर उससे दिल्ली मे सन्धि की। जब अमीर खाँ को इस सन्धि का पता चला तो वह स्वयं जयपुर राज्य से बाहर चला गया क्योंकि वह अंग्रेजों की शक्ति से डरता था। 1818 की सन्धि में 10 धारायें थी—जिसमें पहली,7 तो 1803 की दोहराई और 8 वीं धारा यह थी कि जयपुर नरेश सालाना लगान के रूप में पहले साल कुछ नही, दूसरे 4 लाख रुपया, तीसरे साल 5 लाख रुपया, चौथे साल 6 लाख, पाँचवें 7 साल, छठे साल 8 लाख रुपये देगा और उसके बाद हर साल 8 लाख सालाना खिराज अंग्रेजों को देगा।

9 वीं धारा यह थी, कि जयपुर महाराज अंग्रेजो को आराम व ! का व्यापार करने देगा।

10 वीं धारा में यह लिखा था कि जयपुर की तरफ से : रीशाल व अंग्रजों की तरफ से मेटकॉफ ने यह सन्धि की है जिसको सरकारें मानेंगी।

इस संधि का प्रभाव अत्यधिक महत्वपूर्ण था। जयपुर अंग्रेजों के अ हो गया विदेशनीति उनके हाथ से निकल कर अंग्रेजो के हाथ में आ ग लाख की सालाना खिराज जयपुर की आमदनी को देखते हुए ज्यादा क्योंकि मराठे एक साथ 2 लाख 40 हजार से अधिक नहीं लेते थे लेकिन संधि से जयपुर के राजा का प्रभाव बढ़ गया। मेटकॉफ ने जयपुर के जागीरदारों को बुलाया और 17 जून, 1818 ई॰ को उन्हें पूर्णरूप से ज के राजा के अधीन कर दिया। जो जमीन जमींदारों ने दाब ली थी वह व ले ली गई उन्हें दरबार में हाजिर होना व सेवा करना अनिवार्य कर दिया। एक ठाकुर ने विद्रोह किया और अमीर खां की सहायता से माप लीत लिया तो मेटकॉफ ने उसे हरा कर आत्मसमर्पण करने के लिये किया। इस प्रकार अंग्रेजों से मित्रता होते ही जयपुर एक सगठित शक्ति रूप बन गया जिसमें शांति समृद्धि व प्रगति के कार्य होने लगे।

5. राजमाता और स्टुअर्ट का झगड़ा—जगतसिंह का देहान्त 2 दिसम्बर, 1819 को हो गया। उनकी मृत्यु के समय उनके कोई सन्तान नहीं थी पर प्रमुख सरदारों ने मोहनसिंह नामक व्यक्ति को गद्दी पर बिठा दिया जिससे जयपुर दरबार में दो दल बन गये। राजमाता जोधपुर की राजकुमारी थी। वह मोहनसिंह को राजा नहीं बनाना चाहती थी। महाराजा जगतसिंह की मृत्यु के 4 महीने बाद राजमाता भटियाणीजी ने एक पुत्र को जन्म दिया और सरदारों ने नवजात शिशु को जयपुर का महाराजा घोषित कर दिया और राजमाता ने सारा राज्य कार्य अपने हाथों में ले लिया। मोहनसिंह केवल 4 महीने राजा रहा अब वह राजमाता और नये राजा का शत्रु हो गया। उसने अंग्रेज रेजीडेन्ट स्टुअर्ट के कान भरने शुरू किये और स्टुअर्ट यह समझने लगा कि राजमाता अंग्रेजों के हस्तक्षेप को पसंद नहीं करती है। उसी समय कोटा के प्रधान मंत्री जालिमसिंह ने कोटा राज्य पर इतना आधिपत्य जमा लिया कि असली राजा किशोरसिंह मृत्यु के भय से कोटा छोड़ कर जयपुर भाग गया व राजमाता ने उसे जयपुर में शरण दी। जालिमसिंह के साथ मिल कर टाड महोदय कोटा में अंग्रेजी आधिपत्य जमा रहे थे। अब कोटा महाराजा किशोरसिंह की मदद करना अंग्रेजों को और भी बुरा लगा और अंग्रेजों के राजमाता से सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। वास्तव में अगले कई सालों तक खींचातानी चलती रही और अंग्रेज रेजिडेन्ट यह चाहता था कि अल्पायु महाराज को जनानखाने से निकाल कर अंग्रेजों के संरक्षण में रहने दिया जाय। इस उद्देश्य से केप्टिन लॉ नामक एजेन्ट ने 2 अक्टूबर, 1825 ई० को जयपुर के 72 सामन्तों की एक सभा बुलाई। 31 सरदार राजमाता को हटाने व राजा को बाहर लाने के पक्ष में थे, 23 राजमाता के पक्ष में थे, 18 अनुपस्थित थे, किन्तु राजमाता ने एजेन्ट व सरदारों की बात नहीं मानी। यह उसकी विजय थी और एजेन्ट को झुकना पड़ा। यह संघर्ष राजमाता की मृत्यु तक बराबर चलता रहा जो 1835 तक जीवित रही। इस संघर्ष को समह योग का काल कहते हैं।

6 साँभर का प्रश्न—सांभर नमक उत्पादन का मुख्य केन्द्र है। इस नगर पर जयपुर व जोधपुर का संयुक्त अधिकार था। अप्रैल 1829 में जयपुर मालदार ने जोधपुर की सेना को बाहर निकाल कर सांभर पर अधिकार कर लिया। जोधपुर व जयपुर की सीमा पर भी सीमा युद्ध होते रहते थे। ... 1832-33 में भयानक अकाल पड़े। साधारण लोग डाकू बन गये और अजमेर से आगरा जाने वाले खजाने को लूटने लगे। अंग्रेजों को हस्तक्षेप का

मेरा मिल गया। उन्होंने डाकू व अराजकता को बन्द करने का बहाना लेकर सांभर झील व परगने पर अधिकार कर लिया। 27 जनवरी, 1835 को सेवाड़ी व सांभर पर अंग्रेजी राज्य स्थापित हो गया। राजा जयसिंह को इससे बहुत धक्का लगा और 4 फरवरी, 1835 को उसका देहान्त हो गया। कुछ लोग कहते हैं कि इन्हें जहर देकर मारा गया था। जो भी हो सांभर के चले जाने से जयपुर के व्यापार को बहुत बड़ा धक्का लगा। श्री गहलोत सांभर के चले जाने पर जनता में व्याप्त असंतोष को दिखाने के लिये प्रचलित एक लोकगीत की 2 पंक्तियां लिखते हैं कि—

"म्हारे राजा भोलो सांभर तो देदीनो अंग्रेज ने,
म्हारा टाबर भूखा रोटी तो मांगे लीखे लूण भी।"

सांभर से जयपुर को 2½ लाख की सालाना आमदनी थी वह भी नष्ट हो गयी।

7 महाराजा सवाई रामसिंह—(1835-80) गद्दी पर बैठते समय की आयु 2 वर्ष की थी। अतः राजा का काम राजमाता व चार जागीरदारों की परिषद् से चलता था किन्तु इनके प्रारम्भिक काल में भी महाराजा रामसिंह व अंग्रेजों के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। जनता अंग्रेजों से नाराज थी क्योंकि अंग्रेज रेजिडेन्ट ने योग्य मंत्री भूथाराम को प्रधान मंत्री पद से हटा दिया था अतः जयपुर की जनता ने एक दिन विद्रोह किया और अंग्रेज प्रतिनिधियों पर आक्रमण कर दिया। तीन अंग्रेज प्रतिनिधि कैप्टिन लेडलो, एल्वेस व ब्लेक। राजदरबार से मिलकर आ रहे थे तो विद्रोहियों ने इन पर आक्रमण कर दिया। कैप्टिन लेडलो व एल्वेस तो भाग गये किन्तु ब्लेक व उसके नौकर चाकर मारे गये। अंग्रेजों ने इसका बदला दमनकारी नीति से लिया। कोई एक दर्जन ठाकुरों को फांसी पर चढ़ा दिया गया और भूथाराम को आजीवन कारावास की सजा दी गई। और इस देशभक्त प्रधानमंत्री ने अपना शेष समय चुनार की जेल में व्यतीत किया। अब अंग्रेजों ने जयपुर का प्रशासन चलाने के लिये 5 सदस्यों की एक प्रशासक परिषद् बना दी और सारा राज्य कार्य अंग्रेजों के हाथ में आ गया। रामगढ़ के 2 हजार नागा सैनिकों ने वेतन न मिलने पर विद्रोह किया जिसे अंग्रेजों ने दबा दिया। जयपुर की शासन-व्यवस्था सुधारने के लिये आमदनी बढ़ाने व खर्च कम करने के लिये एक एजेन्ट को स्थायी रूप से जयपुर में रखा जाने लगा और अंग्रेजों ने जयपुर राज्य की स्थिति सुधारने के लिये सालाना खिराज को 8 लाख से घटाकर 4 लाख कर दिया। 1818-

37 लाख से एक करोड़ 35 लाख 71 हजार रुपया खिराज के रूप में ले चुके थे। अब नई व्यवस्था आवश्यक हो गई। पर मुसाहिबआन ने अंग्रेजों की अधीनता में जयपुर में कई सुधार किये। राज्य का कर्जा चुकाने के लिये अंग्रेजों ने जयपुर को अपनी तरफ से कर्ज दिया। सांभर वापस जयपुर को लौटा दिया गया। खिराज 8 लाख की जगह 4 लाख कर दी गई। श्री हनुमान शर्मा पंच मुसाहिबआन की अधीनता में जयपुर की समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"गेहूँ 1½ मन, तेल 22 सेर, रुई 22 सेर, चाँदी 7 सेर का भाव था जो स्पष्ट जनता की खुशहाली बताते हैं।"

भूमि का लगान भी बढ़ गया और 25-26 लाख तक वार्षिक लगान आने लगा। देश में खुशहाली फैल गई और खिराज से बचा हुआ 4 लाख रुपया प्रतिवर्ष विकास कार्यों में लगाया जाने लगा। सड़कें, बाँध व नहरें बनी। भरतपुर की हद से किशनगढ़ की हद तक सड़क बनी। जयपुर में महाराजा कॉलेज की स्थापना 1845 ई० में हुई। संस्कृत और मेडिकल कॉलेज भी खोले गये। सामाजिक सुधार भी हुए, सती की प्रथा भी बन्द हो गई। बाल हत्या बन्द, नौकरों का व्यापार भी बन्द हो गया। दीवान के भ्राता लक्ष्मणसिंह के भाई पर गबन का आरोप लगाया गया और उनसे 3 लाख रुपये के गबन में से एक लाख रुपया वसूल किया गया। 1850 ई० तक जयपुर राज्य में लाखों रुपये सालाना की बचत होने लगी और इस सहयोग के काल में अंग्रेजों की सहायता से जयपुर का चहुँमुखी विकास हुआ। 1851 ई० में महाराज रामसिंह 18 वर्ष के हुए, उनका राज्याभिषेक हुआ और पंच मुसाहिबआन भंग कर दी गई। केवल एक वैतनिक अंग्रेजी एजेन्ट महाराज को मदद देने के लिये रखा गया जिसे 500 रुपया माहवार वेतन दिया गया। इस प्रकार महाराज रामसिंह के प्रारम्भिक शासन काल में अंग्रेजों ने जयपुर को उन्नत बनाया।

8. विप्लव में जयपुर—1857 का राजनैतिक आन्दोलन भारत के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इस गदर में जयपुर के राजा रामसिंह ने अंग्रेजों की पूरी मदद की। सेनापति बख्शी मोहम्मद खाँ की अधीनता में 5 हजार सैनिक अंग्रेजों की मदद के लिये आगरा भेजे किन्तु रेवाड़ी पहुँचते पहुँचते सेना में हैजा फैल गया। अत: सेना वापस यों ही लौट आयीं। तांतिया टोपे ने भी कठिनाई के समय हिण्डोन व सवाई माधोपुर में शरण ली। जनता ने उनकी मदद की और पीछा करने वाली अंग्रेजी

कैला दी गालियाँ व बद्दुआएँ दी। फिरोजपुर के नवाब ने विद्रोहियों को इनमें यहाँ शरण दी तो जयपुर नरेश रामसिंह ने नवाब को बन्दी बना लिया और जितने अंग्रेज जयपुर राज्य में थे उन्हें महाराजा ने अपने राज महल मे सुरक्षित रख कर शरण दी तथा अजमेर से आगरा जाने वालों को सैनिक संरक्षण भी दिया गया। पूरे गदर के समय में जयपुर में कोई विद्रोह नहीं हुआ, नगर के हर फाटक पर 200 सैनिक तैयार रहते थे। इतिहासकार ट्रेवर ने लिखा है कि—"महाराज रामसिंह जैसे अग्रगणीय राजाओं को देखकर ही राजपूताने के अन्य राजाओं ने अपने राज्य में कोई अंग्रेज विरोधी विद्रोह नहीं होने दिया अन्यथा राजपूताने में स्थित नगण्य अंग्रेजों को काफी मुसीबतें उठानी पड़ती।"

गदर के बाद वायसराय ने राजा रामसिंह को सम्मानित किया और अपने पास बाँयी तरफ बिठा लिया। जयपुर नरेश की गिनती सींधिया से बड़े राजाओं में कर दी गयी। उन्हें हाथी व घोड़े भेंट में दिये। इस प्रकार विप्लव के समय जयपुर नरेश रामसिंह ने अंग्रेजों से पूर्ण सहयोग किये रखा।

9. गदर के बाद—रामसिंह का राज्यकाल प्रगति व विकास का काल है। अंग्रेजो ने इसी के समय में सांभर झील वापस जयपुर को दे दी थी। आधुनिक सवाई माधोसिंह अस्पताल 1870 ई० में इन्होंने ही बनवाया था। जिसका शिलान्यास लोर्ड मेयो ने किया था। इनके समय में जयपुर में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हुआ। स्वामी दयानन्द ने तीन बार जयपुर की यात्रा की और राजा ने विद्वानों का आदर करने के लिये जयपुर में मौज मन्दिर की स्थापना की और जयपुर शिक्षा के क्षेत्र में दूसरा काशी कहलाने लगा।

रामसिंह का देहान्त 1880 ई० में हुआ। उसके बाद माधोसिंह महाराज बने। इन्होंने पूर्णरूप से अपने आपको अंग्रेजो का अनुयायी बना लिया। गदर के बाद के युग में अंग्रेजो के आधिपत्य की चरम सीमा आ गई थी। 1861 ई० में भारतीय वफादार राजाओं की सूची तैयार की गई जिसमें जयपुर के राजा प्रमुख स्थान रखते थे। इस सूची को 'सितारे हिन्द' कहा गया। इसी प्रकार 1876 ई० में महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित कर भारत के राजाओं ने अंग्रेजो के प्रति अपनी वफादारी प्रकट की। माधोसिंह के समय जयपुर का पाश्चात्यकरण हुआ और 1882 ई०

मे जयपुर का रेल्वे स्टेशन बना। निःशुल्क व्यापार शुरू किया, विक्टोरिया की जुबली मनाई, जयपुर नरेश को लेफ्टीनेन्ट जनरल की उपाधि दी गई थी। 1902 ई० मे इंग्लैण्ड गये। लार्ड कर्जन के समय मे अंग्रेजों का प्रभुत्व इतना गहरा व स्पष्ट था कि 1905 ई० मे कर्जन ने घोषणा की कि [illegible] का प्रभुत्व सर्वत्र नतमस्तक होकर स्वीकार किया जा रहा है।

डॉ० रघुबीरसिंह के शब्दों मे—"राजस्थान के सब राज्यों में [illegible] समय अंग्रेजी साम्राज्य रूपी सूर्य पूरे तेज व प्रताप के साथ देदीप्यमान हो रहा था।"

अध्याय 21

शासन व्यवस्था

शासन व्यवस्था

वैसे तो राजस्थान का कोई बहुत बड़ा साम्राज्य नहीं रहा। जिस भू भाग में मेवाड़, मारवाड़, आमेर, बीकानेर, जैसलमेर, भरतपुर, सिरोही, बूंदी, कोटा, टोंक, अजमेर, आदि अनेक रियासतों का समावेश आज देखने में आता है, उस प्रदेश की शासन व्यवस्था का वर्णन भी उतना ही कठिन और भिन्न है जितना कि इन रियासतों का एक होना। फिर भी आठवीं शताब्दी में राजपूतों की शक्ति के उदय के साथ तथा मेवाड़, मारवाड़ और आमेर के राज्य विस्तार व संगठन के साथ उनकी जो शासन विधि संगठित होती गयी उसका भी अवलोकन उतना ही आवश्यक है जितना कुम्भा, सांगा, प्रताप, मालदेव और चन्द्रसेन आदि योद्धाओं की सामरिक सफलताओं का अध्ययन। अन्यथा पाठक के मन में यही धारणा जम कर रह जायगी कि राजस्थान के राजा केवल युद्ध प्रेमी थे और आजीवन अपने राज्य की रक्षा या विस्तार मात्र में लगे रहते थे। जहाँ आपसी फूट को दबाने के लिये राजपूतों में अद्भुत पराक्रम और शौर्य विद्यमान था वहाँ लगभग 18 वीं शताब्दी तक येन केन प्रकारेण अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने वाले राजपूत प्राचीन भारतीय एवं मध्यकालीन मुगल परम्पराओं से प्रभावित होकर एक ठोस शासन व्यवस्था भी रखते थे। छोटे से छोटे राज्य का राजा अपनी रियासत में ठोस शासन व्यवस्था रखता था। मुगल दरबार में रहने वाले राजपूत राजाओं के अपने राज्यों से कई सालों दूर रहने के बाद भी, न अधिक विद्रोह होते थे और न कोई उन्हें गद्दी से हटाकर राजा बन पाता था। ऐसी दशा में यह मानना पड़ेगा कि राजपूतों की शासन व्यवस्था संगठित व सुदृढ़ थी जिसे सैकड़ों वर्षों के निरन्तर आक्रमण भी नहीं मिटा सके। राजपूतों की शासन व्यवस्था को अध्ययन की सरलता के लिये हम निम्नांकित भागों में बांट सकते हैं —

(1) राज्य का स्वरूप (2) राजा के कर्तव्य, (3) सामन्त प्रथा (4) मंत्रिमंडल (5) केन्द्रीय अधिकारी (6) ग्राम शासन (7) परगना शासन (8) भूमि व्यवस्था (9) न्याय विभाग (10) सैनिक संगठन (11) समीक्षा।

अब हम इन शासन के विभागों का एक एक कर अवलोकन करें।

1. राज्य का स्वरूप—राजस्थान में राजा को ईश्वर तुल्य माना

जाता रहा है। वे अपने आपको प्रभुसत्तासम्पन्न राजा समझते थे। चाहे इन
राज्य प्राप्त हो गया था। वैदिक ऋषियों का उपभोग कर ये राजा य
नाम को धारी, राम या भगवान के वंशज मानते थे। अपने आपको ईश्वर
प्रतिनिधि मानकर ही राजपूतों ने सूर्यवंशी या चन्द्र वंशी गद्दा से अपना न
जोड़ा। इसने राजपूत की उत्पत्ति में देखा कि राजस्थान के राजा अपने आप
का-कुल की सन्तान व विष्णु के अवतार या राम के वंशज मानते रहे हैं। ह
है कि राजपूत राज्य का आधार दैविक सिद्धान्तों पर आधारित था।

राज्य के स्वरूप की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि राजा अ
नाम को बड़ी-बड़ी उपाधियों से सुशोभित करते थे। जैसा कि ख्यातों, प्रशस्ति
और अन्य कवियों की रचनाओं को देखने से विदित होता है। सामान्य
महाराजा, महाराणा आदि नामों से उन्हें सुशोभित किया जाता था। इन
अतिरिक्त उन्हें "श्री जी" 'श्री हुजूर', 'देव', 'मानुनेज' और महादेव इत्या
नामों से भी पुकारा जाता था। आधुनिक काल तक इन राजाओं को अन्नदा
दाता आदि उपाधियों से ही पुकारा जाता है और उनका नाम लेना उन
प्रतिष्ठा के विरुद्ध गिना जाता है। इन उपाधियों से स्पष्ट है कि राजा
पृथ्वी पर ईश्वर सम्पन्न माना जाता था। डॉ० गोपीनाथ जी का विचार
कि "कम से कम वे समझते थे कि उनमें ईश्वर का प्रतिबिम्ब करने
क्षमता है।" हम देख चुके हैं कि मेवाड के संस्थापक बापा रावल को मे
का राज्य एक ऋषि की कृपा से श्री एकलिंग जी की देन है। यही कार
कि मेवाड के शासक अपने अभिलेखों में मेवाड राज्य को श्री एकलि
महाराज का प्रसाद मानते हैं और उनका राज्य चिह्न भी श्री एकलिंग
स्वीकृत है। भगवान शंकर की कृपा से प्राप्त इस राज्य का सारे देश में
प्रभाव और महत्व है। मेवाड की प्रतिष्ठा इतनी पूजनीय है कि शिवाज
बड़ा बनाने के लिये उनका सम्बन्ध भी मेवाड के घराने से जोड़ा गया
नैपाल के वीरों ने अपनी वीरता की धाक जमाई तो लोगों ने उन्हें और
उठाने को वहाँ के राजवंश को भी मेवाड के सिसोदिया वंश से जोड़ दिया
प्रकार जब राजस्थान में मराठों का आतंक बढ़ने लगा तो
1734 ई में हुआ सम्मेलन भी मेवाड में ही बुलाया
में भी मेवाड को सबसे श्रेष्ठ ... वित्र मान
इन देवतुल्य राजाओं को

होती थी। प्रजा राजा को ईश्वर का दूत मानती थी और उसका कार्य ईश्वर का आदेश माना जाता था। यही कारण है कि जब राजपूत राजाओं ने अपनी
कर दिया तो प्रजा में कोई
राजाओं का दबदबा और
कार्यों का विश्लेषण नहीं कर
प्रतीक चिह्न थे। जैसे मेवाड़

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि राज्य ईश्वर प्रदत्त था। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि, प्रजा का पिता और राज्य शक्ति पर आधारित था।

2. राजा के कर्त्तव्य—राजा कुलागत, निरंकुश और सर्व शक्तिमान होते थे। शासन की सबसे बड़ी इकाई और पूर्ण रूप से उत्तरदायी राजा ही था। सारे अधिकार उसमें निहित थे। वह शासन का सबसे बड़ा अफसर, प्रधान सेनापति, प्रमुख न्यायाधीश, सब अफसरों की नियुक्ति करने वाला, राजाज्ञा जारी करने वाला और प्रजा का पिता तुल्य था। उसमें सारे अधिकार निहित थे। उसके प्रति वफादारी अनिवार्य थी। सामान्यतः राजा का बड़ा लड़का ही हो सकता था किन्तु यदि देश पर आपत्ति की सम्भावना हो और बड़ा लड़का पूर्णतया योग्य न हो तो सामन्त व मन्त्रिगण मिल कर दूसरे या तीसरे पुत्र को भी राज्य का स्वामी बना सकते थे। ऐसा तभी होता था जब कि छोटी सन्तान अत्यधिक योग्य हो। या तो इस प्रकार का चयन बिन्दुसार ने अशोक महान को गद्दी देने के लिये किया था या चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त के लिये यह नियम तोड़ा था। राजस्थान में भी कुम्भा, प्रताप और राजसिंह जैसे योग्य शासकों के लिये इस वंशागत नियम का उल्लंघन किया गया था। वैसे यह देखा गया है कि राजा अयोग्य होते हुए भी प्रजा ने उसका कोई विरोध नहीं किया। प्राचीन हिन्दू परम्पराओं के आधार पर राजा राज्य का सर्वेसर्वा था। वह मौर्य राजा की तरह कानून तोड़ भी सकता था और बना भी सकता था।

उसे सभी अधिकार प्राप्त थे किन्तु इन अधिकारों के साथ उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा था। धर्म की रक्षा, प्रजा का पालन, देश रक्षा और राज्य का विस्तार, सभी राजा के आवश्यक कार्य थे।

देश की रक्षा के अतिरिक्त राज्य विस्तार द्वारा पूर्वजों का नाम रोशन करना था। पूर्वजों की भाँति अश्वमेध यज्ञ करना आदि राजपूत राजा के परम कर्तव्य थे। पृथ्वीराज चौहान और हम्मीर चौहान के अतिरिक्त कान्हडदेव और [illegible] ने भी अपने राज्य का बड़ा व्यापक विस्तार कर दिग्विजय आदि की।

कुम्भा द्वारा निर्मित कीर्ति स्तम्भ इस बात का प्रतीक है। मालदेव ने भी मरं
नैतिक राज्य को बढ़ाकर 47 परगनों का मारवाड़ राज्य बना दिया था
राजस्थान के राजाओं का कर्तव्य केवल राज्य विस्तार या दिग्विजय मात्र ही नहीं
था। वे धार्मिक स्थानों की रक्षा करना अपना अत्यधिक महत्वपूर्ण कर्त
समझते थे। काशी आदि पवित्र स्थानों को यवनों के चंगुल से मुक्त कराने
लिये महाराणा सांगा व जोधा ने प्रयत्न किये थे। अत रक्षा के दृष्टिकोण
देश की रक्षा, प्रजा की रक्षा व धार्मिक स्थानों की रक्षा राजा का परम कर्त
था। इसलिये राजा का परम योद्धा होना अत्यधिक आवश्यक था।

राजा अनेकों विवाह करते थे और इन रानियों का भी राज्य का
में बड़ा योग दान रहता था सामान्यतः जब युवराज की आयु कम होने प
रानियां राज्य कार्य अपने हाथ में ले लेती थीं। इस क्षेत्र में भटियाणी रा
और हमाबाई का नाम उल्लेखनीय है। रानी अपने पति और परिवार के लि
प्रेरणा का स्रोत बन जाती थी। ये अपने प्रभाव से उत्तराधिकारी को भी
बदला देती थी जैसा की मेवाड़ राज्य मे बनेड़ा का इतिहास बताता है। रणि
के समय ये रानियां रणकौशल भी दिखाती थी। रानी पद्मिनी ने अपने हठ
का परिचय देकर राणा रत्नसिंह को अलाउद्दीन की कैद से मुक्त कर दिय
था और जब राजपूत वीर युद्ध मे पराजित होकर लड़ते लड़ते मारे जाते थे।
रानियाँ बिना किसी भय के हँसते-हँसते जलती अग्नि में कूद कर अपने सतीत्व
शौर्य का परिचय देतीं, सती हो जाती थीं। स्पष्ट है कि रानियां भी राजा की
भांति वीर, और त्यागी होती थी।

प्रजा के धर्म की रक्षा और संरक्षण इन राजाओं का परम कर्तव्य था।
राजपूत राजा अधिकतर शैव धर्म के मानने वाले होते थे किन्तु राज्य में रहे
धर्मों का केन्द्र है। जैन, बौद्ध और वैष्णव धर्मों को भी राजा उसी प्रकार
सम्मान देते थे जैसा कि वे अपने शैव धर्म को। धार्मिक सहिष्णुता प्रदान
राजा का उच्च कर्तव्य था। राजकीय पदों पर किसी भी मत के अनुयायी
को नियुक्त किया जा सकता था। सामान्यतः मेवाड़ के दीवान जैन हुआ करते
थे जो आगे चलकर महता जाति के प्रमुख बने। इसी प्रकार मारवाड़ के दी
खजान्ची आदि पद पर जैन धर्म के अनुयायी काम करते थे। बीकानेर के
रायसिंह के समय मे कर्मचन्द्र को मंत्री तक बना दिया गया था। राजा
धर्म राज्य सेवा के अवसर में किसी प्रकार के लिये कोई बाधा नहीं
राजा धार्मिक स्थानों को दान देना भी अपना कर्तव्य समझते थे और मं
का निर्माण भी करवाते थे। पृथ्वीराज, मालदेव, रायसिंह और
ने अपने राज्यों में जैन मंदिरों का निर्माण भी करवाया।
धर्मों को समानता की दृष्टि से देखता था और जब विरोधी

दुराचलों ने जैन मन्दिरों की मूर्तियो को तोडना शुरू किया तो रायसिंह ने उन्होंने और बादशाह की स्वीकृति लेकर उन मूर्तियों को बीकानेर ले आया जो आज भी बीकानेर के प्रसिद्ध जैन मन्दिर में सुरक्षित हैं। जोधपुर के राजा जिस प्रकार हिन्दू साधु सन्तों का सम्मान करते थे उसी प्रकार वे मुसलमान काजी और फकीरों का भी आदर करते थे। वे आश्रित मुसलमानो को ऊँचे पद भी देते थे और अजमेर की दरगाह को जागीर में गाँव भी देते थे। राजस्थान के शासकों का धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण यह है कि जहाँ मुसलमान विजय के बाद मन्दिरों की तोड फोड और प्रजा पर अनेक अत्याचार करते थे वहाँ राजपूत राजा इस कलंक से मुक्त हैं। राजपूतों ने बदले की भावना से कभी कोई मस्जिद नहीं तोडी। प्रताप का एक सेना नायक हकीम सूर था और उसने अब्दुल रहीम खानखाना की बेगमों को सकुशल मेवाड़ से भेजकर राजपूतों के ऊँचे चरित्र और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया था।

देश रक्षा और धर्म रक्षा के साथ साथ राजा का तीसरा परम कर्तव्य भूमि की उन्नति करना था। व्यौपार, कृषि, कला, साहित्य आदि की उन्नति भी राजा का धर्म व कर्तव्य था। यथा राजा तथा प्रजा का अभिप्राय ये लोग अच्छी प्रकार समझते थे। कवियों को राजकीय प्रोत्साहन देना, सुन्दर भवन और किले आदि का निर्माण करवाना, कला से भरपूर मन्दिरो का निर्माण व जीर्णोद्धार, सुन्दर उद्यानो का निर्माण, स्तम्भ व शिलालेख खुदवाना, चित्रकारों और साहित्यकारों को संरक्षण प्रदान करना; सार्वजनिक कार्य तालाब खुदवाना, सड़कें आदि बनवाना, ये सभी निर्माण कार्य भी राजा के कर्तव्य थे और राजस्थान के राजा निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहने के बाद भी इस ओर से उदासीन नहीं थे। आज जो राजस्थान की कला कृतियाँ यहाँ वहाँ बिखरी हैं और जो विदेशियो तक को मन्त्रमुग्ध कर देती हैं, वे मध्य कालीन राजस्थान की ही देन हैं इतना सब होते हुए भी शिक्षा और चिकित्सा की ओर राजपूत राजाओ का ध्यान आकर्षित न हो सका और इस क्षेत्र मे राजस्थान पिछड गया।

राजा का जीवन देखने मे बड़ा वैभवशाली था। दरबार की चमक दमक, उत्सवो पर सवारी निकालना उपाधि वितरण करना, तुलादान करना, पशु युद्ध देखना, शिकार आदि पर जाना आदि ऐसी परम्पराएँ थीं जो राजा को राज्य का श्रेष्ठ व प्रथम नागरिक बनाये रखती थी। लेकिन उसका वैभवपूर्ण जीवन समय सारणी से बँधा था। उसके जिम्मे अनेक काम थे जो प्रतिदिन राजा को करने पड़ते थे। मौर्य राजाओं की भाँति राजपूत राजाओं का भी दिन बँटा हुआ था। प्रातः काल दरबार मे अभिवादन के बाद दरबारियो को राज आज्ञा दी जाती थी। भोजन के बाद न्याय और शासन व्यवस्था का

कुम्भा द्वारा निर्मित कीर्ति स्तम्भ इस बात का प्रतीक है। मालदेव ने भी अपने पैतृक राज्य को बढ़ाकर 47 परगनों का मारवाड़ राज्य बना दिया था। राजस्थान के राजाओं का कर्तव्य केवल राज्य विस्तार या दिग्विजय मात्र ही नहीं था। वे धार्मिक स्थानों की रक्षा करना अपना अत्यधिक महत्वपूर्ण समझते थे। काशी आदि पवित्र स्थानों को यवनों के चंगुल से मुक्त करने के लिये महाराणा लाखा व जोधा ने प्रयत्न किये थे। अतः रक्षा के दृष्टि [illegible] देश की रक्षा, प्रजा की रक्षा व धार्मिक स्थानों की रक्षा राजा का धर्म था। इसलिये राजा का परम योद्धा होना अत्यधिक आवश्यक था।

राजा अनेकों विवाह करते थे और इन रानियों का भी राज्य मे बड़ा योग दान रहता था सामान्यतः जब युवराज की आयु कम है [illegible] रानियाँ राज्य कार्य अपने हाथ मे ले लेती थीं। इस क्षेत्र मे [illegible] और हगाबाई का नाम उल्लेखनीय है। रानी अपने पति और परिवार के प्रेरणा का स्रोत बन जाती थी। ये अपने प्रभाव से उत्तराधिकारी को बदला देती थी जैसा की मेवाड़ राज्य मे चनेड़ा का इतिहास बताता है। [illegible] के समय ये रानियाँ रणकौशल भी दिखाती थीं। रानी पद्मिनी ने अपने [illegible] का परिचय देकर राणा रत्नसिंह को अलाउद्दीन की कैद से मुक्त करा दिया था और जब राजपूत वीर युद्ध मे पराजित होकर लड़ते लड़ते मारे जाते थे तो रानियाँ बिना किसी भय के हँसते-हँसते जलती अग्नि मे कूद कर अपने शौर्य का परिचय देती सती हो जाती थीं। स्पष्ट है कि रानियाँ भी राज[illegible] नीति वीर, और त्यागी होती थी।

प्रजा के धर्म की रक्षा और संरक्षण इन राजाओं का प्रमुख कर्तव्य [illegible] राजपूत राजा अधिकतर शैव धर्म के मानने वाले होते थे किन्तु भारत [illegible] धर्मों का केन्द्र है। जैन, बौद्ध और वैष्णव धर्मों को भी राजा उचित सम्मान देते थे जैसा कि वे अपने शैव धर्म को। धार्मिक सहिष्णुता [illegible] राजा का उच्च कर्तव्य था। राजकीय पदों पर किसी भी धर्म के व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता था। सामान्यतः मेवाड़ के दीवान [illegible] व जो भारी [illegible] के प्रमुख थे। इसी प्रकार [illegible] आदि पदों पर जैन धर्म के अनुयायी काम करते थे। [illegible] के समय में [illegible] को मन्त्री [illegible] बना दिया गया था। [illegible] किसी प्रकार के लिए कोई [illegible] धार्मिक स्थानों को दान देना भी राजा का कर्तव्य [illegible] का निर्माण भी [illegible]। कुम्भा, मालदेव [illegible] और [illegible] मन्दिरों का निर्माण भी करवाया। [illegible] धर्मों का [illegible] से देखा जा और यह [illegible]

इकदर्शी ने जैन मदिरों की मूर्तियो को तोडना शुरू किया तो रायसिंह ने
से गेरा और बादशाह की स्वीकृति लेकर उन मूर्तियों को बीकानेर ले आया
जो आज भी बीकानेर के प्रसिद्ध जैन मंदिर में सुरक्षित हैं। जोधपुर के राजा
जिस प्रकार हिन्दू साधू सन्तों का सम्मान करते थे उसी प्रकार वे मुसलमान
काजी और फकीरों का भी आदर करते थे। वे आश्रित मुसलमानों को ऊँचे
. . . मेर की दरगाह को जागीर मे गांव भी देते थे।
. . . धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलंत उदाहरण यह है कि
. . . के बाद मंदिरों की तोड फोड और प्रजा पर अनेक
. . . राजपूत राजा इस कलंक से मुक्त हैं। राजपूतो ने
बदले की भावना से कभी कोई मस्जिद नहीं तोडी। प्रताप का एक सेना नायक
हकीम सूर था और उसने अब्दुल रहीम खानखाना की बेगमो को सकुशल
दरबार मे भेजकर राजपूतों के ऊँचे चरित्र और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय
दिया था।

देश रक्षा और धर्म रक्षा के साथ साथ राजा का तीसरा परम कर्तव्य
चहुँमुखी उन्नति करना था। व्योपार, कृषि, कला, साहित्य आदि की उन्नति
भी राजा का धर्म व कर्तव्य था। यथा राजा तथा प्रजा का अभिप्राय ये लोग
भली प्रकार समझते थे। कवियों को राजकीय प्रोत्साहन देना, सुन्दर भवन
और किले आदि का निर्माण करवाना, कला से भरपूर मन्दिरो का निर्माण व
नवनिर्माण, सुन्दर उद्यानों का निर्माण, स्तम्भ व शिलालेख खुदवाना, चित्रकारों
और साहित्यकारों को संरक्षण प्रदान करना; सार्वजनिक कार्य तालाब खुदवाना,
सड़कें आदि बनवाना, ये सभी निर्माण कार्य भी राजा के कर्तव्य थे और राजस्थान
के राजा निरन्तर युद्ध मे व्यस्त रहने के बाद भी इस ओर से उदासीन नहीं
थे। आज जो राजस्थान की कला कृतियाँ यहाँ वहाँ बिखरी हैं और जो विदेशियो
तक को मन्त्रमुग्ध कर देती हैं, वे मध्य कालीन राजस्थान की ही देन हैं इतना सब
होते हुए भी शिक्षा और चिकित्सा की ओर राजपूत राजाओं का ध्यान आक-
र्षित न हो सका और इस क्षेत्र में राजस्थान पिछड गया।

राजा का जीवन देखने मे बडा वैभवशाली था। दरबार की चमक
दमक, उत्सवों पर सवारी निकालना उपाधि वितरण, करना, तुलादान करना,
पशु युद्ध देखना, शिकार आदि पर जाना आदि ऐसी परम्पराएँ थीं जो राजा
को राज्य का श्रेष्ठ व प्रथम नागरिक बनाये रखती थी। लेकिन उसका वैभव-
पूर्ण जीवन समय सारणी से बँधा था। उसके जिम्मे अनेक काम थे जो प्रति-
दिन राजा को करने पड़ने थे। मौर्य राजाओ की भांति राजपूत राजाओं का भी
दिन बँटा हुआ था। प्रातः काल दरबार में अभिवादन के बाद दरबारियों को
घर जाने दी जाती थी। भोजन के बाद न्याय और शासन व्यवस्था का

...सैनिक आवश्यक थी। ये सामन्त अपनी जागीर मे प्राय. स्वतंत्र थे। अपनी ...भूमि वितरण और लगान वसूली करते थे। इन्हें न्याय का भी ...हिन्दु राजा के यहाँ इनके विरुद्ध फरियाद सुनी जा सकती थी। ...पड़ने पर इन जागीरदारों का स्थानान्तर भी हो सकता था। ...निर्बल हो जाते थे तो ये सामन्त अपने आसपास के क्षेत्र मे अपना ...राज्य के संगठन के लिये एक समस्या बन जाते थे। इन्हीं ...अनेक निर्बल शासकों का अन्त कर दिया। यह प्रथा तभी तक ...तक कि राजा स्वयं योग्य व शक्तिशाली हो। सामन्तो द्वारा ...दरबार मे गुटबन्दी एक साधारण कार्य हो गया था।

4. मंत्रिमंडल-मेवाड़ के प्रशासन में प्राचीन मौर्य कालीन हिन्दू शासन ...का ही सूक्ष्म रूप देखने को मिलता है। मेवाड़ के राणा मंत्रिमंडल रखते ...मंत्रियों की नियुक्ति प्रायः... हो जाती थी किन्तु समय के अनुसार ...व्यक्तियों को भी मंत्रिमंडल मे सम्मिलित किया जाता था। इनके वेतन ...निर्धारित नहीं थे। इनके समय और आवश्यकता के अनुसार उन्हे ...और वेतन दिया जाता था। निरंतर युद्धो मे व्यस्त रहने के कारण ...के विभाग स्पष्ट रूप से बँटे हुए नहीं थे फिर भी इन सभी मंत्रियों ...के समय राजा के साथ युद्ध स्थल मे आना पड़ता था। निरंकुश ...को अपने शासन का भार बँटाने के लिये योग्य व्यक्तियों की सहायता ...की आवश्यकता थी इसीलिये मंत्रिमंडल का निर्माण किया जाता था। ...शिलालेख पर मेवाड़ के मंत्रियो के आठ नाम मिलते हैं जो मौर्य ...मंत्रियों के नामों पर ही रखे गये हैं। इस शिलालेख के आधार पर ...में मुख्य मंत्री को 'अमात्य' कहते थे। युद्ध और संधि मंत्री को ...विग्रहक' कहते थे। लेखा जोखा के मंत्री को 'अक्षपटलिक' कहते थे। ...व चिकित्सा का मंत्री 'भिषगाधिराज' कहलाता था। राज दरबार के ...साहित्यक कवि या भाट को 'बंदिपति' कहते थे। इसी प्रकार किलो ...मंत्री को 'दुर्गराज' कहते थे। राजा का एक मुख्य व गुप्त सलाह- ...होता था जिससे राजा समय समय पर परामर्श लेता रहता था। ...को मंत्रणा देने वाले को केवल 'मंत्री' कह कर सम्बोधित किया ...। इनके अतिरिक्त एक 'सेनापति' भी होता था जो अमात्य या ...दरबार मे सबसे महत्वपूर्ण मंत्री समझा जाता था। इन आठ ...मंत्रियों के अतिरिक्त राजमहल की देखभाल करने वाला, टकसाल का ...आखेट और मनोरंजन आदि के भी मंत्री थे।

...भारत मे मुसलमानों के प्रभाव और अकबर के समय से मुगलों के ...राजपूतों के मेलजोल के कारण जयपुर, कोटा, बीकानेर आदि के शासक

तो मुगल दरबार मे ही रहने लग गये थे और मुगल शासन व्यवस्था के नि[कट]
सम्पर्क मे आये थे अतः मध्यकालीन राजस्थान पर मुगल शासन व्यवस्था [का]
सीधा और गहरा प्रभाव है। कई राजपूत शासक तो सूबेदार बनकर बर[सों]
तक अपने राज्यो से दूर दक्षिण या पश्चिम सीमा पर रहते थे। ऐसी द[शा]
में उनके राज्यो का पूर्ण संचालन ही मत्री या मत्री मडलो द्वारा होता था।
अजमेर, नागौर और जोधपुर पर तो काफी समय तक मुगलों का सीधा अधि-
कार रहा था अतः राजपूतो ने धीरे धीरे महत्वपूर्ण मंत्रिमडल को छोड़कर
पूर्ण रूप से मुगल व्यवस्था को अपना लिया और मत्रिमडल की शक्ति केन्द्रीय
अधिकारियो के हाथ मे चली गयी।

5. केन्द्रीय अधिकारी—समय और आवश्यकता के अनुसार मुगल
प्रभाव मे आकर राजपूत राजाओं ने मंत्रिमडल के महत्व को कम कर दिया
और मंत्रियो के स्थान पर केन्द्रीय अफसर या विभागाध्यक्षों के धीरे धीरे मंत्रि-
मडल मे भी महत्वपूर्ण हो गये। इन केन्द्रीय अफसरों मे छः विशेष उल्लेखनीय
हैं। जो इस प्रकार हैं:—

1. प्रधान 2 दीवान 3. बख्शी 4. खानए सामान 5. कोतवाल और
6. खजान्ची।

1. प्रधान—मुगलो के आगमन से पहले जिसे अमात्य कहते थे वही
अब प्रधान कहलाने लगा। इसी प्रधान को समय समय पर अलग अलग नामो
से पुकारा गया है। कभी मुख्य मंत्री और कभी मन्त्री प्रवर, इसी प्रकार के दूसरे
नाम रहे हैं। यह प्रधान राजा के बाद सबसे महत्वपूर्ण पद लिया जाता था।
इस पद का महत्व केवल एक उदाहरण से मिल जाता है जब हम देखते हैं
कि महाराणा प्रताप का प्रधान भामाशाह था। वैसे तो राजा की अनुपस्थिति
मे राज्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व प्रधान पर होता था किन्तु राजा की उप-
स्थिति में भी उसके अधीन न्याय, शासन और सेना जैसे महत्वपूर्ण
विभाग होते थे। इन तीनों विभागों के संचालन मे वह राजा की सहायता
करता था। ये प्रधान सामान्यतः कुलागत होते थे किन्तु योग्यता के आधार
पर नये व्यक्ति भी इस पद पर बिठाये जाते थे। ये प्रधान मुगल वजीर [illegible]
के समान थे। जब कभी राजा की सवारी निकलती तो जुलूस में राजा के
बिल्कुल पीछे इसका स्थान होता था। प्रधान को शासन न्याय और सेना के
अधिकार प्राप्त थे। मारवाड़ मे तो राजा जब जागीरें छोड़ता था तो [illegible]
[illegible] को वार्षिक दान देता था तो वह अपने प्रधान की [illegible]
कर सकता था। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण शासन की बागडोर प्रधान के हाथ में [illegible]
और वह महत्वाकांक्षी होकर विद्रोही भी हो सकता था जैसा कि [illegible]
[illegible] के समय में हो रहा था। प्रधान राज्य का श्रेष्ठ अधिकारी था।

2 दीवान—राजस्थान के कई राज्यों में प्रधान नहीं होता था। उन रियासतों में दीवान ही सबसे बड़ा अधिकारी होता था जो प्रधान और दीवान दोनों पदों पर अकेला कार्य करता था। मूल रूप से दीवान अर्थ विभाग का स्वामी होता था। दीवान के मुख्य काम लगान वसूल करना, राजकोष में वृद्धि करना, आर्थिक करों का निर्धारण व वसूली करना आदि थे। राज्य के हर विभाग के आमद खर्च के कागजात दीवान के पास आते थे और इसी की राय से राज विभिन्न विभागों की मांगों की पूर्ति करता था। इसके अधीन कई छोटे अधिकारी होते थे जो वित्त सम्बन्धी कार्यों में दीवान की सहायता करते थे। इन प्रमुख अधिकारियों में उल्लेखनीय रोकड़िया, मुन्शी, पोतदार और दरोगा हैं। दीवान की अपनी एक मोहर होती थी। इस मोहर के बिना राज्य के खजाने से किसी को भुगतान नहीं हो सकता था। यहाँ तक कि राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति और स्थानान्तर भी दीवान की पूर्ण स्वीकृति के बिना नहीं हो सकते थे। मुण्डियार की ख्यात के पृष्ठ 22 23 पर दीवान के कार्य क्षेत्र का वर्णन करते हुए इस बात पर जोर दिया गया है कि दीवान की अपनी एक मोहर होती थी जिस पर उसका नाम लिखा होता था। हर स्वीकृत अर्थ पत्र पर इस मोहर का लगाना आवश्यक था। स्पष्ट है कि आर्थिक क्षेत्र में दीवान सर्वोपरि और वित्त मन्त्री के समान था। इसके कार्य के महत्व व उत्तरदायित्व को देखकर इसके अधीन दो नायब दीवान रहते थे, जो खजाने की देखभाल करते थे।

3. बक्षी—मूलरूप से सैनिक अधिकारी होने के नाते बक्षी राज्य का एक प्रभावशाली मन्त्री गिना जाता था। सेना को वेतन देना, सैनिकों में अनुशासन और प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, सैनिक रसद जुटाना, नये सैनिक भर्ती करना, राज्य के किलों की देख भाल करना, सेना के घोड़े और हाथियों के अस्तबल की देख भाल और इलाज करवाना, राजा से महत्वपूर्ण परामर्श करना राज्य के वेतन सम्बन्धी सभी पत्रों की जाँच करना, ये सभी बक्षी के मुख्य काम थे। इसके अतिरिक्त राज्य के अन्य कर्मचारियों को भी वेतन बक्षी ही देता था। सेना का अध्यक्ष होने के साथ साथ इसे पशु चिकित्सा का पूरा ज्ञान भी होना आवश्यक था क्योंकि बीमार सैनिक जानवरों का इलाज भी यही करवाता था। युद्ध के घायल सिपाहियों की देख भाल भी इसका काम था। इसके अधीन राज्य के किले होते थे और इसे दुर्गपाल के सभी अधिकार प्राप्त थे। इसकी सहायता के लिये नायब बक्षी होते थे और किलेदार भी इसके अधीन थे।

4. खान ए सामान—इसे निर्माण मन्त्री कहें तो गलत नहीं होगा। राज्य के सारे कारखाने इसके अधीन होते थे। यह राजा का सबसे विश्वास पात्र और ईमानदार व्यक्ति होता था। राज्य की समस्त आवश्यकताओं के

आपत्ति अकाल और लगान वसूल न हो सकने की सूरत में राज्य के खर्च के लिये उपलब्ध करेगा। प्राचीन काल में इस प्रकार से बचाकर रखे गये धन को निधि और दुर्ग कहते थे जो केवल राज्य की कठिनाइयों के समय में ही खर्च की जाती थी।

6. ग्राम शासन—गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई था। प्राचीन भारतीय परम्पराओं को पूर्ण मान्यता देते हुए मुगलों ने ग्रामीण जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था और इसी प्रकार राजपूतों के अधीन गाँव भी प्रायः स्वतन्त्र ही थे। राजा को गाँव से लगान प्राप्ति के सिवा लगाव नहीं था। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि गाँवों में पूर्ण स्थानीय स्वशासन था। प्राचीन भारत में राज्य की तरफ से ग्रामीण और ग्रामक नामक अधिकारी रहते थे। यही ग्रामीण पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में राजाओं का प्रतिनिधित्व गाँवों में करता था। मध्यकाल में और विशेष तौर पर शेरशाह की सगठित भूमि व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ग्रामीण को राजस्थान में पटवारी कहा जाने लगा। ग्रामीण और सरकार के बीच के पट्टे रखने वाला यह अधिकारी एक मात्र था। इस पट्टाधारी या पटवारी का महत्व ग्राम पंचायत में सरकारी प्रतिनिधि से अधिक नहीं था। पटवारी के सिवा कृषि व अन्य विकास के लिये और भी सरकारी कर्मचारी होते थे। जो पटवारी की सहायता करते थे। खेतों की रक्षा के लिये कनवारी, राज्य की आमदनी का लेखा रखने के लिये टैकेदार, पैदावार को आँकने व तोलने के लिये तुलवाटी, सारी व्यवस्था व प्रबन्ध बनाये रखने के लिये शहनाह और गाँवों में चौकीदार भी होते थे। राज्य का हस्तक्षेप मात्र यही था कि पैदावार अच्छी हो और लगान समय पर इकट्ठा हो जाय।

गाँव में पंचायत राज्य करती थी जिसमें सरकारी प्रतिनिधि पटवारी रहता था। पंचायत में गाँव के प्रौढ़ व योग्य व्यक्ति ही पंच चुने जाते थे। पंचायत के व्यापक कार्य थे। गाँव में शान्ति, सुरक्षा, कृषि विकास व न्याय सभी पंचायत के हाथ में था। हर गाँव में अलग अलग जाति की अलग अलग पंचायतें भी होती थी जो जाति के आपसी झगड़ों का निपटारा करती थी। राज्य पंचायत के निर्णयों को मान्यता देती थी। गाँवों को हर प्रकार की स्वाधीनता थी। ग्राम और केन्द्र के शासन में बड़ा समावेश था।

7. परगना शासन—राजस्थान में कोई राज्य इतना बड़ा तो था नहीं कि उसे सूबे या प्रान्तों में बाँटा जाता। अत. राज्य को छोटे छोटे जिलों में बाँटा जाता था। जिन्हें मुगल प्रभाव के कारण परगना कहते थे। शिला लेखों, दान पत्रों और सन्धि पत्रों में समय समय पर इन परगनों के नाम मिलते हैं। महाराज अजीतसिंह ने मारवाड़ में, रायसिंह ने बीकानेर में,

सिंह ने जयपुर में और कोटा में माधोसिंह ने अपने राज्य को विधिवत से परगनों में बाँटा जो मुगल व्यवस्था के सही प्रतिबिम्ब थे। राजस्था हर राज्य में परगनों के अधिकारियों के नाम अलग अलग थे। मारवाड़ अधिकारी हाकिम और फौजदार कहलाते थे। सामान्यतः हर परगने में के दो अफसर होते थे। एक के पास दीवानी शासन शक्ति होती थी और दूसरे पास पुलिस व सेना होती थी। हाकिम और दीवान एक ही अफसर के नाम थे। फौजदार के पास सुरक्षा का भार था। दोनों अफसरों की नियु प्रधान के कहने पर स्वयं राजा करता था। मेवाड़ में पहले तिरह प पर थे फिर अमीरसिंह के समय 21 परगने हो गये थे। हाकिम परगने का स बड़ा अधिकारी था। उसके पास प्रशासन और न्याय दोनों शक्तियां थीं। र खास रुक्के द्वारा स्वयं महाराज उसकी नियुक्ति करते थे। परगने में दूसरे प्रश सनिक व्यवस्था रखना इसका काम था। सेना के मामलों में भी वह परगने क का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था। फौजदार का काम परगने में अमन-चैन बना रखना था। सीमा सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति और युद्ध के समय राजा के उचित सहायता भेजना उसका काम था। यह अन्य छोटे अधिकारियों के राजस्व वसूली में सहायता करता था। यह परगने के जेलखानों की भी निग रानी रखता था। फौजदार के नीचे कई थानेदार होते थे। कई छोटे परगनों में सिर्फ एक ही अधिकारी होता था जिसे ओहदेदार कहते थे। परगने में हाकिम और फौजदार के नीचे शिकदार, कानूनगो, थानेदार, सज्जनो आदि अनेक अफसर और होते थे जो वेतन या फसल के एक बदले से राज्य की सेवा करते थे। परगने के अफसर अपने परगने का समय समय पर दौरा भी करते थे ताकि जनता की कठिनाइयों को सुन सकें। हाकिम और फौजदार परगने की प्रजा पर अपना स्थायी प्रभाव न जमा ले इसलिये समय समय पर इन अधिकारियों के स्थानान्तर होते रहते थे ताकि भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण रहे। प्रजा से सीधा सम्पर्क रखने के लिये राजा और उसके उच्च अधिकारी भी परगनों का दौरा करते रहते थे। वि. सं. 1905-11 इसका यही मैं वर्णन किया गया है कि फिर भी परगनों की जनता पर अत्याचार होते रहे जिनका विरोध जनता करती थी और क्रोध के बाद अपराधियों को दंडित कर दिया जाता था।

8. भूमि व्यवस्था — वैसे तो हर राज्य में भूमि व्यवस्था में भिन्नता थी किन्तु लगभग सभी राज्यों में भूमि तीन भागों में बंटी हुई थी। (1) खालसा व भू भाग था जो राजा की निजी सम्पत्ति जिसे जाती थी और जिस ... थे जिसे केन्द्रीय दीवान के निजी प्रबन्ध के अधीन थी। (2) हवाला ... का वह भाग था जिसकी देखभाल के लिये हवालदार रखे जाते थे। ... भूमि साधारणतः परगनों के अधीन होती थी। (3) जागीर भूमि वह

यह भाग था जिसे राजा सामन्तो को उनकी सेवाओं के बदले जागीर में देता था। जागीरदार स्वयं इस भूमि के किसानों से लगान वसूल करता था किन्तु जागीर में निर्धारित रकम प्रतिवर्ष राज्य के खजाने में जमा कर देता था। (4) भूमि का चौथा भाग भौम था। राज्य की कई तरह से सेवा करने वाले भोमियों को भी जमीन दी जाती थी। इन भोमियो से कोई कर नहीं लिया जाता था और इनसे जमीन भी नहीं छीनी जाती थी। केवल विद्रोही होने पर इनसे जमीन छीनी जा सकती थी। भूमि का पाँचवा भाग शासन का था। यह भाग राज्य के अधीन था और इसकी व्यवस्था, पटवारी, पंचायत आदि के माध्यम से होती थी। इन पाँचों भागो के अतिरिक्त दान में दी हुई भूमि थी जो राजा, कवियों, ब्राह्मणों, चारणों, मठों और मंदिरों को दे देता था। इस भूमि से भी कोई कर नहीं लिया जाता था। केवल खालसा, हवाला, जागीर और शासन की भूमि से आमदनी थी।

राजस्थान में खेती करने वाले को भूमि का स्वामी माना जाता था। सरकार किसानों को पट्टे लिख कर देती थी। इसी प्रकार जमींदार भी अपनी जागीर की भूमि में किसानों को पट्टे लिखकर देते थे। हर पट्टे का सरकारी बही में पूरा विवरण रखा जाता था जिसे हवाला कहते थे। यदि कोई किसान संतान रहित मर जाता तो उसकी भूमि पर सरकार पुनः अधिकार कर लेती थी। नये जागीरदार को राज आज्ञा द्वारा अपनी जागीर की मान्यता प्राप्त करनी पड़ती थी।

राज्य की मुख्य आमदनी भूमि कर था। अलग अलग राज्यों में यह भूमिकर पैदावार का $\frac{1}{3}$ या $\frac{1}{4}$ भाग था। लगान वसूली मूलरूप से तीन प्रकार से होती थी। (1) कूंता (2) लाटा और (3) बँटाई। तम्बाकू, अफीम और गन्ना आदि कीमती फसलों पर हर बीघे के हिसाब से लगान लिया जाता था। भूमि कर, अतिरिक्त अन्य कर, व्यक्ति, अवसर और व्यवसाय पर लिये जाते थे। सामान्यतः लगभग 16 अन्य कर जनता से लिये जाते थे। व्यवसाय, व्यक्ति और अवसर करो के अतिरिक्त खान, नमक, सिंचाई व्यापार, और अदालतों द्वारा किये गये दण्ड भी राज्य की आमदनी के स्रोत थे। जागीरदारों से उत्तराधिकार कर भी लिया जाता था। जागीरदार भी अपनी भूमि से वार्षिक 'रेख' राजा को दिया करते थे।

आमदनी का अधिकांश भाग युद्ध सेना, सुरक्षा, राजमहल और दान में खर्च होता था। राज प्रासादों, किलों और मंदिरों के निर्माण पर भी राजा खुले हाथ से व्यय करते थे।

न्याय करते थे जैसे अजमेर, नागौर, मेड़ता, पुर व मांडल। अपील का एक अफसर होने लगा जिसे दरोगा-ए-अदालत कहते थे। कारावास, देश निकाला, आर्थिक दंड, शारीरिक यातना, अंग भंग, और मृत्यु दंड प्रमुख सजाएँ थी। इस समय वकील नहीं होता था और धार्मिक मामलो में पंडितों की राय ली जाती थी। न्याय व्यवस्था कठोर, भय पर आधारित और धर्मानुसार थी।

10 सैनिक संगठन—राजपूत राजाओं की सेना में हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट और पैदल मुख्य अंग थे। हथियारों में सैनिक तलवार, भाला, ढाल, गदा और बर्छी आदि का मुख्यतः प्रयोग करते थे। सैनिकों की कोई समान वर्दी नहीं थी वे धोती, कच्छा, और दुपट्टा बांध कर लड़ते थे। प्रतिष्ठा प्राप्त सैनिकों की विशेष वर्दी होती थी और वे हाथी पर बैठ कर लड़ते थे। किस राजा के पास कब कितनी सेना रहती थी ? यह तो निश्चित नहीं है किन्तु लगातार युद्धों में व्यस्त रहने के कारण राजा और जागीरदार सदा तैयार रहते थे। दरबार की इच्छा से साधारण लोग भी सेना मे मिल जाते थे। नियमित प्रशिक्षण और अनुशासन तो भूले से ही देखने को मिलता है।

राजपूत राजा स्वयं महत्वाकांक्षी थे और राज्यविस्तार के लिये युद्ध करते रहते थे। आंतरिक फूट, आपसी वैमनस्य, बाहरी आक्रमण और देश की रक्षा के लिये सदा तैयार रहना पड़ता था। राजस्थान के राजाओं का राज्य शक्ति पर आधारित था अतः संगठित सेना आवश्यक थी। मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद राजपूत तोपों और बन्दूकों का प्रयोग भी सीख गये थे। मुसलमानों ने राजपूत सैनिक व्यवस्था को बड़ा मोड़ प्रदान किया। वे पैदल की जगह घोड़ों का प्रयोग करने लगे और राजपूत अफसर मुगलों का लिबास और कवच आदि धारण करने लगे।

राजा मुख्य सेनापति था। युद्ध के मैदान मे उसके सभी सामन्त उसके साथ इकट्ठा होकर लड़ते थे। सेना के अलग-अलग विभागों की देख-भाल के लिए अफसर थे जो पैदलपति, गजपति, अश्वपति आदि होते थे। राजपूतों ने भी चित्तौड़, जोधपुर आदि किलों पर रक्षा के लिये तोपें चढ़ा ली थी। राजपूत अपनी सेना में अन्य जाति व धर्म के लोगों को भी रख लेते थे। ऐसे अफसर जो मुसलमान या मराठा होते थे, परदेशी कहलाते थे।

राजपूत सैनिक वीर होते हुए भी हथियारों के मामले में आक्रमणकारियों से पीछे थे। वे हर बार अपनी हार से सबक लेते और फिर भी संसार में पीछे ही रहे। अन्यथा वीरता और साहस में वे किसी से कम न थे।

11. समीक्षा—राजस्थान की शासन व्यवस्था पर यदि एक दृष्टिपात किया जाय तो हमें अनेकों दोष साफ नजर आते हैं। सबसे पहला दोष तो यह

है कि सारी व्यवस्था एक राजा पर निर्भर थी। राजा अयोग्य होते ही राज्य का पतन हो जाता था। दूसरा दोष यह है कि राज्य में अफसर और नौकरों के लिये कोई ठोस या विधिवत नियम नहीं थे जिससे कर्मचारियों के हितों की रक्षा नहीं हो सकती थी। सभी अधिकारी मनमानी करते थे। तीसरा दोष यह था कि अनेक पद परम्परागत थे। जिनमे अयोग्य व्यक्तियों के आ जाने से राज्य के शासन का स्तर गिर जाता था और पक्षपात होता था। चौथा दोष यह था कि आमदनी का अधिकांश भाग राजा, राजमहल और सेना पर व्यय होता था। राजकीय जीवन में विलासिता बढ़ती जा रही थी और प्रजा का शोषण बढ़ता जा रहा था। जागीरदारों को मनमानी करने से रोकने वाला कोई नहीं था और वे भी अपने आपको राजा की तरह विलासी बनाते जा रहे थे। जिसका सीधा असर जनता पर पड़ता था। परिणाम स्वरूप किसान व श्रम जीवी अधिक गरीब होता गया और सामन्त वर्ग विलासी व धनवान। पाँचवा दोष यह था कि न्याय व्यवस्था भी सामान्य व संतोषजनक नहीं थी। यदि भय के स्थान पर प्रेम व निष्पक्षता को न्याय का आधार बनाया जाता तो आज हिन्दू कानून का रूप ही दूसरा होता। अन्तिम मोटा दोष यह था कि राजस्थान के राजाओं की सेना साहसी और मर मिटने वाले वफादार सैनिकों की एक भीड़ थी जिसमे प्रशिक्षण हथियार और संगठन की भारी कमी थी और यही कमी राजपूत राज्यो के पतन का सबसे बड़ा कारण बन गयी।

अध्याय 22

राजस्थान में शिक्षा

राजस्थान में शिक्षा

प्राचीन काल की भाँति राजस्थान के मध्ययुग में शिक्षा का बहुत महत्व रहा है। इस युग की शिक्षा विशेष विचारधारा और उद्देश्य पर आधारित थी। शिक्षा का प्राथमिक ध्येय आर्थिक सामाजिक व बौद्धिक होने के साथ साथ परम् शांति और नैतिक व आध्यात्मिक भी था। शिक्षा के बिना विकास नहीं होता था और बौद्धिक विकास के बिना जीवन का आर्थिक दृष्टिकोण नहीं सुधरता, अतः शिक्षा अनिवार्य है।

प्राचीन काल से यह परम्परा चली आ रही है कि साहित्य संगीत व कला के बिना मनुष्य पशु के समान है, तुच्छ है और पाषाण से भी हीन है. पर भी मध्यकालीन राजस्थान में शिक्षा का विकास प्राचीन भारत या आधुनिक भारत के बराबर नहीं हुआ। वास्तव में राजपूतों की अधीनता में राजस्थान, शिक्षा के दृष्टिकोण से नितान्त उपेक्षित रहा क्योंकि यहाँ के राजाओं को अपने जीवन का अधिकतम समय अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही देना पड़ा फिर भी जो प्रगति या शिक्षा का विकास इस युग में हुआ वह निम्न है—

1. शिक्षा का उद्देश्य—डॉ० गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—"अर्थोपार्जन और बौद्धिक विकास के साथ परम् शांति प्राप्त करना उस युग की शिक्षा का लक्ष्य था।"

राजपूतों की शिक्षा में वैदिक कालीन परम्पराओं के कुछ चिह्न मिलते हैं। अतः पढ़ने लिखने की शिक्षा के साथ धार्मिक व नैतिक आदर्शों का भी ज्ञान करवाया जाता था। मूलतः शिक्षा धर्म पर आधारित थी परन्तु उतनी धर्म प्रेरित नहीं थी जितनी मुसलमानों के राज्य में। पाठशालाओं में जिन शिक्षकों को शिक्षा का कार्य सौंपा जाता था वे अपने छात्रों को इतना योग्य बनाना चाहते थे कि समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़े। शिक्षा के मूलस्वरूप से 2 उद्देश्य थे—

(1) संस्कृति व स्वतन्त्रता की रक्षा।

(2) जीविकोपार्जन के साधन।

विद्यार्थियों को आरम्भिक कक्षाओं में ही देशभक्ति और स्वतन्त्रता
ाठ पढ़ाया जाता था। धर्म पर आधारित होने के कारण सभी स्कूलों में f
न किसी धर्म का अध्ययन अवश्य होता था जिसमें नैतिकता व परलोक
वान सुधरती रहती थी। इस प्रकार शिक्षा इस जीवन को सुखी बनाकर
लोक में मुक्ति दिलाने का साधन थी।

2. शिक्षा के प्रकार—मूलरूप में शिक्षा 4 प्रकार की थी। (1) घरे
शिक्षा, (2) केन्द्र की शिक्षा, (3) उपासरों की शिक्षा व (4) स्थानी
अध्यापकों की शिक्षा।

घरेलू शिक्षा का प्रचलन व्यावसायिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर होता
साधारणतः हर एक कारीगर अपने लड़के को अपना हुनर सीखा देते थे।
बिना स्कूल गये ही छात्र अपने व्यवसाय में निपुण हो जाता था। इस
की शिक्षा से हस्तकौशल उच्च स्तर को प्राप्त कर गया था। उस समय
हुए चित्र, जेवर, महल और लकड़ी का सामान अपने अपने क्षेत्र की
के प्रतीक हैं। बाबर ने भी भारतीय घरेलू शिक्षा की अपनी जीवनी
प्रशंसा की है। घरों में रहकर पैतृक-परम्परा के अनुसार शिक्षा प्रा
स्थानी शिक्षा का आधार था। खेती, वाणिज्य व दस्तकारी इसी
प्रकार से पनप गयी थी।

शिक्षा के केन्द्र भी होते थे जिन्हें गुरुकुल या आश्रम भी कह
था। एक गुरु के तत्वाधान में एक ऐसा केन्द्र रहा करता था, जो आ
तरह होते थे जिनमें शिष्य गुरु की सेवा करता था और गुरु के चरणों
कर शिक्षा ग्रहण करता था। किसी प्रकार के पाठ्यक्रम या हवन की
पता नहीं थी। एकलिंग मन्दिरों के लेखों से इस बात का पता चलता
सोम शर्मा नामक महान् विद्वान गुरु मेवाड़ था उसी प्रकार विख्यात गुरु
जिस प्रकार कि विश्वामित्र द्रोणाचार्य आदि अपने समय के थे। इस गुरु
सभी वेदों तथा शास्त्रों में सभी शिष्यों को पारंगत कर दिया था। इन
में बड़े घराने के लोग अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिये भेजते थे।

जोधपुर नरेश महाराज गजसिंह ने गुरु के आश्रम में रहकर ही शि
प्राप्त की थी और गुरु सोम शर्मा ने वेद, शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये
दियों तक अपने घर की चार दीवारी को नहीं छोड़ा था। इस प्रकार
आश्रम होते थे। छात्रों से इन आश्रमों में कोई शुल्क नहीं लिया जाता
गुरुओं के निर्वाह के लिये दानी शासक किसी न किसी गांव की सम्पूर्ण
रुओं को अर्पित कर देते थे। वे निरन्तर विद्याध्ययन में लीन रह कर
छात्रों को योग्य बनाते थे।

शिक्षा का तीसरा प्रकार नगरों और कस्बों के अन्दर जैन उपासरे थे। इनमें रहने वाले साधु मनत प्रयत्न से उपयोगी ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार कर जैन धर्म पर आधारित शिक्षा दिया करते थे। इन उपासरों में कई विषयों की उपयोगी हस्तलिखित पुस्तकें रहती थीं। समृद्ध व्यक्ति इन उपासरों का निर्माण करवाते थे और इनमें साधु लोग रहकर धर्म पर आधारित शिक्षा देते थे। इन उपासरों में प्रौढ़ शिक्षा भी होती रहती थी जो प्रवचनों द्वारा शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार के दो केन्द्र उदयपुर में प्रसिद्ध हुए हैं। एक कविता शिक्षा और दूसरा प्राणदास। इन केन्द्रों में जैन बालकों को स्कूल बनाकर शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा का चौथा प्रकार स्थानीय अध्यापन कार्य था। ये पाठशालाएं गांव व कस्बों में होती थीं। स्थानीय लोग चन्दा व दान द्वारा इस प्रकार की पाठशालाएँ चलाते थे। यहाँ अध्यापक लोग खुले मैदान में पेड़ या छोटे छप्पर के नीचे बैठकर विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। यह शिक्षा मौखिक थी और गुरु के दण्ड के विधान पर आधारित थी। साधारणतः माता-पिता बच्चे को गुरु के सुपुर्द करते समय यह कहते थे कि चमड़ी आपकी व हड्डियाँ हमारी अर्थात् गुरु को बालक को सजा देने का पूरा अधिकार था। इन चार प्रकार की संस्थाओं में शिक्षा दी जाती थी।

3 आयु—16 वीं व 17 वीं शताब्दी के पुरालेख व वाच्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शिक्षा की अवधि 5 वर्ष से 18 वर्ष तक थी। वैदिक काल की तरह 8 वर्ष से 25 वर्ष तक न रहकर घटती हुई आयु और आवश्यकता के अनुसार शिक्षा 18 वर्ष पर समाप्त कर दी जाती थी। इस आयु में विद्यार्थी गुरु के घर में रहना और रात दिन पढ़कर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना था। विद्यार्थियों को जल्दी पारंगत होना पड़ता था और आजकल की तरह मौसमी अवकाश वहाँ नहीं होते थे। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि पूर्णिमा व अमावस्या को छोड़कर तथा पर्व के दिनों को त्यागकर सभी दिन विद्यार्थी को पढ़ना पड़ता था। अतः 5 वर्ष से 18 वर्ष का समय भी शिक्षा के लिए पर्याप्त था।

डॉ॰ गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"अवकाश जैसी कोई वस्तु नहीं थी। सुबह से रात तक और रात्रि में भी किसी भी समय गुरु किसी भी प्रकार की शिक्षा दे सकता था। नियमित पाठ्यक्रम नहीं थे और न ही समय सारणी।"

4. विषय—सामान्यतः पढ़ने लिखने के विषय भाषा और गणित थे किन्तु 14 वीं शताब्दी के 'कान्हड़दे प्रबन्ध' से ज्ञात होता है कि पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, नक्षत्रविद्या, और तर्कशास्त्र का भी अध्ययन होता था। अन्य पढ़ाये जाने वाले विषय वेद, शास्त्र, नीति मीमांसा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, गणित,

साहित्य, व व्याकरण थे। इन विषयों के अतिरिक्त चित्रकला, चिकित्सा व संगीत में भी अच्छी शिक्षा दी जाती थी। आज की तरह उस समय भी विवाद और लेखन प्रतियोगिता, पठन-पाठन प्रतियोगिता, अन्ताक्षरी प्रतियो आदि अनेक प्रभावित करने वाले ढंग से शिक्षा दी जाती थी।

राजस्थान मे शिक्षा का माध्यम मूलस्वरूप से कथा का तरीका व वार्ता द्वारा सयाने लोगों को शिक्षा दी जाती थी, जिससे कठिन भी सरल हो जाते थे। इस प्रकार राजस्थान में पढ़ाये जाने वाले विषय क्षेत्र व्यापक था और यह आवश्यक नहीं था कि एक विद्यार्थी सभी विषय योग्यता प्राप्त करे। साधारणत संगीत, नृत्य, चिकित्सा व चित्रकला आदि से एक व्यक्ति पढता था। धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, मीमांसा, व वेद छात्र पढ़ते थे तो ज्योतिष, नक्षत्र शास्त्र गणित आदि तीसरे छात्र पढ़ते इस प्रकार विषयो का वितरण भी था।

5. स्त्री-शिक्षा—देश का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर मे विद्वान् स्त्रियाँ हुई है। हमे ऐसे ग्रन्थ सैकड़ो की सख्या में मिलते हैं मूलरूप से घर-घर मे स्त्रियों द्वारा ही पढ़े जाते हैं रामायण, भागवत् और महाभारत की कथायें, भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथायें आदि ऐसी पुस्तकें हैं जिनके अध्ययन से राजस्थान की सामान्य नारी कुशल गृहणी बन जाती थी और स्त्री शिक्षा का मूल उद्देश्य यही था कि स्त्रियों को अपने घर का सचालन करना आ जाय। साधारण व्यक्ति अपनी लड़की को शिक्षा देने के प्रति जागरूक नहीं था। समय की परपरा के अनुसार स्त्री शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था नही थी और साधारण व्यक्ति अपनी स्त्री और बच्चों के लिए अलग स्कूल बनाने मे समर्थ नहीं था फलस्वरूप लड़कियाँ पाठशालाओं में नहीं जाती थी। पुस्तकों का अभाव भी स्त्रियो को शिक्षा से वंचित रखता था अत युग की परपरा लड़कियों के लिए अलग विद्यालयों का अभाव व पुस्तकों की कमी के कारण स्त्री शिक्षा बहुत कम थी।

राजस्थान के ग्रन्थो से पता चलता है कि देलवाड़ा की राजकुमारी ने शिक्षा पाने के लिए अनेक पंडितों को अपने यहाँ नौकरी दी और उनसे विभिन्न पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार करवा कर स्वयं उच्चकोटि की विदु बन गई।

मध्यकालीन राजस्थान की शिक्षित बालाओं में देलवाड़ा की बड़ राजकुमारी रतबाई अपना निश्चित ऊँचा स्थान रखती है। स्त्री शिक्षा उच्चवर्ग ही सीमित थी और राजस्थान की राजकुमारियाँ, क्षत्रीय कुल की अन लायें आदि महलों में ही शिक्षा प्राप्त करती थी। जयपुर के पोथीखाने मे एक चित्र मिला है जिसमें एक वृद्ध अध्यापक राजकुमारी को शिक्षा दे रहा है।

यह चित्र इस बात की पुष्टि करता है कि शिक्षा राजघरानों में महलों मे ही दी जाती थी और सिर्फ उच्च घराने की लड़कियाँ ही पढ़ती थी।

6. पुस्तकालय—राजपूत काल मे शिक्षा का प्रचार कितना था यह उस समय के प्राप्त पुस्तकालयों से चलता है। हमें राजमहलों में और पोथीखानों में ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ मिले हैं जो गीता, रामायण, वेद, पुराण व धार्मिक साहित्य से सम्बन्धित हैं। अत: स्पष्ट है कि पुस्तकालयों का मूल आकर्षण धार्मिक ग्रन्थ थे। जैन उपासरों मे बहुत बड़े-बड़े पुस्तकालय होते थे और समृद्ध जैनी अपने खर्चे से पुस्तकें लिखवाकर उपासरों को अनुदान करते थे। इन पुस्तकों को जिल्द में बाँधकर रखा जाता था और जिल्द के लिए गत्ते की जगह लकड़ी का प्रयोग होता था। इन लकड़ी की तख्तियों के ऊपर सुन्दर कारीगरी की जाती थी जिससे पुस्तक दर्शन भी अति सुन्दर हो जाता था।

प्रत्येक विषय के अलग-अलग बण्डल बनाकर रखे जाते थे और उन पर क्रम संख्या लगा दी जाती थी। जयपुर का पोथीखाना, उदयपुर व कोटा के सरस्वती भण्डार उस समय के बड़े-बड़े पुस्तकालय थे। इतिहासकार टाड इन पुस्तकों को महत्वपूर्ण बताते हुए लिखते हैं कि—"ये पुस्तकें उस युग के खजाने हैं जो आज भी हमारे लिए एक बृहद कोष के रूप में हैं।"

इन पुस्तकालयों में संग्रहित पुस्तकों से पता चलता है कि पुस्तक की नकल करने वाला अपना नाम अन्त मे हासिये में लिख देता था और जिस पुस्तक की नकल कर रहा है उस पुस्तक का नाम भी अंकित करता था।

7. शिक्षा का स्तर—वैसे तो मध्ययुगीन राजस्थान मे ऐसा कोई माप-दण्ड नहीं था जिससे शिक्षा के स्तर को नापा जा सके किन्तु उस समय भी शिक्षा का स्तर तुलनात्मक रूप से ऊँचा था उस समय के लिखे गये ग्रन्थ आज भी देश के मौलिक ग्रन्थों में स्थान रखते हैं। गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में जैसी श्रद्धा इस युग में नहीं। आधुनिक काल के छात्र गुरु सहर्ष शिक्षा के गिरे हुए स्तर के द्योतक हैं। किन्तु मध्यकालीन राजस्थान मे वास्तव में निपुण गुरु ही शिक्षा देते थे, अतः शिक्षा का स्तर व छात्रों का विकास अच्छा होने के कारण छापेखाने-का अभाव व पुस्तकों की कमी भी ढक जाती थी।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"जो शिक्षा की सरलता आज हमें सरकार के द्वारा उपलब्ध होती है वही संरक्षण विद्या प्रेमी जनों से मिल जाती थी। मध्ययुगीन राजस्थान में गाँव-गाँव मे पाठशाला थी। प्रत्येक नगर व कस्बा विद्या के केन्द्र थे।"

शिक्षा का विकास आज के युग की भाँति भले ही नहीं रहा हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा के परिणाम सन्तोषजनक थे इसीलिए उस समय

मे अनेको ऐसे विद्वान् हुए जिन्होने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और अपने युग राज्य और धर्म का गौरव बढ़ाया। सभी क्षेत्रों के विद्वानों मे यदि हम दृष्टिपात करें तो सोमशर्मा, वेदशर्मा, मदन, हीरानन्द, नेणसी, सदाशिव आदि उल्लेखनीय हैं। फिर भी अलग-अलग राज्यों मे शिक्षा का स्तर अलग अलग था।

उपाधियाँ—शिक्षा समाप्ति पर गुरु अपने शिष्य को उसकी योग्यतानुसार उपाधि भी देता था यद्यपि आधुनिक काल जैसे विश्व विद्यालय व परीक्षा के केन्द्र नही थे फिर भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वालो को कई उपाधियाँ दी जाती थी जिनमे कवि, कविराज, महामोहपाध्याय और आचार्य की उपाधियाँ सारे राजस्थान मे अपनी मान्यता रखती थी।

ओझाजी अपने उदयपुर राज्य के इतिहास के पहले भाग मे इन उपाधियो का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"उपाधियाँ अद्वितीय प्रतिभा वाले विद्यार्थी को ही प्रदान की जाती थी और आचार्य को उपाधि तो हजारों मे एक छात्र को मिलती थी।"

इन उपाधियो को प्रदान करते के लिए किसी राजा या महागुरु की स्वीकृति की आवश्यकता नही थी। अध्यापक सन्तोषी थे उनका जीवन सरल व नि स्वार्थ था अत उनकी दी गई उपाधियो पर कोई शंका या टिप्पणी नहीं की जाती थी। छोटे-बड़े सभी गुरुओ द्वारा दी गई उपाधियों को मान्यता प्राप्त थी। इस प्रकार अधिक प्रचार न होते हुए भी राजस्थान में शिक्षा का सामान्य प्रचार था।

अनेक अनुसधानकर्त्ताओ ने राजस्थान की इस शिक्षा पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि—"शिक्षा का स्तर ऊँचा, अध्ययन मौलिक और शिक्षा की सर्वांगीण उन्नति इस युग मे हुई थी।"

श्री गहलोत के शब्दो मे—"पुस्तकें कम होती थीं, ज्यादातर पढ़ाई मौखिक थी। साहित्यिक पुस्तको मे देवी देवताओं की कथाएँ तथा वंशावलिएँ होती थी। छात्रो मे अनुशासन डरा कर रखा जाता था तथा बेतो से मारकर, मुक्के लगाकर, मुर्गा बनाकर दण्ड दिये जाते थे। लड़कियों को पढ़ने नही भेजा जाता था ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि लड़कियाँ पढ़ेंगी तो वे शीघ्र ही विधवा हो जायेंगी।"

श्री गहलोत आगे कहते हैं कि—"कविता केवल मनोविनोद तथा धर्मो विचार प्रदर्शन के लिए ही रह गई थी। अधिकतर कविता शृंगार रस मे थी।"

विद्वानों व पुस्तको के नाम बताते हुए श्री गहलोत कहते हैं

कि—"राजस्थान के नरेशों के आश्रय में ही हमीर रासो, राजरूपक, सूरज-प्रकाश आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना हुई। और भक्तों में मीरां, सूरदास, तुलसीदास, नागरीदास और वृंदावनदास आदि उल्लेखनीय हैं। जिनमें केवल तुलसीदास बाहर के थे।

श्री गहलोत इतना सब बताने के बाद यह बताते हैं कि शिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम थी। 1941 तक राजस्थान में 5% लोग ही साक्षर नहीं थे और महिलाओं में तो शिक्षा ·85% ही थी और कुल मिलाकर 1457 पाठशालायें सारे राजस्थान में थी। यह गिनती श्री ओझाजी भी राजस्थान के इतिहास की दूसरी जिल्द में देते हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र में राजस्थान के लोग अधिक जागरूक नहीं थे। राजा भी उतने उत्साही नहीं थे जितने मध्य भारत के अन्य राजा। अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ने लगी। पाश्चात्य शिक्षा व छापेखाने के आविष्कार के साथ राजस्थान में शिक्षा के प्रति इच्छा व रुचि बढ़ती जा रही है।

9 शिक्षा का सृजन—किसी भी युग की शिक्षा के विकास का मापदण्ड साहित्य सृजन है। इस समय सभी क्षेत्रों में साहित्य काव्य, ऐतिहासिक साहित्य आदि की जो रचना हुई उनकी यदि तालिका तैयार करें तो कई ग्रन्थ भर जायेंगे। यहां कुछ अति उद्‌भट विद्वानों के नाम देना ही पर्याप्त होगा। मेवाड़ में कवियों व ऐतिहासिक लेखकों की कमी नहीं थी।

चित्तौड़ के समीधेश्वर लेख की रचना दशोरा जाति के भट्ट विष्णु ने की थी। इसी प्रकार कुंभा के कीर्ति स्तम्भ की प्रशस्ति भी अत्यधिक उल्लेखनीय है। कुंभलगढ़ प्रशस्ति के लेखक भी यहां चित्तौड़ के कविराज थे। स्वयं कुंभा बड़ा विद्वान था उसके रचे हुए ग्रन्थ संगीत राज, संगीत मीमांसा और सूड़ प्रबन्ध आदि मुख्य हैं। गीतगोविन्द पर रसिक प्रिया नाम की टीका भी कुंभा को अमर बनाती है। उसने चार नाटकों की रचना की थी। संगीत रत्नाकर की टीका भी कुंभा ने स्वयं ने लिखी थी।

इसी प्रकार सांगा व प्रताप के समय में भी युद्ध में व्यस्त रहने पर भी राजा और से प्राप्त सिंहासन बत्तीसी उस समय की साहित्यिक रचनाओं में अपना स्थान रखती है। अमर काव्य वंशावली तथा राज्य प्रशस्ति महाकाव्य लिख कर रणछोड़ भट्ट ने राजसिंह को अमर बना दिया। इसी समय सदाशिव ने लिखा हुआ संस्कृत भाषा का ग्रन्थ राज रत्नाकर महान् ऐतिहासिक काव्य है। राज प्रकाश जिसे किशोरदास ने लिखा था मेवाड़ी भाषा में अत्यधिक प्रसिद्ध है।

महाराणा भीमसिंह के समय में भीम विलास तथा भीम प्रकाश की प्रतियाँ तैयार हुईं। ये चारण कवि आढ़ा कृष्ण ने लिखी थीं। इसी प्रकार

ऐतिहासिक ग्रन्थो मे कवि पद्मनाभ द्वारा रचित कान्हड़दे प्रबन्ध की [illegible]
व 5 भाग ऐतिहासिक महत्वपूर्ण है।

जोधपुर राज्य मे डिंगल भाषा मे अनेक ग्रन्थों की रचना हुई और समय समय पर ये लोग विद्वानों को आश्रय देकर ग्रन्थ लिखवाया करते थे।

मारवाड़ के समय मे लिखे गए लेख और शिलालेख जो मन्दिरों व किलों मे उपलब्ध है। उस समय के विद्वानों को सम्मान दिखाने के लिए पर्याप्त है। जोधपुर की ख्यातें व कारण ग्रन्थों से प्रकट होता है कि राजा गजसिंह ने अपने समय के कवियों का सम्मान किये थे। उन्ही के आश्रित हेम कवि ने गुण भाषा नामक ग्रन्थ की रचना की थी और केशवदास कवि ने गुणरूपक काव्य लिखकर जोधपुर के साहित्य को अमर बना दिया। महाराजा जसवन्तसिंह भी साहित्य प्रेमी थे। इस समय भाषा के कई ग्रन्थ लिखे गये जिनमें भाषा भूषण, सर्वोत्तम है। जिसमे अलकार, रीति व छन्द तथा रस का सुन्दर वर्णन है। जोधपुर के अबुलफजल व मुहम्मद नैणसी को कौन नहीं जानता। उनकी ख्यात व जोधपुर रा परगना री विगत आज भी इतिहास के अनमोल ग्रन्थ है। अजीत सिंह भी साहित्य का उपासक था वह एक लेखक को एक पुस्तक की रचना पर 2 हजार नकद व जागीर दिया करता था और अच्छे लेखकों को 500 रुपये वार्षिक आय की जागीर दिया करता था। मानसिंह राजा को इतिहास से बड़ा प्रेम था उसने उपयोगी सामग्री के आधार पर जोधपुर की ख्यात लिखवायी।

टाड महोदय के शब्दो मे—"मानसिंह कई भाषाओं का ज्ञाता था। वह फारसी भी अच्छी जानता था और कवियो व लेखकों का आदर करता था।"

स्वयं टाड ने उसे कुछ ऐतिहासिक पुस्तकें भेंट की थी।

बीकानेर मे भी साहित्यिक प्रगतियां मिलती हैं। कई जैन, शिव व विष्णु मंदिरों मे ऐसे ग्रन्थ मिले हैं जो महाराजाओ की स्मृति में लिखे गये हैं, जिनमे बीकानेर जैन लेख सग्रह अत्यधिक महत्वपूर्ण पुस्तक है।

बीकानेर के राजा रायसिंह को मुशीदेवी प्रसाद ने अपनी पुस्तक मे राजपूताने का कर्ण कहा है, वह स्वय कवि था और कवियो को उदारता से दान देता था।

मध्ययुगीन साहित्यिक प्रगति को पूर्ण रूप से अभी तक नहीं आंका जा सका है। जहाँ तक भाषा की सेवा का प्रश्न है इस युग मे राजस्थानी भाषा में अच्छे ग्रन्थ रचे गये, जिनमे मौलिकता भी है और जिनकी उपयोगिता भी। राजस्थान मे जनसाधारण पर साहित्य का प्रभाव बताते हुए डॉ० गोपीनाथ शर्मा कहते हैं कि — "किसी भी राजदरबार या साधारण परिवार का उत्सव सफल नहीं माना जा सकता था। जब तक वहाँ राजस्थानी काव्य के उद्धरणों को न दोहराया जाय।"

अध्याय 23

ध्यकालीन राजस्थान की सामाजिक दशा

1400-1800

मध्यकालीन राजस्थान की सामाजिक दशा

इतिहासकार टाड के शब्दों में—"राष्ट्र के आचरण और व्यवहार उसके इतिहास में महत्वपूर्ण अंग की पूर्ति करते हैं। राजपूतों के जीवन के साथ पूर्वजों का अटूट सम्बन्ध है। लड़ाकू राजपूतों में उनके पूर्वजों के गुणों का जितना सामजस्य मिलता है उतना अन्यतः नहीं मिलेगा। बाप दादाओं की शान को छोड़ देने वालों से वे घृणा करते हैं।"

वास्तव में राजस्थान का समाज सदियों से वैसा ही चला आ रहा है। मुगलों के साथ घनिष्ट सम्पर्क रहने पर भी, राजनैतिक समन्वय होने के बाद भी राजपूतों का समाज आज भी पूर्ववत् है। पृथ्वीराज चौहान के समय में मुसलमानों के आगमन से लेकर औरंगजेब के पतन के बाद तक राजपूतों ने समाज में जिन परिवर्तनों को अपनाया वे वास्तव में हिन्दू समाज के लिए महत्वपूर्ण हैं। यह सही नहीं है कि बाबर से हारने के बाद या पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु के बाद राजस्थान की राजनैतिक एकता समाप्त हो गयी हो। वास्तव में इन पराजयों ने राजपूतों की आँखें खोल दी और जहाँ पृथ्वीराज, प्रताप, मालदेव, चन्द्रसेन जैसे राष्ट्रीय देश भक्त हुए वहाँ समाज में भी क्रांति करने वाले कई सपूत जन्मे। अकबर की सत्तावादी नीति ने और राजपूतों से मेल जोल बढ़ाने की नीति ने राजपूतों के रहन सहन व सामाजिक परम्पराओं पर प्रभाव डाला। आपसी सम्पर्क से राजस्थान के जन-जीवन में परिवर्तन आना स्वाभाविक था। डॉ० त्रिपाठी के शब्दों में—"अकबर ने अन्य राजपूत राजाओं के प्रति अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया था कि न तो वह उनके राज्यों पर अधिकार करना चाहता और न उसे उनके सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करना था।"

फिर भी जिन वैवाहिक संबन्ध की नीति को उसने अपनाया उसके परिणाम बड़े महत्वपूर्ण रहे। अकबर ने जयपुर की राजकुमारियों से विवाह किया जिससे शाहजादे सलीम का जन्म हुआ और इसी प्रकार शाहजहाँ का जन्म भी हिन्दू राजकुमारी से हुआ था। यद्यपि हिन्दू राजा इन वैवाहिक संबन्धों से सन्तुष्ट नहीं थे फिर भी समाज पर इसका एक सीधा असर पड़ा और मुसलमानों के साथ मेल जोल बढ़ाना अच्छा समझा जाने लगा।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि—"ज्यों ज्यों मुगल प्रभाव राज परिवारों मे बढ़ता गया त्यों-त्यों राजस्थान के नरेशों की स्वतन्त्रता भी कम होने लगी। इससे समाज के जाति निर्माण पर सीधा प्रभाव पड़ा और यदि हम ओसवाल या कायस्थ जाति का विश्लेषण करें तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि ये मिश्रित जातियाँ हैं।"

इस प्रकार मुसलमानों के सम्पर्क में रहकर राजपूतों की राजनीति पर ही प्रभाव नही पड़ा वरन् उनके समाज, राजा व उच्चवर्ग के लोगों पर धार्मिक प्रभाव पड़े।

1. सामाजिक समन्वय—भारत का समाज चार भागों में बँटा था। टाड इस समाज की तुलना मध्यकालीन यूरोप के सामन्तों से करते इसमे कोई सन्देह नहीं कि राजस्थान की जाति प्रथा बहुत पहले से ही चल रही थी, लेकिन मुसलमानों के संपर्क मे आकर समाज का वर्गीकरण वर्गों आधारित न होकर जाति पर आधारित हो गया। राजस्थानी नरेश नि हो चुके थे और अपने सामन्तो को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे। व्यापारिक वर्ग का महत्व समाज मे बढ़ने लगा था। छोटे रजवाड़े बड़ा महत्वपूर्ण हो गये थे। राजालोग अपने सामन्तो को भाईजी, काकाजी व आदर के शब्दों से पुकारने लगे। ब्राह्मणों का रूढ़ीवाद पूर्ववत् चल रहा था ये ब्राह्मण दक्षिण व अन्य प्रान्तों के ब्राह्मणो से घृणा करते थे। उन ब्राह्मणों की जाति अपने आप में अलग थी और सामाजिक समारोह में तथा संस्कारों ब्राह्मणों का महत्व था। ये लोग एक अलग ही वातावरण में रहते थे। रा इनका सम्मान करते थे और आर्यवृत की तरह इन्हें गुरु मानकर पूजा था। राजपूतों में प्रायः 36 जातियाँ बन गई थी जिनमें चौहान, राठौ परमार, गुहिलोत आदि प्रमुख थीं। ये राजपूत अपने आपको वैदिक क्षत्रि के समान मानते थे और देश पर शासन करना व रक्षा करना अपना कर्म समझते थे। कुछ विदेशियों को भी धर्म परिवर्तन द्वारा राजपूत बना लि गया था और अन्य पहाड़ी लड़ाकू जातियाँ भी अपने आपको राजपूत कह गौरान्वित करती थी। मध्ययुगीन राजस्थान में इन राजपूतों का बड़ा महत्व था। तीसरी जाति वैश्य थी जो आरम्भ में अग्रवाल, महेश्वरी व ओसवाल में विभाजित थी। इनमें से अधिकतर ओसवाल राजाओं की सैनिक सेवा किया करते थे। कुछ इतिहासकार ओसवालों में राजपूतों का रक्त मानते हैं। जैन धर्म स्वीकार करने के बाद इन लोगों ने ठाकुर की उपाधि त्याग दी और व्यापार को अपना लिया। मनुस्मृति के अनुसार वैश्य को कृषि, पशुपालन व्यापार व लेन देन का धन्धा करना चाहिये लेकिन राजस्थान के इस

सीर सेनाओं में भी कार्य करते थे। इस प्रकार की परम्परा राजपूत युग में भी देखने को मिलती है। भारत के समाज का चौथा अंग शूद्र राजस्थान में था किन्तु ये लोग कृषि करते थे और अन्य छोटे-मोटे व्यवसायों में भी भाग लेते थे।

डॉ॰ गोपीनाथ के शब्दों में—"सामाजिक जीवन की झाँकी में अछूत वर्गों का भी अध्ययन अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। ये लोग अपने गन्दे कार्यों के कारण अछूत समझे जाते थे और जब ये लोग अपने कार्यों से उदर पोषण नहीं कर सकते थे तो खेती करना व पत्थर ढोना वर्जित नहीं था।"

इस युग में दास भी होते थे जिन्हें दास, दासी, गोला, गोली, चाकर कहते थे। भारत में प्राचीनकाल से दासों का उल्लेख मिलता है किन्तु मुसलमानों के आगमन के साथ सामाजिक स्तर आँकने का सबसे बड़ा नाप घर में दासों की संख्या थी। सुल्तानियत काल के बादशाह तो दासों की संख्या से ही अपना बड़प्पन आँकते थे अतः राजपूत भी विवाह के अवसर पर दास व दासियों को दहेज में देते थे। इन दासों को वस्तुओं की भाँति अदल बदल किया जा सकता था व बेचा जा सकता था। युद्ध के बाद भी बड़ी संख्या में दास बदले जाते थे। बहुधा दासों की बहुतायत से नैतिक पतन की आशंका बनी रहती थी।

प्रत्येक जाति खान-पान तथा वैवाहिक संबंध में शुद्ध अशुद्ध का विचार रखती थी और प्रायः सभी का खानपान अलग-अलग था किन्तु विवाह के समय दूसरी जाति के लोगों को बुलाना एक परंपरा सी बन गई थी। होली व दीवाली के अवसर पर अनेक जाति के समुदाय राजा से मिलने आते थे। हिन्दू समाज में मुसलमान शिल्पि को अच्छा सम्मान प्राप्त था। जातियों में चमार, कसाई, बढ़ई, रैगर, मणी, जुलाहे, सुनार, लुहार, आदि मुख्य थे। संक्षेप में जातियता जन्म के आधार पर समझी जाती थी और हर जाति के व्यक्ति को अपना ही व्यवसाय करना पड़ता था।

2. रीति रिवाज—हिन्दू समाज में संस्कारों को महत्त्व दिया जाता था। बच्चे के जन्म से मृत्यु तक अनेक संस्कार की श्रेणी बनी हुई थी। राजस्थान में प्रचलित संस्कार जातकर्म, चूड़ाकर्म, विवाह, उपनयन व अन्त्येष्टी प्रमुख संस्कार थे। इनकी मान्यता राजपूतों व ब्राह्मणों में अधिक थी। इन संस्कारों के अतिरिक्त दूसरे दस्तूर भी प्रभावशाली हो गये थे। विवाह का दस्तूर धीरे-धीरे दहेज बन गया। स्वयम्बर प्रणाली पृथ्वीराज तृतीय के बाद देखने को नहीं मिलती। दहेज की प्रथा अभिशाप होने हुए भी बहुत बढ़ गई। राजपूतों में कई कुप्रथाएँ प्रचलित हो गई थी। छोटे बच्चों को जन्म के तत्काल बाद मार दिया जाता था। राजपूत तो कन्या का जन्म ही बुरा मानते थे। यह दहेज की कुप्रथा से डरकर शुरू हुआ था। आगे चलकर जब राजपूत अंग्रेजों

रिवार में हो गया तो लड़की का जीवन सुखमय नहीं हो सका। सामन्त ने जा की लड़की को आज्ञाकारी न पाकर अपने पिता के घर भेज दिया। तब जा ने अपने दामाद को बुलाकर अपने पास दाहिने तरफ बिठाया और अपने पनी लड़की से उसकी सेवा करवायी फिर दोनों को वापिस भेज दिया स्पष्ट कि राजपूतों में स्त्री समान होते हुये भी पति की आज्ञाधारिणी होती थी। सभी राजपूत महिलाएँ अपने पति के साथ सती हो जाया करती थी। नु स्मृतियों में कहा गया है कि "अपने अटूट अनुराग के परिणाम स्वरूप र, राजपूत अपनी पत्नी की छोटी से छोटी इच्छा की अवहेलना नहीं रता था।"

श्री टॉड के शब्दों में "पति के प्रति राजपूत रमणी का जो अनुराग ता है वह संसार के इतिहास में कहीं नहीं मिलेगा। मनुष्य के जीवन की ई सबसे बड़ी सम्पत्ति है जिसको सजीव मैंने राजपूतों में देखा है।"

बहुविवाह की प्रथा बहुत प्रचलित थी। राजपूतों व वैश्यों में इसका त प्रचलन था एक-एक राजा के कई रानियाँ होती थीं। डॉ० गोपीनाथ कहना है कि "यदि समय के कई नरेशों की पत्नियों का अनुमान लगायें तो नका औसत 9 से किसी कदर कम नहीं रहता।"

यह सामाजिक कुरीति राजस्थान में बहुत प्रचलित थी। इससे पारि- रिक जीवन कभी क्लेशमय हो जाता था। बहु पत्नी प्रथा से विधवाओं बाहुल्य होना स्वाभाविक था। पति के मरने के बाद उनको परिवार पर र स्वरूप माना जाता था सम्पत्ति में उनका कोई अधिकार नहीं होता था। र जीवन के बहु अनुभवों का सामना करना पड़ता था। महाराणा रायमल ा जयपुर के राजाओं ने विधवाओं की दशा सुधारने के लिये कई नियम ाये थे। सवाई जयसिंह ने तो विधवाओं के पुनः विवाह की भी व्यवस्था की। सती की प्रथा बहुत प्रचलित थी और राजपूतों के अतिरिक्त अन्य तियों भी सती का अनुकरण करने लगी थी और मध्यकालीन राजस्थान में ी होना एक आवश्यक घटना हो गई। यहाँ तक कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा ा के साथ जलजाने में बढ़ जाती थी। गाजे बाजे व ढोल ढमाके के साथ स्त्रियाँ ी होती थी किन्तु बाल विवाह के साथ साथ सती प्रथा का बढ़ जाना एक ामाजिक अन्याय था। पद्मनी के साथ सैकड़ों राजपूतनियों का मर मिटना ी इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना है।

ा के नाम साधारणतः कोमलता, ममता, मृदुलता प्यार, स्नेह, मिलते जुलते थे। स्त्रियों के कारण ही राजपूतों के घरों में जो देखने को मिलती है वह उस युग के साधारण व्यक्ति के घर

कोण और वहीं सिवशाही पगड़ी कहते थे। ऋतु के अनुसार पगड़ियों का ग होता था जिसमें सावन में लहरदार पगड़ी बाँधी जाती थी। दाढ़ी मूंछें पुरुषों का शृंगार था। पुरुष जूते पहिनते थे व स्त्रियां नंगे पैर रहती थीं।

विभिन्न स्तर के लोग अलग अलग तरह के पहनाव पहिनते थे। राजपूत साधारणतः श्वेत वस्त्र धारण करते थे किन्तु उनका दुपट्टा कशीदे का होता था। मीन लोग केवल घुटने तक की धोती व सिर पर फेंटा धारण कर सकते थे। मुगल सैनिकों और राजाओं के साथ रहकर राजा महाराजा और सेठ साहूकार मुगलमानी लिबास पहिनने लगे थे।

आदमी लोग भी जेवर पहिनते थे। कानों में कुंडल, हाथों में कड़े, गले में हार और भुजबंध बड़े लोग पहिनते थे। निम्न श्रेणी के लोग चाँदी व पीतल के आभूषण धारण करते थे मुसलमानों के प्रभाव से स्त्रियां चमकीली व किनारी वाली साड़ियां बाँधने लगी थीं। कुर्तीयों का प्रयोग बहुत बढ़ गया था और मलमल के छोटे दुपट्टे काम में आने लगे थे। डॉ॰ गोपीनाथ शर्मा ने कोई 20 तरह के ऐसे जेवरों के नाम दिये हैं जो साधारण तौर पर स्त्रियां पहिनती थीं। फैशन भी प्रचलित थी। दाँतों के ऊपर सोने की मेखें लगाई जाती थीं उन पर एक प्रकार का काला गोल सुंदर दाग भी लगाया जाता था। हाथों व पैरों पर मेंहदी की प्रथा बहुत प्रचलित थी। मेहन्दी शृंगार का प्रमुख साधन थी। आंखों में काजल व ललाट पर कई रंग की बिन्दी भी लगाई जाती थी जो स्त्रियों के स्वास्थ्य और मनोहरता की प्रवृत्ति का प्रदर्शन करती थी। बालों को कई तरह से सजाया जाता था।

6. भोजन—राजस्थान के लोग शाकाहारी व मांसाहारी दोनों थे। और स्थिति के लोगों का मुख्य भोजन राब था। सोगरों, घाट आदि मुख्य भोजन थे। मीठे पदार्थों में गुड़ व गुड़ से बनी वस्तुओं का प्रयोग होता था। बाजरा, ज्वार, मोठ, मक्की, जौ मूलरूप से खाये जाते थे। चने की दाल व उड़द की दाल के साथ थे। मजदूर अफीम व राजपूत शराब का प्रयोग करते थे। समृद्ध वर्गों के भोजन में कई प्रकार की तरकारियाँ, अचार व कई प्रकार की मिठाइयाँ होती थीं। मेहमान को चाँदी के थाल में भोजन कराना अच्छा समझा जाता था। विवाह के अवसर पर कई प्रकार की मिठाइयां बनती थीं। मुगलों के सम्पर्क में आकर अनेक प्रकार के मांसाहारी भोजन भी बनने लगे। पुलाव, बिरयानी खिचड़ी कबूली आदि भोजन मुगलों से सीखे थे।

7. ग्रामजीवन—मध्यकालीन राजस्थान का निवासी अधिकतर गाँवों में रहता था। ये गाँव व शहर अधिकतर मैदानी भूभाग की अपेक्षा टीले या नदी के किनारे बसे होते थे। गरीब आदमी कच्ची झोपड़ियाँ बनाते थे व

समूह था या तीन कमरों के मकान बनाया करते थे। मकानों के आगे आंगन होता था व बरामदा भी। जोधपुर की ख्यातों में इस प्रकार के मकानों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। संयुक्त परिवार प्रणाली भी साधारणतः राजस्थान का निवासी अपने वेशभूषा, बोलचाल खाने पीने के तरीके से स्पष्ट पता चल जाता था कि वह किस वर्ग व राज्य का है। समाज वर्गों में बंटा हुआ था, वर्ग जातियों में। धर्म-वर्ग व जाति के निर्माण में बहुत योगदान देता था। पड़ोसी एक दूसरे के सुख दुख में काम आते थे व हिन्दू मुसलमान के सबंध मातृवत थे। तम्बाकू, अफीम भंग, गांजा का प्रयोग बहुत होता था हुक्का व चिलम पीना सामाजिक संगठन के रूप में माने जाते थे। हिन्दुओं की देखादेखी मुसलमानों ने भी अपने त्योहारों को धूमधाम से मनाना शुरू कर दिया। सामाजिक दृष्टि से राजस्थान भारत के अन्य क्षेत्रों से किसी भी दशा में पिछड़ा हुआ नहीं था।

श्री टाड के शब्दों में—"राजपूत जब किसी बड़े कार्य करने की प्रतिज्ञा करते थे तो उसके लिये तीन नियम थे। पहला नियम यह था कि बहुत से लोगों के बीच में बैठकर अफीम का सेवन करके वे इस कार्य की प्रतिज्ञा करते थे। दूसरा नियम यह था कि उसके लिये वे परस्पर पगड़ी का परिवर्तन करते थे और तीसरा नियम यह था कि वे लोग आपस में दाहिना हाथ मिलाते थे। इस प्रकार जिस कार्य के लिये राजपूत एक बार प्रतिज्ञा कर लेते थे उसे वे किसी भी प्रकार पूरा करते थे और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिये अपनी जान भी दे देते थे।"

अध्याय 24

स्थापत्य कला

राजस्थान में स्थापत्य कला

कला मनुष्य के मस्तिष्क का चित्रण है, भावनाओं के प्रदर्शन के साथ साथ यह समय जाति और देश का प्रतिबिम्ब है । प्रसिद्ध कला पारखी परसी ब्राउन ने कला को देश की आत्मा कहा है । यह जन जीवन का बोलता हुआ इतिहास सभ्यता का लहराता उपवन है जो कभी नहीं सूखता । कला का क्षेत्र और महत्व शब्दों में नहीं बांधा जा सकता । जिस प्रकार युवती गुण सुन्दरी हो तो श्रेष्ठ मानी जाती है और पुरुष वीर व गुणवान अच्छा कहा जाता है वैसे ही राज्य, कला की कृतियों से ओत प्रोत हो तभी सराहना होती है। राजस्थान के वीरों ने महान विरोधी परिस्थितियों में अपने राज्य और धर्म को बनाये रखा किन्तु क्या वे राज्य को सुन्दर, समृद्ध और स्वस्थ बना सके ? इस अध्याय में हम राजाओं की विजय का अध्ययन नहीं करेंगे वरन यह देखेंगे कि उन्होंने अपने राज्य को सुसज्जित करने हेतु कला के विकास में क्या योग दान दिया ।

कला एक साधना है, कलाकार के रस और भावों का साकार रूप है। कला वह कृति है जो हर देखने वाले को आनन्द पहुँचाती है । जनसाधारण के हृदय में रस तरंगों का तूफान उठाती है । सामान्यतः कला को मनोरंजन का साधन, विलासिता की सामग्री, और सौन्दर्य का खिलौना मान लेते हैं किन्तु कला यहाँ जनसाधारण को नवजीवन व आकर्षण प्रदान करती है वहाँ इतिहास की अद्वितीय सामग्री भी उपलब्ध करती है। इसलिये ताजमहल को देखकर एक विदेशी कलाकार ने कहा था कि यदि समय की सारी लिखित सामग्री नष्ट कर दी जाय तो भी अकेला ताज महल शाहजहाँ के समय की समस्त गौरव गाथा कह देगा । यह सच भी है कि जहाँ लिखित सामग्री प्राप्त नहीं होती वहाँ की कला कृतियाँ मुक्त कंठ से उस समय की गौरवगाथा स्वयं सुना देती हैं । जहाँ अन्य ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नहीं होते वहाँ स्थापत्य अवशेष बीते हुए युगों की याद दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं । सच तो यह है कि किसी भी देश का पूर्ण इतिहास तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक कि वहाँ की कला का आद्योपान्त अध्ययन न किया जाय । राजस्थान की कला को शासकों का संरक्षण मिलता रहा है तथा किलों, शहरों, मन्दिरों राजमहलों, और यहाँ तक की गाँवों में राजस्थानी कला बिखरी पड़ी है ।

कला मानव के साथ जन्मी है और प्रकृति के कण-कण में इसका सौन्दर्य व्याप्त रहा है। कला पवित्र है, दैविक शक्ति है, अपार सत्य है और सौन्दर्य का सागर है। वास्तव में कला में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का समावेश है। राजस्थान में कला का विकास दो क्षेत्रों में सर्वाधिक सराहनीय रहा। ये दो भाग हैं (1) स्थापत्य कला और (2) चित्र कला। इन दोनों क्षेत्रों को अध्ययन की सरलता के लिये निम्न भागों में बांटा जा सकता है—

1 स्थापत्य कला—(1) किले, (2) मन्दिर, (3) स्तम्भ (4) जलाशय व उद्यान (5) समाधियाँ।

2 चित्रकला—राजस्थान की चित्र कला अलग अलग राज्यों में पनी अत: उन्हें दस वर्गों में बांटा जाता है—(1) जयपुर शैली, (2) किशनगढ़ शैली (3) मारवाड़ शैली, (4) मेवाड़ शैली, (5) बीकानेर शैली (6) कोटा शैली (7) जैसलमेर शैली, (8) अलवर शैली (9) बूंदी शैली और (10) नाथ द्वारा शैली। अब हम कला के इन दोनों भागों का अलग अलग अध्ययन करेंगे।

वैसे तो कला के पारखियों ने साहित्य, संगीत, मूर्तिनिर्माण और भवन निर्माण आदि शाखाओं में कला को बांटा है और यह सब मिलकर कला का रूप धारण करते हैं किन्तु इस अध्याय में हम केवल स्थापत्य और चित्र कला पर ही अपने विचार केन्द्रित रखेंगे। मारवाड़ी में एक लोकप्रिय कहावत है कि—"नाम गितड़ा ने भीतड़ा सू रहवे।' 'अर्थात् किसी व्यक्ति का नाम गीतों और उसके द्वारा निर्मित भवनों की दिवारों में अमर रह जाता है। राजा महाराजाओं ने अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य को अमर बनाने के लिये भवन व मंदिर निर्माण की तरफ ध्यान दिया। जिसके फलस्वरूप राजस्थान में कला का विकास हुआ।

स्थापत्य कला

वैसे तो राजस्थान की स्थापत्य कला पर मुगलों का समुचित प्रभाव है किन्तु भारत के इस भाग में कला का जन्म दाता राणा कुम्भा को माना जाता है और कुम्भा भी शिल्प शास्त्री मडन के साहित्य में प्रभावित था। यह सब ही है कि मडन द्वारा रचित वास्तुकला पर पाँच प्रमुख ग्रन्थ राजस्थान की कला के प्राण हैं। मडन के ये पाँच ग्रन्थ इस प्रकार हैं।

(1) प्रासाद मंडन—इस ग्रन्थ में यह बताया गया है कि मन्दिरों का निर्माण किस प्रकार किया जाय।

(2) रूपावतार—इस ग्रन्थ में मूर्ति निर्माण के विषय में जानकारी दी गयी है।

(3) रूप मंडन—इस ग्रन्थ में उन सब आवश्यक वस्तुओं का वर्णन है जिनसे मूर्तियाँ बनती है।

(4) गृह मडन—इस ग्रन्थ में नगर के साधारण व्यक्तियों के लिये घर तालाब, कुआ आदि बनाने का तरीका बताया गया है।

(5) वास्तु सार मडन—में सभी बातों पर एक सामान्य प्रकाश डाला गया है।

फिर भी मंडन के प्रभाव से मुक्त मुगल शैली के भवन भी बनवाये किन्तु राजस्थान की कला का अध्ययन करते समय मडन के योगदान को भी ध्यान रखना होगा। राणा कुम्भा के समय मेवाड में जिन भवनों व कला कृतियों का निर्माण हुआ वे मडन के शिल्पी आदर्शों से परिपूर्ण हैं। चित्तौड के कीर्ति स्तम्भ का निर्माण तो स्वयं मडन के निर्देशन में ही हुआ था। राजस्थान की प्रगति का पूर्ण अध्ययन भी स्थापत्य की विविध परतों और खण्डहरों के अध्ययन के बिना पूरा नहीं हो सकता। यदि कीर्ति स्तम्भ न होता तो कुम्भा के व्यक्तित्व का पूरा परिचय कदाचित असम्भव हो जाता। राजस्थान की स्थापत्य कला में धार्मिक, चिन्तन, राजाओं के मन के भाव, उनकी सफलता व क्षमता के प्रमाण और उनके राज्य की प्रगति अंकित है। जहाँ सौन्दर्य और माधुर्य के झरने फूटते हैं वहां जीवन और आत्मा का सही रूप भी स्थापत्य मे अंकित है। राजस्थान का स्थापत्य किलो मन्दिरो, स्तम्भों, जलाशयो उद्यानों, समाधियों और बस्तियों मे बिखरा पड़ा है। अब हम स्थापत्य के विभिन्न भागों को देखें।

1. दुर्ग निर्माण—भारतवर्ष मे ऐसे दो ही राज्य है जहाँ पग-पग पर किले मिलते हैं। ये दो राज्य राजस्थान और महाराष्ट्र हैं। यहाँ के राजा और जागीरदार किले को अपनी सम्पत्ति मान कर उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझते थे। राजस्थान मे तो हर दस मील पर एक न एक किला अवश्य मिल जाता है। सिर्फ मेवाड रियासत मे ही 84 किले हैं जिनमे से 32 किले सिर्फ कुम्भा अकेले ने बनवाये थे। किलों का निर्माण कई कारणो से किया जाता था जो निम्नांकित हैं—

(1) आक्रमण के समय प्रजा की रक्षा के लिये।
(2) सामग्री संचय के लिये।
(3) राजा के निवास और राज्य की रक्षा के लिये।
(4) विदेशो से जीत कर लाई गई सम्पत्ति संग्रह के लिये और
(5) पशुधन को बाढ़ व प्राकृतिक प्रकोपों से बचाने के लिये।

सिन्धु नदी के किनारे हड़प्पा की नदी दुर्ग निर्माण का प्राचीनतम प्रमाण है राजा लोग किलो मे रहकर शासन चलाते थे। किलों मे सामान्यतः सेना राजा के पास रहती थी और आम जनता किलों के बाहर बस्तियों में। राजस्थान में किले का निर्माण काफी पुराना है जिसके प्रमाण कालीबगा की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यहां 8 से 10 फुट चौडी दीवार के अवशेष मिले हैं।

इसी प्रकार हाड़ौती बागड़ और भोमट आदि प्राचीन बस्तियों के लोग दीवार बनाकर कांटों की बाड़ से उसकी रक्षा करते थे। आबू और वा के निवासी तो आज भी अपनी पहाड़ी बस्तियाँ किलों की भाँति बनाते हैं व रेगिस्थानी भाग में रहने वाले मिट्टी की ढोली बना कर उसके चार खाई बं कर झाड़ियों और काँटों के पेड़ थोर व गवारपाठा आदि से अपनी सुरक्षा क हैं। अत स्पष्ट है कि किलों का निर्माण एक मामूली स्थिति से रणथम्भौर चित्तौड़ जैसे सुदृढ़ किलों तक प्रगति कर गया। चित्तौड़ का दुर्ग तो सात शताब्दी से भी पुराना प्रतीत होता है जिसका नवनिर्माण राजपूतों ने किया किलों के निर्माण में मन्दिरों और तालाबों को भी बहुत महत्व दिया जाता है।

मुसलमानों के आगमन तक राजस्थान में पहाड़ों पर किले बनने शु हो गये थे। अजयपाल ने अजमेर में तारागढ़ का किला बनवा कर इस ओ एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। वैसे आबू, चित्तौड़ कुम्भलगढ़, और माण्डलग के किले राजपूतों से पहले के थे जिन पर राजपूतों ने दृढ़ता और सुरक्षा के साथ साथ कला कृतियों का ध्यान रख कर नव निर्माण कराया। ये कि ऊँची और चौड़ी पहाड़ियों पर बनते थे जिनमें खेती भी हो सकती थी। किले में ऊँचे भागों पर मन्दिर और राजप्रासाद बनाये जाते थे तथा निचले भागो में तालाब व समतल भूमि पर खेती की जाती थी। किलों की चारों तरफ की दीवार इतनी चौड़ी बनाई जाती थी कि उस पर कम से कम दो घोड़े एक साथ चल सकें। छोटी व ऊँची पहाड़ियों पर जहाँ तालाब नहीं बन सकते थे और खेती नहीं हो सकती थी वहाँ पर किले के नीचे ही खेती का स्थान सुरक्षित रहता था और किले में बरसात का पानी भरने के लिये बड़ी बड़ी बावड़ियाँ व टकियाँ बनाई जाती थी। आपत्ति के समय के लिये बड़े बड़े भण्डार बनाये जाते थे जिनमें अनाज जमा कर लेते थे। इस प्रकार किलों का निर्माण आवश्यकताओं को देखकर ही किया जाता था। इन्हीं पुराने किलों में भटनेर का किला भी शामिल है जिसकी मरम्मत 19 वीं शताब्दी में बीकानेर शासकों ने करवाई और इसे नया रूप दिया। यहाँ तक की चौहानों द्वारा निर्मित नागौर का किला भी प्राचीन माना जाता है। इस दुर्ग का एक कोना अभी तक अपरिवर्तित है अन्यथा मुसलमान सूबेदारों ने इसका सारा रूप ही बदल दिया है। साधारणत. चौहानों ने राजपूतों में सबसे पहले किले बनवाये, अजमेर, रणथम्भौर, जालौर, नागौर, आदि के किले उन्हीं की देन हैं। जालौर अपनी विशेषता और रणथम्भौर अपनी सुदृढ़ता के लिये विख्यात हैं। किला बनाते समय ऊँचाई, चट्टानों और जंगलों का ध्यान रखा जाता था। मैदान में बनाये गये किलों की दीवारें अधिक ऊँची होती थी और उनके चारों तरफ खाई खोदी जाती थी। मैदानी किलों में जनता के रहने या खेती करने की व्यवस्था नहीं होती थी।

मुगलों के सम्पर्क में आकर किलों का अलंकरण शुरू हुआ। दो तीन दे‍द
पे इसके दीवारों में सजावट, नुकीली बुर्जें और ढालू दीवारें बनने लगी।
तों पर कुछ अच्छे किलों का वर्णन कर देना उचित होगा। राजस्थान में
के निर्माण में महाराणा कुम्भा को दुर्ग निर्माता माना जाता है जिसने सिर्फ मेवाड़
ही 84 में से 32 किलों का निर्माण किया था। राजस्थान का सबसे प्रसिद्ध
र महत्वपूर्ण किला चित्तौड़ का है। इस किले को मौर्य राजा चित्रांगद ने
नाया था और नवीं शताब्दी में गहलोतों ने इस पर अपना अधिकार जमा
। चित्तौड़ लगभग 500फीट ऊँचे पहाड़ पर बना है। इसकी परिधि या घेरा
3 मील का है। किले की लम्बाई साढ़े तीन मील और चौड़ाई पौन मील
म्भग है। कुम्भा ने किले का सीधा मार्ग और चार दरवाजे बनवाये थे। अब
दुर्ग में सात दरवाजे हैं जो—पाडलपोल, भैरोपोल, हनुमानपोल, गणेशपोल,
ड़ापोल, लक्ष्मणपोल, और रामपोल, के नाम से पुकारे जाते हैं। विदेशी
आक्रमणकारियों में सिन्ध के मुलतान खान ने 631 ई० में इस दुर्ग पर सबसे
पहले आक्रमण किया। फिर इल्तुतमिश और 1303 में अलाउद्दीन के आक्र-
मण तक यह दुर्ग अजय था। फिर मुहम्मद बिन तुगलक और अकबर ने इस
दृढ़ दुर्ग को जीता। जहाँगीर के समय यह दुर्ग फिर स्वतन्त्र हो गया।
ता के मार्ग में होने के कारण यह दुर्ग सदा मुगलों की आँख में खटकता
। इस किले में देखने योग्य अनेक ऐतिहासिक स्थान हैं। फाटक में घुसते
भैरोपोल में जयमल और पत्ता की छतरियाँ, किले में राणा प्रताप, सारमल,
म्भा के महल कला के प्रतीक हैं। मीरांबाई और कालकामाता के प्रसिद्ध
र के पास ही इतिहास में बहुचर्चित पद्मिनी का महल एक तालाब में
है। जहाँ रानी पद्मिनी सती हुई थी वह जौहर का स्थान भी कलात्मक
ने हुए ऐतिहासिक है। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है राणा कुम्भा का
स्तम्भ जिसकी प्रशंसा देश विदेश के सभी इतिहासकारों ने बार
की है। ये सब स्मारक चित्तौड़ की कला व किले को अमर बना देते हैं।

मानसिंह ने आमेर का दुर्ग बनाकर एक और कलाकृति को जन्म
। इस किले में मुगल शैली का प्रभाव है। इस किले का दीवान ए आम
री और रानियों के महल हृदय आकर्षक ही नहीं वरन आमेर राज्य
भव और कला के प्रतीक हैं। जोधपुर में राव जोधा ने जोधपुर के पहाड़ी
का निर्माण किया। उसके बाद मालदेव ने मारवाड़ में अनेकों दुर्ग और
ये जिनमें सोजत, फलोदी, भीनमाल, सिवाना, मेड़ाहुन, पीपलौद
आदि नगरों में किले बनवाये। इसी प्रकार बीकानेर व
के भाटी राजाओं ने बनवाये थे। बीकानेर का किला
शैली में बने किलों में सबसे अच्छा है। जयपुर राज्य में
पूर्ण नगर व किले हैं जो कला के नमूने हैं। अलवर, बहरोड़,

दिखाई नही, देता क्योंकि इसके चारो तरफ पहाड़ियाँ हैं। यह दुर्ग सैनिक सुरक्षा और निवास दोनों अभिप्रायों से बनाया गया है। दुर्ग के तीन द्वार हैं आरेटपोल, इससे एक मील अन्दर हल्ला पोल। इन दोनो द्वारो को पार करने के बाद किले का मुख्य द्वार हनुमान पोल नजर आता हैं। किले की दीवारो के नीचे गहरी खाइयाँ व खड्डे बने हैं और दीवारें इस तरह बनी हैं कि उन पर किसी भी प्रकार से चढा नही जा सकता। द्वार मे घुसते ही नीलकण्ठ महादेव का मंदिर कला का जीर्ण नमूना है। टाड ने इसे देखकर यूनानी शैली का कहा था जो सही नही है क्योंकि टाड महोदय राजपूतो को भी यूनानी मानते हैं। राजस्थानी कला का दूसरा नमूना इस गढ़ की वेदी है जो एक दो मंजिल का महल है जिसमे दशको के बैठने व यज्ञ करने के लिये उत्तम निर्माण कार्य किया गया है। वेदी की गुम्बज कुम्भा के गौरव का प्रतीक है। दुर्भाग्य से इस भवन को डाक बंगला बनाकर कुम्भा के गौरव को किवाडो मे बन्द कर दिया गया है। दुर्ग आक्रमण के समय आत्म निर्भर है। दुर्ग मे जिस कुण्ड के पास कुम्भा की हत्या हुई थी उसके पास ही जीर्ण शीर्ण अवस्था में विष्णु मन्दिर है। मन्दिर के बीच मे 30 फीट लम्बा 30 फीट चौड़ा बरामदा है जिसमे वेदी बनी है जिससे भण्डारकर महोदय इसे जैन मन्दिर मान लेते हैं जो गलत है। गढ़ के प्रवेश द्वार पर स्मारक स्तम्भ के पास चार स्त्रियो के बीच [illegible] है। स्त्रियो का [illegible]। नारी का रूप [illegible] कंपित हो जाता है। स्तम्भ के दूसरी तरफ भी पृथ्वीराज रानियो के बीच मे है। एक तरफ राजा सो रहा है और चारो तरफ रानियों के साथ ढाल व तलवार लिये हैं, दासियाँ शान्त भक्ति भाव में हाथ जोड़े है। कुम्भलगढ़ में प्राप्त सबसे महत्वपूर्ण प्रशस्ति है जिसका अन्यत्र विवरण दिया जायगा। इस गढ़ के अन्दर सबसे ऊँचे स्थान पर एक गढ़ और है। इस गढ के बाहर देवी का मन्दिर है। शारदाजी ने कुम्भलगढ़ को कुम्भा की सैनिक और रचनात्मक मेधा का महान मूर्तरूप प्रतीक"[1] कहा है। टाड के शब्दों में 'इसकी एक विशाल प्रतिमा है जिसमे अनेक बुर्जे और कगारें हैं जो एट्रुस्कन से बहुत मिलती जुलती है।"[2] इसी प्रकार डॉ॰ गोपीनाथ का कहना है कि—"यह उस नरेश के सामरिक और रचनात्मक गुणों का स्मारक है।"[3] इस दुर्ग ने अनेकों बार मुगलो के दाँत खट्टे किये और अजय बना रहा। यदि राणा फतहसिंह इसमें नये महल नहीं

1. शारदा—महाराणा कुम्भा—पृष्ठ—125.
2. टाड—एनल्स एण्ड एन्टीयूटीज ऑफ राजस्थान—पृष्ठ—670
3. डॉ॰ गोपीनाथ—सोशल लाइफ इन मिडीवियल राजस्थान—पृष्ठ

स्थान बनाने मे रुचि रखते थे। विमलशाह ने डाकुओं से बहुत सा धन ..
उसी का सदउपयोग इस मंदिर के निर्माण मे किया गया। स्पष्ट है कि अन्य
मंदिरो के समान देलवाडा के जैन मंदिर भारत के मंदिरो मे ऊँचा स्थान र..
हैं जिनकी कला का अद्भुत प्रदर्शन चिर स्मरणीय है।

अनेक इतिहासकारो ने इस मंदिर को देखा और सराहना की है। य..
उनमे से कुछ विद्वानो के मत देना उचित होगा। श्री कोमेन का कहना है कि
"संगमरमर पर पतला, पारदर्शक काम अन्यत्र देखी गयी किसी भी चीज़ को
मात देता है और कुछ एक नमूने तो सुन्दरता के विभिन्न स्वप्न लगते हैं।"[1]

डॉ॰ गोपीनाथ का कहना है कि—"इन मंदिरो की कारीगरी तक्षण
कला और खुदाई का काम देखते ही बन पड़ता है। *शिल्प कला की दृष्टि से*
भारत मे ये मंदिर अपने ढंग की कारीगरी के उत्कृष्ठ नमूने हैं।.. ......यदि
ताजमहल एक स्त्री का संस्मरण है तो इन मंदिरो के पीछे एक धर्मनिष्ठ
उदारता मूर्तिमान दिखाई देती है।"[2]

इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि—"कारीगर और सूक्ष्मता की दृष्टि
से इन मंदिरो की समानता भारत की कोई इमारत नही कर सकती। ये भार-
तीय ज्ञान और सभ्यता के सच्चे प्रतीक हैं।"[3]

कर्नल टाड महोदय का कहना है कि—"इनके मंडप और अन्तरायनों
की पच्चीकारी अद्वितीय है। इनकी नक्काशी को देखने वाला एकाएक अपनी
आँख को नहीं हटा सकता।"[4]

इसी प्रकार फर्गुसन का कहना है कि—"यदि बीस आदमी भी विमल-
शाह के मंदिर को देख लेंगे तो वे सब एक मत होकर यही कहेंगे कि भवन
निर्माण शैली की दृष्टि से यह मंदिर सर्वोत्कृष्ट है।"

अन्य विदेशी लेखको ने इन मंदिरों की तुलना कभी यूनान की ..
शैली से की है तो कभी 'वेस्टमिनिस्टर ऐबे' से जो इंगलैण्ड का प्रसिद्ध गिरजा
घर है। ये मंदिर केवल देखने मात्र की चीज नहीं है वरन् हमे इनमे भारतीय
शिल्प, नाटक, इतिहास और समाज के बारे मे भी महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता

1. कोमेन—इट्रगल फोर एम्पायर—पृष्ठ 581.
2. डॉ॰ गोपीनाथ—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 586-87.
3. स्मिथ—दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया।
4. —राजस्थान का इतिहास।

है। श्री एम० के० सरस्वती ने इनकी कमियों पर भी प्रकाश डाला है कि इनमें एक ही खुदाई की बार बार पुनरावृत्ति दर्शकों मे थकावट पैदा करती है। अन्त में हम डॉ० बी० एम० भार्गव के शब्दों मे कह सकते हैं कि—"देलवाड़ा के मंदिर प्राचीन भारत की भवन-निर्माण शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।"[1]

राजस्थान के मन्दिरो में राणकपुर का मन्दिर भी अपना स्थान रखता
न्दिर में भी कला का अपार सचय
समय मे बना था। इसे कुम्भा के
1496 वि० स० मे बनवाया था।
मिक ब्राह्मण था जिसकी सहायता के
ये थे। यह मन्दिर पाली जिले मे
शन मे 12 मील और सादडी से 6
है। चारा तरफ ऊंची पहाडिया और द्वार पर बहती नदी ने इस मन्दिर को प्रकृति का एक सुन्दर बिन्दु भी बना दिया है। पहले इस मन्दिर को सात मजिल का बनाने का इरादा था किन्तु फिर छोटी मोटी चार मजिल बना कर ही इसे समाप्त कर दिया गया। किन्तु आज दिन तक इसमें कोई न कोई काम चलता ही रहता है। यह मन्दिर 48,000 वर्गफुट का घेरा लिये है जिसमे जाने के लिये कोई 25 सीढियाँ चढनी पडती है। इस मन्दिर में 85 शिखर, 24 मण्डप और 1444 स्तम्भ हैं। मूल गर्भगृह मे आदिनाथ की मूर्ति है। लोग-बाग यह कहते हैं कि स्तम्भो का अलकरण इस प्रकार का है कि सब एक दूसरे से अलग-अलग लगते हैं किन्तु इस कथन में अधिक सत्य नहीं है। मन्दिर के मुख्य मण्डप में पहुँच कर ऐसा लगता है मानो देलवाडा के मन्दिर में ही खडे हैं अत: यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यह मन्दिर पूर्ण रूप से देलवाडा मन्दिर की यदि नकल नहीं तो पूर्णरूप से प्रतिबिम्ब अवश्य है। यहाँ दूसरी, तीसरी व चौथी मजिल में अन्य जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया स्थापित की गयी है। मुख्य मन्दिर के सामने दो जैन मन्दिर और हैं जिनमें से एक पार्श्वनाथ का है। इस मन्दिर का बाहरी भाग काम युक्त मूर्तियों से भरा पड़ा है। यही कारण है कि महावीर के अनुयाइयो ने इस मन्दिर का नाम ही वैश्या मन्दिर रख दिया। स्पष्ट है कि जैनियों पर हिन्दू शिल्पकारो का सीधा प्रभाव था। साथ ही अनेक मूर्तियों के हाथ मे ढाल व तलवार भी दिखाई गयी है। अहिंसा के उपासको के तीर्थ मे युद्ध सामग्री का प्रदर्शन उन पर युग धर्म का प्रभाव बताता है। सारे मन्दिर में मकराना और सेदाड़ी के हल्के सफेद सगमरमर का प्रयोग किया गया है। यह वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण

1 डॉ० भार्गव—राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण—पृष्ठ 229.

महाराणा हम्मीर ने स्थापित करवाई थी क्योंकि पहले की मूर्ति तुर्कों के आक्रमण के समय पास के इन्द्र सरोवर में सुरक्षित रख दी गयी थी। मुख्य मन्दिर में पार्वती, गंगा, यमुना और गणेश की मूर्तियाँ भी हैं।

इस मन्दिर के पुजारी पहले पाशुपत पद्धति के थे किन्तु आचार्यों मे सामान्य मनुष्य के दोष पाकर बनारस से सन्यासी आचार्य को लाकर यहाँ का कार्य सौंपा गया। ये महन्त आज भी ब्रह्मचारी रह कर शिव की उपासना मे लगे रहते हैं। मेवाड़ के राणा समय समय पर मन्दिर को धन, भूमि और भेंट आदि देकर इसका यश बढाते रहे हैं। इस मन्दिर मे शिवरात्री और फाग के उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं। मन्दिर के मुख्य स्थान पर राम की मूर्ति यह बताती है कि उदयपुर के राणा अपने आपको राम के वंशज मानते थे। मंदिर के दक्षिणी द्वार पर रायमल्ल के समय की प्रशस्ति लगी है जिसमे 101 श्लोक हैं। मेवाड़ के इतिहास पर इस मंदिर मे प्राप्त इस प्रशस्ति का भारी प्रभाव पड़ा है और अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार वि० सं० 1028 ई० के शिला लेख से भी मेवाड़ का इतिहास प्रकाश मे आता है। यह लेख भी इसी मंदिर में है। जहाँ यह मंदिर राजस्थान के गढ़ मंदिरों का प्रतीक है वहां इतिहास का भी एक अनमोल साधन है। कहते हैं कि जब औरंगजेब ने इस मंदिर की प्रतिमा को मिटाने के लिये सेना भेजी तो मण्डप मे बने चाँदी के नांदिया मे से असख्यो भवर निकल पड़े और मुगल सेना को भाग कर जान बचानी पड़ी।

इसी मंदिर के पास कुम्भा ने कुम्भश्याम मंदिर बनवाया जिसकी दीवारों पर व स्तम्भों पर देवी-देवता, पशु और मनुष्य के विभिन्न चित्र अंकित करवाये जो समय के रहन-सहन और वेशभूषा का ज्ञान देते हैं। यहा पर युद्ध, काम और साधारण जीवन की भी अनेक मूर्तियाँ हैं जो हृदय आकर्षक ही नहीं, कला की दृष्टि से भी बेजोड़ हैं। विष्णु की तीन मुख की मूर्ति राजस्थान की मूर्तिकला का सबसे उत्तम नमूना है।

श्री एकलिंग जी के मंदिर के उत्तर-पूर्व में इन्द्र सरोवर बनाया गया है। यह बाँध संगमरमर का है। इस सरोवर में खिले कमल चाँदनी रात में मादकता उत्पन्न करे बिना नहीं रहते और दर्शक प्रभु-भक्ति और माया-मोह के बीच भटकने लगता है।

इन मंदिरो के अतिरिक्त पुष्कर का रंगजी का मंदिर अपनी विशालता

है। ये मूर्तियाँ कुम्भा द्वारा निर्मित अन्य मूर्तियों के समान ही है जो इस बात को और भी स्पष्ट करती है कि उनका बनवाने वाला कुम्भा ही था।

कीर्तिस्तम्भ को पौराणिक देवताओं का कोष मात्र ही नहीं मान लेना चाहिये। कलाकार ने अपनी छैनी से 15 वीं शताब्दी के जन जीवन को जिस खूबी से इन मूर्तियों में अंकित किया है वह दर्शकों को ग्राम के महार में पहुँचा देता है। शय्या पर राजा रानी के साथ सेविकाओं का प्रदर्शन आकर्षक है और विविधता से भरपूर है। राम के साथ शबरी भीलनी का प्रभाव अमिट है। इस स्तम्भ में भक्ति और शौर्य, प्रेम और जीवन का जो समावेश देखने को मिलता है। उसका चिन्तन अन्यत्र कहीं पड़ा है। प्रयोग में आने वाले शस्त्रों, वाद्य यन्त्रों और वस्त्र आभूषणों का सामूहिक व ठोस चित्रण इस स्तम्भ में किया गया है। वास्तव में यह स्तम्भ राजा महाराजा, देवी-देवताओं के साथ सामान्य जीवन की एक नाट्यशाला है। जहाँ मूर्तियाँ बिना बोले अपना वर्णन स्वयं कर देती हैं। कुछ मूर्तियों में भाव शून्यता भी है और कुम्भा द्वारा निर्मित अन्य स्थानों की मूर्तियाँ कीर्तिस्तम्भ से कहीं अधिक आकर्षक व भावपूर्ण हैं। प्रत्येक भाग को सजाने के चक्कर में सजीवता का गुण कम हो गया है। जनजीवन का प्रदर्शन इन मूर्तियों का सत्य लगता है इसी से आकर्षण का प्रभाव लगता है। फिर भी कीर्तिस्तम्भ अकेला कुम्भा के कला प्रेम का जीवित उदाहरण रहेगा।

4 जलाशय व उद्यान—राजपूत राजाओं को जलाशय व उद्यान आदि के निर्माण का शौक नहीं था। मुसलमानों के सम्पर्क में आने से पहले केवल अर्णोराज द्वारा अजमेर में आना सागर झील का निर्माण मात्र देखने को मिलता है। जिसे आगे चलकर शाहजहाँ ने और सुन्दर बना दिया था। वैसे तो उदयपुर को आज झीलों का नगर कहा जाता है किन्तु मुगलों के आगमन से पूर्व न तो यहाँ पिछोला झील थी और न सहेलियों की बाड़ी। आमेर, जोधपुर और कोटा में भी बहुत समय बाद जलाशय और उद्यान बनने लगे थे। हम जिस युग से सम्बन्धित हैं उसमें ले देकर एक मात्र जलाशय राजसमन्द ऐसा बनाया गया जो आज भी सारे राजस्थान के जलाशयों में सर्वोत्तम प्रतीत होता है। यह झील उदयपुर राज्य में कांकरोली स्टेशन से लगभग 5 मील दूर है। यह चारों तरफ पहाड़ियों से घिरी झील है जिसका क्षेत्रफल 195 वर्ग मील का है। साधारणतः इसकी लम्बाई $2\frac{1}{4}$ मील और चौड़ाई $1\frac{1}{4}$ मील है। यह बाँध गोमती नदी पर बाँधा गया है। महाराणा अमरसिंह ने इस बाँध को बनवाने की योजना बनाई थी किन्तु वास्तव में यह महाराणा राजसिंह ने यह बाँध बंधवाया। डॉ० गोपीनाथ शर्मा के अनुसार

राजसमद की ताकों में लगी प्रशस्तियाँ भी उतने ही महत्व की है। प्रशस्तियाँ उस समय की शिक्षा प्रणाली, प्रचलित माप-तौल, तीर्थ यात्राएँ, धार्मिक महत्व, राज्य की सीमा आदि बहुत महत्वपूर्ण बातो पर काफी प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार राजसमद अपने आप में एक संस्था है जो उस समय की राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक परम्पराओं और ज्ञान का स्रोत बन गया है। राजसिंह ने इस प्रकार की सुन्दर कृति का निर्माण कर कला के साथ-साथ अपना नाम भी अमर कर लिया।

5. समाधियाँ – राजस्थान अपनी वीरता के लिए विश्व विख्यात है। यहाँ के योद्धाओ ने हर युग मे अपनी स्वतन्त्रता के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि दी है। जहाँ इस देश के पुरुष युद्ध भूमि मे मरना गौरव की बात समझते हैं वहाँ यहाँ की महिलाएँ अपने पतियो के शव के साथ सती हो जाना अपना परम धर्म व कर्तव्य मानती रही हैं। योद्धा के वीरगति प्राप्त होने पर उसकी माँ का सीना तन जाता था तो उसकी समधन भी कम गर्व नहीं करती थी क्योंकि उसकी पुत्री योद्धा की पत्नी भी तो जीते जी अग्नि का सामना कर हँसते-हँसते अपने प्राण दे देती थी। इस वीरतापूर्ण त्यागमय दाम्पत्य प्रेम में मर मिटने वालों पर सारा समाज गौरव का अनुभव करता था और ये सतियाँ आज भी सारे राजस्थान में पुजी जाती है। जिन स्थानो पर वीरांगनाएँ जल कर सती हो जाती थी उन्हें महासतियाँ कहाँ जाता था। मध्यकाल के राजस्थान में निरंतर मुसलमानों के आक्रमणो ने सती प्रथा को सामूहिक रूप दे दिया था। नारियाँ अपने सतित्व की रक्षा के लिए अपने पति की किसी निशानी को साथ लेकर सती हो जाती थी। ऐसी वीरांगनाओं के सती होने के स्थान पर छत्रियाँ बना दी जाती थी। जिन्हें देवल या देवलियाँ भी कहते थे। इन छत्रियों के बीच में या तो सती होने वाली स्त्री की मूर्ति या शिवलिंग स्थापित कर दिया जाता था।

इन पवित्र स्थानों पर लोग आज भी श्रद्धा से फूल चढ़ाते हैं और कई स्थानों पर तो उनकी याद में मेले लगते हैं। चित्तौड़ जोधपुर, बीकानेर और आहड़ आदि स्थान सतियों की समाधी के लिए विख्यात हैं। चित्तौड़ में सूर्य तथा गौमुख कुण्ड के पास का स्थान विश्व विख्यात है जहाँ पद्मिनी ने अपनी सैंकड़ों सहेलियों के साथ अपने प्राण दे दिये थे। इसी प्रकार उदयपुर के पास ही आहड़ गाँव महासतियो के नाम से विख्यात है। यह स्थान मेवाड़ के महाराणाओं का दाहसंस्कार स्थान है। जहाँ अनेको राणाओं के साथ सैंकड़ों रानियाँ सती हो चुकी हैं। इस क्षेत्र में अनेक सुन्दर छतरियाँ और शिलालेख अंकित हैं।

जोधपुर से कुछ दूर मण्डोर मे पंचकुण्ड भी राजाओं का श्मशान है जहाँ रणमल, चूण्डा, जोधा, गांगा आदि की रानियों के सती होने पर छत्रियाँ बनवाई गई थी। इसी प्रकार बीकानेर में भी बीकाजी की टेकरी और लाल किले से पाँच मील पूर्व में बना देवकुण्ड के पास के सती स्थान मे बनी सफेद संगमरमर व लाल पत्थर की छत्रियाँ इस बात का प्रमाण है कि ये सतियाँ राजस्थान के इतिहास में अमर रहेंगी। इन समाधियो में छिपे स्थापत्य में, खम्भे, महराबे, गुम्बज और बारादरियाँ मुगल प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। पुरानी समाधियाँ मन्दिरों की तरह बनती थी। जिनमें शिखर, मण्डप, स्तम्भों और गर्भाशयो को महत्व दिया जाता था। ये समाधियाँ जहाँ धर्म, श्रद्धा और इतिहास के आधार हैं वहाँ इनमे प्राचीन और मध्यकाल की कला का मिश्रण भी सराहनीय है।

अध्याय 25

चित्र कला

राजस्थान में चित्र कला

वीर भूमि होने के कारण तलवार के धनी राजपूत राजाओं से कला की कोमल कूची के संरक्षण की आशा, चमकते हुए सूर्य के प्रकाश में सितारों की खोज के समान असम्भव सी प्रतीत होती है किन्तु समय और खोज के साथ साथ आज इतिहास के विद्यार्थी अचरज से अध्ययन करते हैं कि इतने युद्ध रत रहने के विपरीत राजस्थान के राजा और रईसों ने अपने विश्राम के क्षण क्षणों में चित्रकला को जो संरक्षण व स्नेह प्रदान किया वह भारत ही नहीं समस्त विश्व की चित्रकला में अपना महत्व रखता है। सामान्यतः यह धारणा सी थी कि चित्रकला तो अजन्ता के बाद भारत से अदृश्य सी हो गयी और राजपूतों के समय को तो एक युद्ध मात्र का समय मानकर बड़े बड़े कला-पारखियों ने राजस्थान की कला को कभी 'हिन्दू कला' और कभी 'राजपूत कला' के नाम से सम्बोधित किया। इतिहासकार ब्राउन अपनी पुस्तक 'इण्डियन पेण्टिंग' के पृष्ठ 51 पर राजस्थानी शैली को राजपूत शैली कह कर पुकारते हैं किन्तु उनकी यह धारणा अधूरी है कि राजपूत राजाओं व जमींदारों ने ही चित्र कला को संरक्षण दिया। वास्तव में धार्मिक संस्थाओं, सेठ-साहूकारों और साधारण जनता ने भी राजा महाराजाओं के साथ मिलकर राजस्थान में चित्र कला को पूर्ण संरक्षण देकर समृद्ध बनाया। इसी प्रकार श्री एन० सी० मेहता ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन इण्डियन पेण्टिंग' के पृष्ठ 5 पर राजस्थान की चित्र कला को 'हिन्दू शैली' का नाम दिया है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि 16 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी में विकसित इस कला पर मुगलों का भी भारी प्रभाव है अतः इसे हिन्दू या राजपूत शैली न कह कर हमें राजस्थानी शैली के नाम से ही पुकारना चाहिये क्योंकि इस शैली की अपनी अनेक शाखाएँ हैं। अकबर के विद्वान दरबारी अब्दुल फजल ने भी इसे हिन्दू शैली कह कर प्रशंसा की है। उनका कहना है कि—"हिन्दू चित्रकार मुसलमान चित्रकारों से अधिक सुन्दर चित्र रचना करते हैं।" वास्तव में राजस्थानी शैली अपना स्वतन्त्र महत्व रखती है। जैसा कि कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेण्टिंग' की प्रस्तावना में लिखा है कि—"राजस्थान में भी चित्र कला का एक सम्पन्न स्वरूप है।" इसके साथ ही इस धारणा को भी मन से निकाल देना चाहिये कि राजस्थान में चित्रकला का प्रसार मुसलमानों के सम्पर्क

में आने के बाद हुआ । श्री यदुनाथ सरकार की यह धारणा निराधार है कि अकबर और जहाँगीर आदि के सम्पर्क में आकर ही राजपूतो ने चित्रकारी को संरक्षण प्रदान किया । वास्तव में राजस्थान मे तो पाषाण काल से ही कारी चली आ रही है । अनेक स्थानों पर की गयी खुदाई में प्राप्त चट्टा कई प्रकार के चित्र प्राप्त हुए हैं । यहाँ तक की सिन्धुघाटी सभ्यता के कालीन राजस्थान में तो कलाकार अपने भावो को चित्रों में सार्थकता से करते थे । इन चित्रो में शिकार, युद्ध और देवों की पूजा आदि महत्व विषयो पर बनाये जाते थे ।

प्राचीन राजस्थान में मिट्टी के बरतनों पर सरल रेखाओं से अंकित किये जाते थे । जानवरो की आकृतियो का विशेष प्रचलन था । पर सलेटी रंग की पृष्ठ भूमि पर काले और लाल रंग के जानवर बनाये हर्षवर्धन के समय तक अर्थात् हिन्दू काल के अन्त तक पीले, नीले और रंग का प्रयोग भी होने लगा था । राजस्थान मे पहले दो तरह के बनते थे । एक तो पुस्तको मे कथाओ को समझाने के लिये लगाये गये चि मे चित्र पुस्तकों को अलंकृत करते थे । जैसलमेर में इस प्रकार के हस्त चित्र मिले हैं । दूसरे वे चित्र जो ताड की पत्तियों और महलों की दीवारो बनते थे । इन चित्रो मे दरबारी जीवन, महफिल घर, नृत्य, धार्मिक उत्स और पौराणिक कथाओ पर आधारित होते थे ।

राजस्थान के रेतीले भाग को दिखाने के लिये पीले रंग का प्रयो चित्रों मे अधिक होता था । यहाँ के कलाकार सुन्दर बडी बडी आँखें बना थे जिन्हें कटाक्ष नेत्र कहा जाता था । चित्र में प्रकृति का पूरा सहयोग लिया जाता था । सामान्यतः मिथुन चित्रो मे आम के वृक्ष का होना शुभ समझा जाता था । संक्षेप मे यदि यह कह दें कि प्राचीन राजस्थान की चित्रकला अजन्ता से मिलती हुई थी । हमारी चित्रकला पर भूगोल का भी प्रभाव है । मखमली बालू रेत की चादर, सूखे पहाडो की कतारें और पथरीली भूमि ने राजस्थान की कला को उसी प्रकार का बना दिया है । प्रकृति का जो चित्रण नाथद्वारा शैली मे मिलता है वह भारत के किसी अन्य प्रदेश मे नहीं मिलता । भौगोलिक स्थिति ने राजस्थान को राजनीतिक उथल पुथल मे बहुत समय तक बचाये रखा और इस बीच कला को विकास का पूर्ण अवसर मिल सका ।

- स० के कुछ पहले से ही यहाँ पहाड, नदी, सूर्य, चाँद, मनुष्य, पशु पक्षी ... के चित्र बनते रहे हैं । बैराट, रंगमहल तथा आहड से प्राप्त ... रेखा द्वारा वृक्ष आदि से सजावट इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन राज ... में भी चित्रकला पूर्ण विकसित थी ।

चित्रकला के विषय—विभिन्न स्थानो मे चित्रकला के विकास का अध्ययन करने से पहले यह उचित होगा कि हम इस कला के विषय का तथा शैली का भी अवलोकन करें। किशनगढ़ का प्रेयसी प्रेम, जयपुर मे पुरुष व स्त्रियों की बेजोड़ रचनाएँ, जोधपुर की कलम से वीरतापूर्ण कृत्यो के चित्र, उदयपुर के स्वतन्त्रता पर मर मिटने व धार्मिक कथाओ के चित्र, नाथद्वारा के प्राकृतिक चित्र, कोटा बूँदी का नारी सौन्दर्य और अलवर के किनारो के डिज़ाइन सारे भारत में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि नाथद्वारा, कोटा, बूँदी व अलवर की कला पर मुगल कला का प्रभाव है फिर भी इन सभी स्थानो मे विकसित चित्रकला का अपना अलग अस्तित्व है।

इस प्रकार हम चित्रकला के विषयो को निम्नांकित भागो मे बाँट सकते है—

(1) धार्मिक चित्र, (2) प्राकृतिक व ऋतु चित्र, (3) जन जीवन चित्र, (4) व्यक्ति चित्र, (5) प्रणय चित्र, (6) पराक्रम चित्र, (7) नारी सौन्दर्य चित्र, (8) पशु चित्र, (9) ऐतिहासिक चित्र और (10) संगीत चित्र।

1. धार्मिक चित्र—धर्म जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। गुप्तकाल में भगवान बुद्ध का जीवन अजन्ता की गुफाओं मे चित्रित हुआ और तब से धर्म प्रचार व धर्म के प्रति श्रद्धा का आधार कला बन गयी। राजपूतो की अधीनता में राजस्थान में चित्रकला ने भी हिन्दू धर्म का प्रदर्शन शुरू किया। धार्मिक विषयों को लेकर यहाँ चित्रकला दिन प्रति दिन समृद्ध होती गयी। विभिन्न अवतारों के जीवन को चित्रित किया गया। राम, कृष्ण, कौरव-पांडव तथा अन्य देवताओं के जीवन का चित्रण होने लगा। कृष्ण लीला के विभिन्न प्रसंग प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किये गये। माखन चोरी, कंस-वध, गोपियो के साथ रास लीला, राम वन गमन, सीता हरण व महाभारत के युद्ध आदि के चित्र जन साधारण के प्राण बन गये। राधा व कृष्ण की भाव भगिमा जनता में प्रेम का आदर्श बन कर रह गये। इन पौराणिक गाथाओ मे प्रेम, शौर्य, जीवन, वियोग, भक्ति, त्याग और धर्म के सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक दिखाया गया है।

2. प्राकृतिक चित्र—भारत में छः ऋतुएँ होती हैं। बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, और शिशिर इनमे मुख्य हैं। इनका मानव जीवन पर गहरा प्रभाव है। बसंत में प्रकृति का कण कण मस्त हो खिल उठता है तो कलाकार क्यों

के प्रभावशाली चित्र बनाने लगे। अकबर बादशाह को हाथ में गुलाब का फूल लिये देख कर राजस्थानी चित्रकारों ने और विशेषतौर पर जयपुर व बीकानेर के चित्रकारों ने अपने राजाओ को सिंहासन पर बिठा कर गुलाब हाथ में दे दिया इस प्रकार के व्यक्ति चित्रों मे राजस्थान माधुर्य और सजीवता की दृष्टि से मुगल शैली से भी आगे निकल गया। इसी शैली से आगे एक नवीन शैली का जन्म हुआ जिसे कांगड़ा शैली कहा गया। राजस्थान में व्यक्ति शैली के चित्र अधिकतर जयपुर मे पाये जाते है। झरोखे मे बैठे राजा, वृक्ष की टहनी पकड़े राजकुमारी, साधु-सतो के विचित्र रूप आदि व्यक्ति चित्रों में आते हैं। किन्तु इनमे कोमलता व सजीवता उतनी नही जितनी अन्य चित्रों में प्रदर्शित की गयी है।

5. प्रणय चित्र—शृ गार, मिलन और वियोग जीवन के आकर्षण हैं। जहाँ प्रणय नही वह जीवन नीरस है फिर राजस्थान का कलाकार नीरस कैसे रह सकता था ? भवरे से तृप्त नारी को मुक्त करना, पनघट पर परदेसी को पानी पिलाना, झरोके मे बैठी राजकुमारी को नायक का नीचे से देखना, बेन में काम करती महिला के पैर से काँटा निकालना, विभिन्न ऋतुओं मे मिलन विरह के रूप प्रदर्शित करना राजस्थान के चित्रकारो की विशेषता रही है। इसी प्रकार वियोगन के विभिन्न रूप, प्रतीक्षा करती नारी, पक्षी को सिर देती वियोगन आदि प्रणय के कई रूप देखने को मिलते है। प्यार मे शृंगार भी बहुत महत्व रखता है। पिया मिलन की भावना से प्रदिप्त होकर नायिका का सजना, मेंहदी, काजल और वेणी मे फूल लगाना। इसी प्रकार रूठ का रूठी रानी को मनाना। शिशु को दूध पिलाती अवस्था मे स्त्री का अंगड़ाई लेना। राग और शृ गार के बीच प्रणय चित्रों को अमर बना दिया है।

6. पराक्रम चित्र—यह तो विश्व विख्यात है कि राजस्थान वीरो का प्रदेश है और यहाँ स्वतन्त्रता के लिये मर मिटना एक साधारण किन्तु गौरव पूर्ण बात है। फिर चरित्र के इस महान गुण का चित्रण कलाकार की कूँची कैसे न करती। इस पराक्रम शैली का विकास साधारण तौर पर उदयपुर मे हुआ। असुर वध, घोड़े पर सवार शस्त्र लिये नायक, आखेट करते हुए बाघ को मारता राजा, पृथ्वीराज का संयोगिता हरण, राम का बाली को मारना, कौरव-दुर्योधन युद्ध आदि का प्रदर्शन यहाँ बहुत लोकप्रिय रहा है। वास्तव में यदि राजस्थान के कलाकारों ने जीवन के इस महत्वपूर्ण भाग को न देखा होता तो एक अधूरापन चित्र कला मे रह जाता। पृथ्वीराज रासो पर आधा-

रित पृथ्वीराज का शब्दभेदी बाण से गौरी को बाण द्वारा मार गिराना, इस शैली के चित्रों का आकर्षण रहा है। हाथियो पर बैठ कर शेर का शिकार भी राजाओ के जीवन का प्रदर्शन करता है। पराक्रम का प्रदर्शन वीरों के इस देश में बहुत रोचक लगता है।

7. नारी सौन्दर्य चित्र . कलाकार की कल्पना मे नारी का रूप सदा एक प्रश्न वाचक चिह्न रहा है। सुन्दर रगों से नारी के रूप को सजा कर उसके कोमल अगो का तरसा देने वाला हलका प्रदर्शन यहाँ की एक विशेषता रही है। जैसे दूध पिलाती नारी, दर्पण मे मुख कमल निहारती नारी, काजल से कटाक्ष सवारती नारी, काँटा निकालती नारी, पेड की डाली पकड़े प्रियतम की प्रतीक्षा करती नारी, मृग नयनी नारी, कृशोदरी नारी, लम्बी बाहो वाली नारी, कमर से नीचे लटकती वेणी वाली नारी, पतले होठ और भरा हुआ चेहरा राजस्थान की नारी सौन्दर्य का स्वरूप है। जोधपुर की और उदयपुर की नारी का चित्रण वास्तव मे अत्यन्त आकर्षक है। मासल ग्रीव के तले कसी हुई कचुकी और पतली कमर पर लटकता लहगा अत्यधिक हृदय आकर्षक लगता है। मानव की इस अर्धांगनी को जो महत्व राजस्थान की चित्रकला में दिया है वह वास्तव मे अद्वितीय है। राजस्थानी नारी मे अजन्ता की चित्रकला जैसे विशाल उरोज या अतिशयोक्ति पूर्ण पतली कमर देखने को नही मिलती। जहाँ नेत्रो की विशालता पर जोर दिया गया है वही नारी को आभूषणो से, अलकृत किया गया है।

8. पशु चित्र—जहाँ शृगार, प्रणय और शौर्य मे राजस्थान के कारो को आकर्षित किया है वहाँ उन्होने हर क्षेत्र मे पशुओ की सहायता है। हाथियो का युद्ध, गायो का चित्रण, ऊँट और घोडे के चित्र भी मात्रा मे मिलते हैं। पक्षियो का पंक्तिबद्ध उडना, मृग शावको और शेरों क जगल मे विचरण करना। प्रयोग के जानवरो से लेकर जगत के खूंखार जानवरों का भावपूर्ण चित्रण राजस्थानी चित्र कला का एक और आकर्षण रहा है। तालाबो मे क्रीडा करते हस व बतक, कुजों मे कलोल करते सारस, कुक्कुट कबूतर आदि चित्रकार के कलम के प्रमुख साधन रहे हैं। वर्षा में नाचता हुआ मोर राजस्थान की एक विशेषता है। इस क्षेत्र मे बूँदी की शैली सबसे आगे गयी है। भैंसे व सूअर का शिकार चित्र देखने योग्य हैं।

9 ऐतिहासिक चित्र—राधा कृष्ण की लीला, महाभारत के दृश्य, द्रौपदी चीर हरण, राम-रावण युद्ध, नल दमयंती चित्र, पृथ्वीराज रासो वर्णन

ादि ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिनका चित्रण हर युग में राजस्थान के विभिन्न केन्द्रों में बार बार हुआ है। इस प्रकार के चित्रों में राजाओं के व्यक्ति-गत चित्र भी सम्मिलित किये जाते हैं। समाज के विभिन्न वेशभूषा का प्रदर्शन भी इतना स्पष्ट है कि प्राप्त चित्रों से राजस्थान की सामाजिक दशा पर काफी प्रकाश पड़ता है। जैसे पुरुषों के पहनाव में पगड़ी, जामा, पटका, पायजामा आदि। इसी प्रकार विभिन्न आभूषण भी उस समय के रहन सहन पर प्रकाश डालते हैं। स्त्री की वेशभूषा, मेले, सामाजिक उत्सव आदि समय के इतिहास के स्रोत व प्रतिबिम्ब बन कर हमारे सामने आते हैं।

10. संगीत चित्र—संगीत भी साहित्य और कला की भाँति संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। राजस्थान के अमीर और गरीब सभी संगीत के प्रेमी रहे हैं। राग रागनियों को मूर्तरूप बनाकर चित्रों में उतार कर राजस्थान के कलाकारों ने संगीत के प्रति रुचि को संजो दिया। यहाँ पर राग-रागनियों का चित्रण ऋतु के साथ किया गया है। अनेकों लोकप्रिय रागनियों को चित्रित कर संगीत की लोकप्रियता को बढ़ा दिया। टोड़ी, मालकोष, दीपक, मावरी, भूपाली, भैरव, भैरवी, केदारा आदि रागों को नायक और परकीया, खंडिता, गर्विका, अभिसारिका आदि को नायिकाओं की मूर्ति स्वरूप उतारा गया। विभिन्न नाट्य शालाओं का भी प्रदर्शन किया गया। रास नृत्य, राधा कृष्ण नृत्य आदि को लावण्य और छटा के साथ अंकित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के विभिन्न भागों का भरपूर प्रदर्शन राजस्थान की चित्रकला के अनेक विषयों में होता रहा है। अब हम यह देखें कि यह कला राजस्थान में कहाँ कहाँ पर अपना केन्द्र बना गयी और कौन कौनसी शैली के नाम से जानी जाती है। राजस्थान की चित्रकला के मुख्य केन्द्र व शैलियाँ निम्नांकित आंके जाते हैं—(1) जयपुर शैली (2) किशनगढ़ शैली, (3) मारवाड़ शैली, (4) मेवाड़ शैली, (5) बीकानेर शैली (6) कोटा शैली, (7) जैसलमेर शैली, (8) अलवर शैली (9) बूंदी शैली (10) नाथ द्वारा शैली।

1. जयपुर शैली—जयपुर और दिल्ली में अकबर के समय से घनिष्ट सम्बन्ध रहा था इसलिये जयपुर की कला पर मुगलों की छाप प्राय स्वाभाविक सी है किन्तु कई रूपों में समान होते हुए भी जयपुर शैली अपनी मौलिकता ... व सवारी के ठाट बाट मुगलों से ... मे जब मुगल दरबार ... कलाकार दिल्ली छोड

कर जयपुर आदि राजस्थान के समृद्ध केन्द्रों मे आ गये और जयपुर के महाराजाओ ने उन्हें प्रोत्साहन व सरक्षण प्रदान किया । मिर्जा राजा जयसिंह अजीत सिंह, विजयसिंह, मानसिंह, सवाई जयसिंह और ईश्वरसिंह जैसे व प्रेमी राजा जयपुर मे हुए जिनके सान्निध्य मे ढु ढर प्रदेश में कला का विक हुआ। जयपुर के चित्रो मे म्यूरल्स, बैराठ तथा मोजमाबाद के भित्तिचित्र अत्यधिक प्रसिद्ध है । अजीतसिंह के समय मे अन्तःपुर की रगरेलियाँ, मित्र के स्नान और होली के खेलो ने राग रग को वह माधुर्य प्रदान किया अचेतन मे भी आवेश भर देता है । विजयसिंह और मानसिंह के समय शृ गार और भक्ति रस ने जोर मारा और लाल व पीले रगों के प्रयोगों स्त्रियो के गठीले अगो का मोहक प्रदर्शन किया गया। आमेर मे बने लघु चि भी, जो किसी न किसी घटना की स्मृति मे बनाये जाते थे चित्रकला का ए लोकप्रिय अग थे । महाराजा ईश्वरसिंह के समय मे तो प्रकृति चित्र, व्यक्ति चित्र, और प्रतीक चित्रो की प्रधानता रही। जयपुर शैली मे पुरुष गलमुच्छ ऊँची पगडी (तुर्रेदार), जामा व दुपट्टा धारण किये उन्नत ग्रीवा, ताम्रवर्णी रग व सुदृढ कन्धे वाले बनाये जाते थे। नारी का चित्रण भी मनमोहक था कमर तक केशो का फैलाव, मादक बडे बड़े नेत्र, उभरे हुए अधर, नयनी वाले नाक, विकसित यौवन और पतली कटि इस शैली की विशेषता थी। स्त्री पुरुष के अतिरिक्त सामाजिक जीवन भी जयपुर शैली की विशेषता है। कुम्हार धोबी, नाई, मिसी सुनार, पनिहारी, दुकानदार, माली, लकडहारा, किसान, ग्वाला और सैनिक आदि के जीवन की घटनाओं को भी प्रदर्शित किया
इस शैली के गुरुर विख्यात कलाकारो मे साहिब राम, लालचन्द, धामी, रघुनाथ राम सेवक आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार लाल व पीले रगो मे स्त्री पुरुष, सामाजिक, व्यक्तिगत, धार्मिक में बहुत प्रगति पर थी जिस पर मुगल घरानो का प्रभाव है बना थी ।

2 किशनगढ़ शैली—किशनगढ का छोटा सा नगर व र और जयपुर के बीच मे है। इस नगर को बसाने वाले राठौड़ रा के वशज थे किन्तु कला के क्षेत्र मे किशनगढ़ मारवाड़ के अधीन अपितु राजस्थान के अन्य राज्यो से बड़ी आगे निकल गया। कला व की दृष्टि से यहाँ के चित्र बडे आकर्षक व प्रभावशाली है । इस नगर के एक राजा रूपसिंह काव्य, कला और भक्ति मे विशेष श्रद्धा रखते थे। और आराधना को गह साथ कला मे उतार कर रूपसिंह ने अपने का परिचय दिया । इनके दरबार में दूर दूर से कलाकार आकर आश्रय

थे। इनके समय में राधाकृष्ण की आराधना के अनेक चित्र बने थे। इनके पुत्र सामन्तसिंह भी अच्छे कला पारखी थे। राजा होने के साथ साथ ये परम भक्त भी थे और सारे राजस्थान में भक्त नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध थे। सामन्तसिंह या भक्त नागरीदास का शासन काल 1699 से 1764 ई तक था। उनके समय में विख्यात कलाकार निहालचन्द हुए जिन्होंने भक्त नागरीदास और उनकी प्राण प्रेयसी बनी ठनी को राधा और कृष्ण का रूप देकर उनके जीवन को चित्र बद्ध कर डाला जो युग युगान्तर के लिये अपने आप में एक नवीन शैली का रूप धारण कर राजा उसकी प्रेयसी और कलाकार तीनों को अमर बना गयी। राजा नागरीदास उच्च कोटि के भक्त, महान तपस्वी सन्त, परम कला पारखी और भावुक कवि हृदय थे। इनके गीत आज भी राजस्थान में गाये जाते हैं। ये उद्भट प्रेमी भी थे तथा अपनी प्रिया बनी ठनी में राधा का रूप देखते थे। चित्रकारों ने अपने राजा की साधना को सफल बनाने हेतु उसकी आराधना को इस प्रकार सुन्दर चित्रों में उतारा कि वह सब राजस्थान की उत्तम शैली बन गयी। चित्र ब्रजभाषा के गीतों को विषय मान कर बनाये गये हैं जिनमें घनी वृक्ष माला, बडी बडी अट्टारिकाओं और रात में राजाओं के रंगीन जीवन की झाँकियाँ दिखाई गयी हैं। नागरीदास और बनी ठनी के वृन्दावन से सम्बन्धित चित्र कला को सर्वोच्च शिखर पर बैठा देती है। किशनगढ़ शैली में स्त्री पुरुष के आकर्षक रूप बनाये जाते थे। नारी के चित्रण में लम्बी नाक, कजरारे बाँके नयन, मधुर मुस्कानमय अधर, पतले कपोल, क्षीण कटि पर उन्नत उरोज देखते ही मन भाते हैं। प्रकृति चित्रण के कमल से भरे सरोवर, पक्षियों की पाँतें, खेतों से भरी हरी धरती, फूलों से लदे उपवन और चाँद-तारों से भरा आसमान व दूध जैसी चाँदनी, इस शैली की विशेषता रही है। इस शैली की विशेषता नारी के मादक नयन हैं जो अपनी विशालता व वशीकरण के लिये विख्यात हैं। साधारणतः यहाँ के कलाकार गुलाबी और सफेद रंग का प्रयोग करते थे। राजा कृष्ण के परम भक्त थे यही कारण है कि उनका नगर कृष्ण गढ़ या किशन गढ़ कहलाया।

3. मारवाड़ शैली—कुछ लेखक इसे जोधपुर शैली कहकर भी सम्बोधित करते हैं। सन् 1000 से 1500 ई के बीच सारे राजस्थान में चित्रकला का विकास बहुत हुआ और भोजपत्र, ताडपत्र, आदि पर काव्य व धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर चित्र बनाये जाने लगे। इसी समय मारवाड पर मेवाड का राजनीतिक प्रभाव भी रहा। महाराणा मोकल से लेकर राणा सांगा मारवाड़ और मेवाड़ की चित्र शैली एक सी थी। लेकिन मानदेव के समय में 1531

से 1562 ई. के बीच मारवाड़ में स्वतंत्र चित्र शैली का जन्म व विकास हुआ। जोधपुर के राजाओं में मालदेव चन्द्रसेन, मानसिंह, तखतसिंह, जसवन्तसिंह और अजीतसिंह जैसे प्रभावशाली राजा हुए जिनके संरक्षण में कला का सर्वांगीण विकास हुआ। ये राजा वीर तो थे ही किन्तु काव्य और कला में भी विशेष रुचि रखते थे। इन राजाओं के दरबार में अनेक कलाकार थे जिन्होंने, युद्ध-शिकार, राग-विलास और राधाकृष्ण के चित्र कला को जाग्रत किया। नागौर में प्राप्त सचित्र पोथियाँ व जालौर के जैन कल्प सूत्र आदि मारवाड़ की कला के उज्ज्वल नमूने हैं। जोधपुर के अतिरिक्त नागौर, जालौर मेड़ता, कुचामन आदि भी कला के उत्तम केन्द्र थे। इसीलिये इसे जोधपुर शैली न कहकर मारवाड़ी शैली कहना अधिक उत्तम है। नागौर की सचित्र, पोथियों में राजा रिसालू की बात, चौबोली री कथा, विक्रमादित्य की वार्तासिंन, कुंवर की वार्ता, चकवा चकवी री वार्ता, आदि कथाएँ मौलिक हैं। इस शैली में रामायण महाभारत की कथा पर आधारित अनेक चित्र मिले हैं और साथ ही अनेक भाँति चित्र भी प्राप्त हुए हैं। राजाओं के जीवन का चित्रण अधिकतर देखने को मिलता है। अमरसिंह राठौड़, वीर दुर्गादास, पाबूजी, हड़बू जी, सूर जी, राव मल्लिनाथ जी आदि वीरों के चित्र बनते थे। प्रेम व शृंगार में यह किशनगढ़ शैली से पीछे नहीं थी। मूमल देव निहालदेव के चित्रों की शैली विख्यात थी। साथ ही ढोला-मारू की प्रेम कथा के विभिन्न चित्र दर्शकों को स्तब्ध कर देते हैं। मारू का अपने प्रियतम ढोला को सरोवर के श्वेत पक्षी कुरजां द्वारा संदेश भेजना और ढोला का मारू को आधी रात गये महल से उठाकर ले जाना आदि प्रभावशाली चित्र इसी शैली की देन है। यहाँ तक की काम सूत्र के अनेक अंशों को भी चित्रों में परिणत किया गया। जोधपुर में जहाँ पुरुष स्वस्थ गठ्ठावर और आभूषणों से अलंकृत होते थे वहाँ नारी का कद लम्बा तलवार से तीखे नयन, पारदर्शक कसी हुई कंचुकी में स्वस्थ वक्ष, क्षीण कटि और लम्बी भुजा दिखाई गयी हैं। मारवाड़ में ऊँटों, हाथियों तथा घोड़ों पर राजा की सवारी का विशेष प्रदर्शन किया गया है। पक्षियों में हंस और मोर दिखाये गये हैं। पुरुषों के मूँछ और दाढ़ी दिखाई गयी है। सन् 1591 ई. में उत्तराध्यान सूत्र चित्रित किया गया। चोखेला महल में छतों व बल्लियों पर राम रावण युद्ध का भावपूर्ण चित्रण किया गया है जो मानदेव के समय का है। मारवाड़ के चित्र संख्या में तो कम हैं पर मौलिकता और प्रचार की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। मारवाड़ में अधिकांश चित्रकार भाटी वंश के थे जिनमें किशन, शिवदास और देवदास का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। यहाँ लाल व पीले रंग का प्रयोग अधिक होता था और हाशिये या सीमा में छोटे छोटे पक्षियों की पंक्ति बनाई जाती थी।

4. मेवाड़ शैली—यदि हम चित्तौड़ के प्राचीन महलों को देखें तो हमें मेवाड़ की समृद्ध शैली फूलों की पंखड़ियों में बिखरी मिलेगी जो सदियों के युद्ध के विपरीत आज भी ताजा नजर आती है। उदयपुर के राणा अमरसिंह संग्रामसिंह, अरसीसिंह और भीमसिंह ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। यहाँ के राणा प्राय. कृष्ण के उपासक थे अत. सूर के पदों पर आधारित कृष्ण लीला यहाँ की चित्रकला का आकर्षण रहा है। बिहारी सतसई, पचतन्त्र की कहानियाँ, पृथ्वीराज रासो, नल दमयन्ती और मीरा की जीवनी यहाँ के चित्रकारों के प्रिय विषय थे। वे छोटी से छोटी घटना को इस विस्तार के साथ प्रस्तुत करते थे कि उनकी कल्पना की उड़ानों की सराहना किये बिना नहीं रहा जा सकता। चित्रकार यहाँ कृष्ण को नायक बनाकर उसे हर रस मे अंकित करते थे। इस शैली में खड़ी नाक, परवल की खड़ी आँख से नेत्र, लम्बी घुमावदार अँगुलियाँ और गहनों की अधिकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पक्षियों में चकोर, हंस और मोर तथा जानवरों में हिरण व हाथी अधिक दिखाये जाते थे। मेवाड़ के चित्रों में श्रम कम और रंग अधिक दिखाये गये है। इस शैली ने भक्ति रस को एक नया मार्ग दिया है मेवाड़ मे कला का विकास सबसे पहिले महाराणा अमरसिंह के समय मे मेवाड़ की राजधानी चावड मे हुआ। श्री गोपीचन्द कनोड़िया ने मेवाड़ के अनेक चित्र अपने पास कलकत्ता मे सुरक्षित रख रखे हैं तथा अनेक चित्र राणाओं के महलो में सुरक्षित हैं जिन्हें देखकर स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ मे चित्रकला का विकास सत्रहवी शताब्दी से हुआ था। सर्वप्रथम रागमाला चित्र बने जो आज भी बड़ोदा के संग्रहालय मे देखे जा सकते हैं। राम-रावण युद्ध, सीता हरण आदि के चित्रों पर तो मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट हैं और रावण एक मुसलमान फकीर के समान लगता है। कुछ लोग मेवाड़ पर अजन्ता शैली का भी प्रभाव मानते हैं जो काफी निकट ही थी।

5. बीकानेर शैली—बीकानेर की शैली का अध्ययन करते समय हमे दो बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो यह कि मारवाड़ के ही राठौड़ बन्धु बीकानेर में शासन करने लगे थे अत. बीकानेर की कला पर मारवाड़ का प्रभाव स्पष्ट व स्वाभाविक था। दूसरा यह कि मुगलों की अधीनता मे आकर बीकानेर के शासक अधिकतर दक्षिण भारत में रहते थे जिसके फलस्वरूप उनके जन जीवन और कला पर दक्षिण का भी प्रभाव था। इस शैली में कई चित्र मुगल शैली की नकल मात्र है। उनमे चित्रो में प्राण मन्द गति से सचारित होता दिखाई देता है। चित्रकला के विषय कृष्ण लीला, भागवत गीता, पौराणिक कथाएँ, आखेट, काम-सूत्र, रसिक प्रिया, और रागमाला के शृंगार मय चित्र

बेरंग बना दिया। नीला, हरा, लाल, सुनहरी, व काला रंग काम में लिया जाता था। कम परिश्रम से तैयार किये ये चित्र अनायास ही आंखों को अपनी ओर खींच लेते हैं जिसके फलस्वरूप कोटा शैली अमर हो गयी। हाड़ौती में रंगों का प्रयोग बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। जालिमसिंह के समय में उनकी हवेली की दूसरी मंजिल में जो चित्र बने हैं उन्हें देखकर शासकों के संरक्षण का पता चलता है। यहाँ के महलों के निर्माण में गुम्बजों को देख कर पता चलता है कि इनमें फारस का प्रभाव भी था। कोटा की नारी का चित्रण मेवाड़ जैसा था। मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद दरबारी ठाटबाट बहुत बढ़ गया था।

7. जैसलमेर शैली—कला के क्षेत्र में राजस्थान का मरु भाग जोधपुर से प्रभावित है। उत्तर व पश्चिम में कांगड़ा शैली का प्रसार होने से जैसलमेर पर दूसरा गहरा प्रभाव कांगड़ा शैली का है। इस प्रकार मारवाड़ और कांगड़ा शैली की छाया में जैसलमेर शैली का विकास हुआ। जैसलमेर के कलाकार ऊपरी टिपटाप से अपने चित्रों को सुन्दर बनाते थे। वैसे उनकी भावभंगी, रंगों का मिश्रण और रेखाओं का लालित्य उतना आकर्षक नहीं जितना राजस्थान के अन्य स्थानों पर देखने को मिलता है। मारवाड़ की तरह पुरुषों की आकृति दीर्घ होने से चित्र मनमोहक लगते हैं। अतः इस शैली की विशेषता टिपटाप, दीर्घ आकृति और प्राकृतिक चित्र हैं। जैसलमेर के चित्रकार कल्पना का सहारा लेकर राग रागनियों का चित्रण करते थे। कबूतर उड़ाती नारी, उपवन में फूल सूंघती नारी, और जंगल में आखेट करता शिकारी यहाँ के मुख्य प्रभावशाली चित्र गिने जाते हैं। यहाँ के पुरुष का चित्र लम्बा कद, तना हुआ सीना, बड़ी बड़ी दाढ़ी मूंछें, चहरे पर वीरत्व और सिर पर झुकी हुई पगड़ी लिये है। प्रकृति में धरती, आकाश, पेड़, पौधे, और जानवरों में ऊँट, घोड़ा और गायों के चित्र अधिक बनते थे। कागजों के अतिरिक्त ये लोग हाथी दाँत और पत्थरों में भी विभिन्न रंग भरकर उन्हें सुन्दर बना देते थे।

8 अलवर शैली—अलवर से मुगलों का सम्बन्ध बहुत निकट का था। इस शैली में मुगल सम्राटों के और उसके अधिकारियों के चित्र आते हैं। औरंगजेब के समय से लेकर भारत में कम्पनी राज्य के अन्त तक (1857 ई० तक) यहाँ कला का विशेष विकास हुआ। औरंगजेब ने जिन कलाकारों को तिरस्कृत करके दिल्ली से निकाल दिया वे सीधे अलवर जा पहुँचे। अलवर शहर राजा प्रतापसिंह ने बसाया था।

उनके पुत्र राजा विनयसिंह कला के महान संरक्षक थे । वैसे जयपुर और अलवर की शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं है लेकिन दोनों में सदा होड़ लगी रहती थी । यहाँ तिजारा गाँव के कलाकार बहुत विख्यात थे जिन्होंने अलवर के राज महलो की दीवारो पर विख्यात चित्रो का संग्रह कर दिया जो पिछले वैभव की स्मृतियों को आज भी सजीव बनाये हुए हैं । अलवर मे गणिकाएँ के चित्र अधिक मिलते हैं । बड़े परिश्रम से बनाये गये इन चित्रो की गणिकारो अत्यंत आकर्षक हैं । साधु व जन साधारण के चित्र भी बहुत मिलते हैं । हाशियों मे बेलबूटा का प्रयोग और बसली बनाने मे तो ये लोग निपुण थे । यहाँ के विख्यात कलाकारों मे डालचन्द और सालिगराम का नाम उल्लेखनीय है । हाथी दाँत पर राजा-रानी के मुखों की सुन्दर आकृतियाँ भी खूब बनती थी । सोने के रंग का बहुत प्रयोग होता था तथा रंग चिकने व चमकदार होते थे । अभी तक अलवर के अनेक चित्रों का पता नहीं लगा है । सामने आते ही ये भंडार सारे राजस्थान की कला पर छा जायेंगे ।

9. बूंदी शैली—राजस्थान के दक्षिण पश्चिम मे यह एक छोटी सी रियासत है जिसकी स्थापना 1398 ई० मे हुई थी यहाँ के राजा कला के पूर्ण विकास मे सहयोग प्रदान करते थे । यहाँ की शैली मे अनेक मौलिक रचनाएँ देखने को मिलती हैं । राजा रामसिंह, राव गोपीनाथ, छत्रसाल, और विशनसिंह आदि ने बूंदी मे कला को विशेष प्रोत्साहन दिया । यहाँ की कला के विषयों मे प्रमुख रामलीला, शिकार, सवारी उत्सव हैं । रागनियों मे भैरवी व टोडी । प्रकृति मे वर्षा का आनन्द, ग्रीष्म का कष्ट व शीत का प्रकोप दिखाया जाता था । घने जगलो मे हिरण, शेर, हाथियो और सुगे व मेघाच्छन्न नभ में पक्षियों की उड़ान दिखाई जाती थी । वर्षा में नाचता हुआ मोर जितना सुन्दर बूंदी में दिखाया गया है उतना सारे देश मे अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । महलों, बाजारों और ग्रामो का चित्रण भी आकर्षक है । यहाँ के नर नारी का रूप अपना अलग आकर्षण व अस्तित्व रखता है । बूंदी की कला उन वीरों के गुण गाती है जो रसिक और प्रेमी होते हुए भी वीर थे । कला के माध्यम से यहाँ रस बरसाया गया, प्यार उभारा गया किन्तु इसके विपरीत देश रक्षा के लिये प्रेमियों ने हँसते हँसते प्राण दे दिये । ये रोचक गाथाएँ बूंदी की कला को अमर बना देती हैं ।

10. नाथद्वारा शैली— उदयपुर के निकट पहाड़ियों के आँचल में ,ा यह श्री नाथजी का स्थान जहाँ देवताओं का निवास स्थान है वहाँ इस रमणीक स्थान पर मेवाड़ की कला की एक वरिष्ठ शाखा स्वतंत्र रूप धारण कर

अमर हो गयी। इस देव स्थान पर सारे भारत के असंख्य नर नारी आते जाते रहते हैं। यहाँ की चित्रकारी में भक्तों ने अनेक अवतारों की लीलाओं का रोचक वर्णन किया है। प्रकृति के भावपूर्ण प्रदर्शन में भी नाथद्वारा पीछे नहीं है। न तो यहाँ राग रानियों का जमघट है और न ही प्रेम कथाओं ने यहाँ के कलाकारों को वशीभूत किया। यहाँ तो कृष्ण का जीवन, नन्द की गायें, यमुना तट पर बंसी, माखन चोरी, गोपियों से रास और कंस-वध आदि पर ही केन्द्रित हैं। प्राकृतिक चित्रण भी उत्तम थे किन्तु उनमें व्यवसायिकता आने से वे सस्ते और भावहीन होते गये। नाथद्वारा में मुख्यत कृष्ण यशोदा के चित्र हैं। कृष्ण की भव्य आकृति, गोपियों का मोहक रूप, पशु-पक्षियों की छवि सब मिलाकर नाथद्वारा को अन्य धार्मिक शैलियों से आगे निकाल देती है। कृष्ण की लीला का जितना मोहक रूप यहाँ बनाया गया है उतना अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। कृष्ण लीला के चित्रों में मौलिकता और कल्पना की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। यह कला किसी व्यक्ति विशेष की देन न होकर समय, धर्म और स्थान के कारण विकसित हुई थी।

राजस्थानी चित्रकला की विशेषताएँ – डॉ० गोपीनाथ का कहना है कि "राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बड़ा समृद्ध प्रान्त है। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि इस चित्रकला की निधि को, जो अनेक राज प्रासादों की भित्तियों तथा संग्रहालयों में सुरक्षित है टटोला जाय।"[1] मुगल व विदेशी प्रभाव से पनी इस राजस्थानी चित्रकला के लिये विदेशी पारखियों का मत भिन्न है। श्री लारेंस बिनियन कहते है कि—"राजस्थानी शैली शुद्ध भारतीय है। ईरानी या मुगल शैली का इस पर कोई प्रभाव नहीं।" राजस्थानी कलाकार की प्रशंसा करते हुए राय कृष्ण दास कहते हैं कि—"राजस्थानी कलाकार को सम्मान और प्रसिद्धि की कामना नहीं रही। वह कला की सेवा को ही एक प्रसिद्धि का कारण मानता रहा है। यह विशेषता राजस्थानी कला की मौलिक एकता का प्रमुख आधार है।"*

श्री लादूराम व्यास अज्ञात, अपनी पुस्तक भारतीय चित्रकला के पृष्ठ 76 पर राजस्थानी चित्रकला की विशेषता बताते हुए लिखते हैं कि—"यह विशुद्ध भारतीय शैली है और भारतीयता की छाप इसके प्रत्येक चित्र से लक्षित होती है।" संक्षेप में इस कला की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. डॉ० गोपीनाथ—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ—620

* राय कृष्णदास—भारत की चित्रकला—पृष्ठ—58

यह शुद्ध भारतीय कला है। धर्म प्रधान शैलियाँ हैं। रागमालाओं का चित्रण अन्य स्थानों से श्रेष्ठ है। घरेलू चित्रों में अनोखापन व वास्तविकता भी पड़ी है। इसके विषय जानदार, ठोस और लोकप्रिय हैं। रंग योजना बेजोड़ और चातुर्य पूर्ण हैं। रेखाओं की बारीकी और नायिकाओं का अलंकरण सराहनीय है। अन्त में यह भी मानना पड़ेगा कि काव्य ग्रन्थों को चित्रों में बड़ी चतुराई से उतारा गया है।

डॉ० वी० एम भार्गव का कहना है कि यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि "सामाजिक जीवन का चित्रण जैसा राजपूत चित्रकला में हुआ है वैसा किसी अन्य शैली में दिखाई नहीं पड़ता। रंगों की चटक, ओठों की आकृति, इस शैली की अपनी अनूठी विशेषता रही है।"[2]

---

2 डॉ० वी० एम० भार्गव—राजस्थान के [illegible]
पृष्ठ—242.

अध्याय 26

जालिमसिंह

1740-1824

जालिमसिंह

1. परिचय—"कोटा राज्य के साथ जालिमसिंह का घनिष्ठ सम्बन्ध था और इस राज्य के इतिहास के साथ उसके कार्यों का ऐसा मिश्रण है, जिससे उसके नाम के प्रति किसी प्रकार की उपेक्षा अथवा अवहेलना नहीं की जा सकती। वास्तव में जालिमसिंह इतनी अच्छी राजनीति जानता था कि वह कहीं पर भी रहकर अपनी मर्यादा कायम कर सकता था।"†

जालिमसिंह का जन्म कोटा में सन् 1740 ई० में हुआ था। वह पृथ्वीसिंह झाला का दूसरा पुत्र था। उसके जन्म का वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में युग परिवर्तन का वर्ष गिना जाता है जब दिल्ली पर नादिरशाह का भयानक आक्रमण हुआ था और मुस्लिम साम्राज्य के ढलते हुए सूर्य के साथ भारत में अंग्रेजी आधिपत्य का आरम्भ हुआ था। जालिमसिंह के पड़दादा भावसिंह सौराष्ट्र के रहने वाले थे और हलवद के साधारण सामन्त थे। भावसिंह पच्चीस सैनिक सवारों को साथ लेकर हलवद से दिल्ली चला गया और उत्तराधिकार युद्ध में मुगल शाहज़ादों की सहायता करने लगा। भावसिंह का लड़का माधवसिंह अपने पच्चीस सवारों के साथ कोटा आ गया। वह लगभग 1696 ई० में कोटा आया था और इस समय महाराव भीमसिंह कोटा के राजा थे। जालिमसिंह के दादा को भीमसिंह ने अपनी सेना में फौजदार नियुक्त किया। क्योंकि माधोसिंह झाला वंश का राजपूत था। इसलिए कोटा महाराव ने उसे दरबार में सम्मानित पद दिया। आपसी स्नेह बढ़ता-बढ़ता पारिवारिक गठबन्धन के रूप में बदल गया और महाराव भीमसिंह ने उसे अपना समधी बनाकर अपने पुत्र अर्जुनसिंह का विवाह माधवसिंह की लड़की से कर दिया और माधवसिंह को आणता नगर दे दिया। यहीं से झाला परिवार का महत्व कोटा दरबार में बढ़ता गया। माधवसिंह के साहस, नीति निपुणता और समझदारी से प्रभावित होकर कोटा नरेश भीमसिंह ने उसे अपना सेनापति बना लिया और जालिमसिंह के दादा का महत्व बहुत बढ़ गया यहाँ तक कि वह जिस दुर्ग में रहता था उस दुर्ग पर उसका अधिकार मान लिया गया। यहीं से झाला परिवार का सम्मान कोटा में बढ़ता गया। माधवसिंह औरंगजेब की मृत्यु के समय 1707 ई० में कोटा आया था और लगभग 33 वर्ष तक कोटा का सेनापति रहकर वह 1740 ई० में परलोक सिधार गया। इस बीच

† टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ-790.

1720 ई० में महाराव भीमसिंह का भी देहान्त हो गया और उन निर्बल व अयोग्य उत्तराधिकारियों के बीच हलवद का यह झाला प कोटा का सर्वेसर्वा बन गया। फौजदार से सेनापति और सेनापति से राजघराने के संरक्षक बन गये।

माधोसिंह के बाद उनका भाई मदनसिंह कोटा का सेनापति ब सामान्यतः यह परम्परा थी कि पिता की मृत्यु के बाद पुत्र ही उसकी गद्दी बैठता था। किन्तु मदनसिंह अधिक समय तक न रहा और सिर्फ 1 तक राज्य का भार सम्भालने के बाद 1753 ई० में उनका भी देहांत हो ग मदनसिंह के दो लड़के थे, हिम्मतसिंह और पृथ्वीसिंह। हिम्मतसिंह केवल 5 तक सेनापति रहकर चल बसा। इसका देहान्त 1758 ई० में हुआ था। इ कोई सन्तान नहीं थी और इसने मृत्यु से पहले अपने छोटे भाई पृथ्वीसिंह के लड़के जालिमसिंह को गोद ले लिया था। इस प्रकार 1758 ई० में 18 वर्ष अवस्था में जालिमसिंह कोटा का सेनापति बना। जालिमसिंह के पिता पृथ्वी का देहान्त भी इस वर्ष से पहले ही हो चुका था।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सौराष्ट्र के मामूली ठिकाणे हलव के झाला परिवार का यह युवक जो हिम्मतसिंह का दत्तक पुत्र था, अठार वर्ष की अवस्था में कोटा राज्य का सेनापति बना। अपनी योग्यता से इस अपने आपको कोटा ही नहीं सारे राजस्थान का सर्वेसर्वा बना लिया औ लगभग 66 वर्ष तक कोटा में राज्य कर 1824 ई० में 84 वर्ष की अवस्था में इसका देहान्त हुआ।

नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि जालिमसिंह कोई निर्दई, अत्याचारी और कठोर शासक होगा और उसके विरुद्ध अनेकों आन्तरिक संगठित विद्रोह भी हुए थे किन्तु जिस दूरदर्शिता, शौर्य और राजनीतिक चेतना से उसने सभी विद्रोहियों का दमन कर 66 वर्ष तक कोटा राज्य के भाग्य की बागडोर को संभाले रखा वह सराहनीय ही नहीं अद्वितीय है। सारा देश अनिश्चितता के अंधेरे में डावाडोल था। उसके जन्म के साल 1740 में नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल राज्य की कमर तोड़ दी थी और जिस वर्ष वह कोटा का सेनापति बना (1758 ई०) उस साल प्लासी की लड़ाई जीतकर अंग्रेज भारत की ताजपोशी के मीठे सपने लेने लगे थे और दूसरी तरफ मराठे अपने आतंककारी प्रयत्नों से देश को अपने कदमों में झुकाने पर तुले हुए थे। दिल्ली और महाराष्ट्र के बीच राजपूतों की स्वाधीनता की सम्म नायक और नायिका (मराठे और दिल्ली) के बीच सम नायक सी अड़ी हुई थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में कोटा की रक्षा व प्रगति करने वाले इस झाला सरदार ने अपनी कूटनीति से मराठों को मित्र बनाये रखा और पड़ोसी राजपूत राज्यों से अपने राज्य की

रखा कर जिस सफलता का गौरव प्राप्त किया उसने जालिमसिंह को कोटा राज्य के इतिहास में अमर बना दिया। उसके सेनापति व मन्त्री काल में कोटा में चार महाराव बदले और इन चारों ने समय में जालिमसिंह का प्रभाव बढ़ता गया। ये चार शासक निम्नांकित हैं—

(1) महाराव शत्रुशाल ने 1757 से 1763 ई० तक सिर्फ 6 वर्ष राज्य किया। ये दुर्जनशाल के गोद लिए हुए पुत्र थे।

(2) महाराव गुमानसिंह 1764 से 1770 ई० तक।

(3) महाराव उम्मेदसिंह 1770 से 1819 ई० तक 49 वर्ष तक राज्य किया। राज्याभिषेक के समय इनकी आयु सिर्फ दस वर्ष की थी और यह 50 वर्ष का समय जालिमसिंह की शक्ति की चरम अवस्था थी जिसने उसके शासन काल को अमर बना दिया।

(4) महाराव किशोरसिंह द्वितीय ने 1819 से 1827 ई० तक राज्य किया।

इन चार राजाओं के समय जालिमसिंह ही प्रायः कोटा का सर्वेसर्वा था। चार पीढ़ी तक कोटा राज्य का संरक्षक बना रहने वाले इस झाला सरदार का मूल्यांकन हम उसके निम्नांकित कार्यों का अध्ययन करके कर सकते हैं। जालिमसिंह के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—

2. भटवाड़ा युद्ध—(17 दिसम्बर 1761 ई०) जालिमसिंह को सेनापति बने अभी तीन ही साल हुए थे कि उसे अपने समय का सबसे भयंकर युद्ध लड़ना पड़ा। यह युद्ध जयपुर और कोटा राज्य के बीच लड़ा गया। वैसे भी 1761 ई० भारत के इतिहास में अपना महत्व रखती है जब पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की शक्ति को भारी आघात लगा था। कुछ समय के लिए ऐसा आभास होने लगा कि मराठा शक्ति समाप्त हो गई है। इस अवसर से लाभ उठाकर जयपुर नरेश माधोसिंह ने राज्य विस्तार नीति का अनुसरण शुरू कर दिया। यदि हम इस युद्ध के कारणों को देखें तो स्पष्ट विदित होगा कि जयपुर नरेश माधोसिंह की राज्य विस्तार नीति के कारण तथा मराठों की शक्ति क्षीण हो जाने के कारण कोटा और जयपुर के बीच में यह युद्ध हुआ। सन् 1744 में बूंदी राज्य के उत्तराधिकार युद्ध में कोटा नरेश दुर्जनशाल ने भाग लेकर जयपुर की मनोकामनाओं को पूरा नहीं होने दिया था और राव उम्मेदसिंह हाड़ा को बूंदी की गद्दी पर वापस बिठा दिया था। तभी से जयपुर और कोटा राज्य की शत्रुता चली आ रही थी। इस प्रकार बूंदी का प्रश्न भी जयपुर और कोटा की शत्रुता का एक कारण बन गया और अपने पूर्वजों की असफलता का बदला लेने के लिए जयपुर नरेश माधोसिंह ने भी एक विशाल सेना के साथ कोटा पर आक्रमण किया। वहाँ यह कह देना

भी उचित होगा कि औरंगजेब के समय तक कोटा व बूंदी के राव मुगल दरबार में सामन्तों की तरह रहते थे और सामान्यतः अजमेर प्रान्त में इनकी जागीरें गिनी जाती थी। जिसके सूबेदार जयपुर नरेश होते थे। इस दृष्टि से भी जयपुर नरेश अपने आपको कोटा का स्वामी या शासक मानकर चलते थे। किन्तु मुगल साम्राज्य के विघटन के साथ साथ कोटा नरेशों ने जयपुर को अपना अधिकारी मानने से मना कर दिया और पड़ौस के राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर जयपुर को और अप्रसन्न कर दिया। इसके अतिरिक्त महाराजा सवाई जयसिंह के समय से चली आ रही वृहत जयपुर की नीति इस युद्ध का मूल कारण थी। इसी नीति के अन्तर्गत राजा ईश्वरसिंह ने मराठों की सहायता से 1744 ई० में 61 दिन तक कोटा नगर का घेरा डाला था और कोटा के निकट कोटडी गाँव में जयपुर व कोटा की सेनाओं में युद्ध हुआ था जिसमें सफलता न मिलने देखकर मराठों ने सैन्य खर्च के चार लाख रुपये लेकर कोटा से सन्धि कर ली थी। इन सब पराजयों का बदला लेने के लिए जयपुर नरेश माधोसिंह ने 1761 ई० में फिर से कोटा पर आक्रमण किया। यदि हम संक्षेप में इन कारणों को गिनें तो इस प्रकार होंगे—

(1) महाराज सवाई जयसिंह की 'वृहत जयपुर' नीति।

(2) बूंदी उत्तराधिकार युद्ध में जयपुर की पराजय और कोटा की विजय।

(3) पानीपत की लड़ाई 1761 से मराठों की शक्ति का क्षीण होना।

(4) कोटा का मुगल दरबार में साधारण सामन्त होकर अजमेर के अधीन गिना जाना।

(5) कोटडी के युद्ध में 1744 में जयपुर की कोटा विजय योजना का असफल रहना।

(6) जयपुर नरेश का रणथम्भोर, खेतड़ी, इन्द्रगढ़, खातोली, गैंता आदि हाड़ा जागीरों पर अधिकार कर लेना तथा कोटा को भी अपने सामन्त बनाने की चेष्टा करना।

(7) जिन हाड़ा जागीरों को जयपुर नरेशों ने जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उन पर अधिक सख्ती की जाती थी अतः ये सरदार अपनी जागीरें छोड़ छोड़ कर कोटा में आ गये थे और कोटा नरेश से बार-बार यह अनुरोध करते थे कि वे इन जागीरों को पुनः जयपुर के चंगुल से निकालें। इन सरदारों ने जयपुर नरेश को कर देना बन्द कर दिया। इन सरदारों ने कोटा की अधीनता में रहना स्वीकार किया और नासू व बूंदी सदा के लिए कोटा नरेश शत्रुसाल को दे देने का वादा किया। इस दिशा में अपने अधीन

जागीरदारों की रक्षा के लिए कोटा नरेश ने भी जयपुर से युद्ध करने का निर्णय लिया।

(8) जब जयपुर नरेश माधोसिंह को कोटा और अन्य जागीरदारों की गुटबन्दी का पता चला तो उसने एक विशाल सेना के साथ 1761 ई० में कोटा पर आक्रमण कर दिया तथा उणियारा पर अधिकार कर लिया फिर कोटा राज्य के दूसरे भाग लारवेरी पर भी अधिकार कर लिया। लारवेरी अब तक मराठों के अधीन था किन्तु मराठे इस समय पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली से उलझ रहे थे। इस प्रकार राजस्थान में मराठों की अनुपस्थिति ने कोटा और जयपुर का संघर्ष अनिवार्य कर दिया। यदि मराठे पानीपत में नहीं लड़ते तो कोटा जयपुर युद्ध भटवाड़ा में कभी नहीं होता।

मुगल शक्ति का पतन, मराठों की पराजय, वृहत् जयपुर की भावना, विस्तारवादी नीति, कोटड़ी की पराजय, हाड़ा जागीरदारों का अनुरोध, बूँदी का उत्तराधिकार प्रश्न आदि बातों ने भटवाड़ा में माधोसिंह और जालिमसिंह को लड़ा दिया।

जयपुर की सेना ने चम्बल और पार्वती नदी के संगम स्थान से कोटा राज्य में प्रवेश किया। जयपुर की सेना में 60,000 घुड़सवार, हाथी, तोपखाना व पैदल सैनिक थे जबकि जालिमसिंह की सेना की संख्या केवल 15,000 मात्र थी। जयपुर नरेश भीमसिंह ने इस आक्रमण में मराठा सरदार मल्हार राव होल्कर से सहायता माँगी थी। मल्हार राव सेना लेकर आ भी गया था किन्तु जालिमसिंह ने अपनी कूटनीति से उसे तटस्थ कर दिया और मल्हार राव ने यह वादा किया कि वह मैदान से दूर खड़ा रहेगा और यदि जयपुर की सेना हार गयी तो उसे लूट लेगा। इस निर्णय से जयपुर की सेना हतोत्साही हो गयी और जालिमसिंह की हिम्मत बहुत बढ़ गयी। एक ही दिन, 17 दिसम्बर 1761 ई०, के निर्णायक युद्ध में जयपुर की सेना की भारी पराजय हुई और उसे मैदान छोड़कर भागना पड़ा। इस युद्ध में बूँदी की सेना भी आई थी किन्तु मराठों की तरह तटस्थ रही। मल्हार राव होल्कर की सेना ने भागती जयपुर की सेना को खूब लूटा और इन्दौर लौट गया। इस युद्ध में जालिमसिंह को काफी धन व सम्मान प्राप्त हुए। डॉ० एम० एल० शर्मा के अनुसार—"कोटा वाले जयपुर वालों के 17 हाथी, 1800 घोड़े, 73 तोपें तथा एक पंचरंगा लूटकर कोटा ले आये। इस युद्ध में कोटा के 35,5000 मारे हुए थे।[1] कोटा और जयपुर के बीच यह अन्तिम युद्ध था। इस युद्ध में विजय पाने से जालिमसिंह का सम्मान सारे राजस्थान में बहुत बढ़ गया। उसने राजस्थान की सर्गठित व शक्तिशाली जयपुर रियासत को पराजित किया

1 डॉ० एम० एल शर्मा—कोटा राज्य का इतिहास—भाग दो पृष्ठ 447

था। उसको इस विजय से प्रभावित होकर महाराव शत्रुसाल ने उसे सेनापति के साथ कोटा राज्य का प्रधान मंत्री भी बना दिया। श्री गहलोत का कहना है कि "भटवाड़ा के युद्ध में जालिमसिंह का सौभाग्य रूपी सितारा उदय हुए। इस युद्ध के समय जालिमसिंह 21 वर्ष का युवक था। व्यक्तिगत वीरता के कारण ही उसे सफलता प्राप्त हुई।"[1] इस प्रकार जयपुर को पराजित कर जालिमसिंह उन्नति के शिखर पर जा बैठा।

3. जालिमसिंह मेवाड़ में—भटवाड़ा विजय के तीन वर्ष बाद तक जालिमसिंह कोटा राज्य का 'राज व राजा' बनकर काम करता रहा। महाराव शत्रुसाल को उस पर सदा पूर्ण विश्वास बना रहा किन्तु 1764 ई० में शत्रुसाल का देहान्त हो गया। उनके कोई सन्तान नहीं थी अतः उनका छोटा भाई गुमानसिंह कोटा की गद्दी पर बैठा। वैसे जालिमसिंह की बहन गुमानसिंह को ब्याही गयी थी किन्तु गुमानसिंह एक स्वतंत्र विचारों का राजा था जो जालिमसिंह के हस्तक्षेप को बुरा समझता था। जालिमसिंह भी अभी सिर्फ 25 वर्ष का ही था अतः कोटा राज्य के अन्य अनुभवी हाड़ा सरदार उससे ईर्षा रखने लगे। लोगों ने गुमानसिंह को बार-बार शिकायतें कर जालिमसिंह का विरोधी बना दिया। राजा और मंत्री के मनमुटाव के कारण बताते हुए टाड महोदय लिखते हैं कि—"महाराव का प्रेम एक सुन्दर दासी से था और वही युवती जालिमसिंह की नजरों में भी चढ़ गई थी। इससे साले बहनोई में मनमुटाव हो गया।"[2] सरदारों की शत्रुता और एक दासी के प्रेम ने राजा और मंत्री के बीच गहरी खाई खोद दी। एक ही वर्ष में गुमानसिंह ने पहले तो उसे अपना राजमन्त्री बनाया और अगले ही साल उसकी जागीर जब्त कर ली। दिसम्बर 1764 में तो गुमानसिंह ने उसे राजमन्त्री के पद से पदच्युत किया और 1765 के मध्य में जालिमसिंह कोटा छोड़कर उदयपुर चला गया। नारणता की जागीर जो महाराव भीमसिंह ने जालिमसिंह के दादा को दी थी अब उसके मामा भूपतसिंह झाला को दे दी गयी। गुमानसिंह ने जालिमसिंह को सेनापति पद से भी हटा दिया और उसकी जगह उसके मामा भूपतसिंह को दे दी। इस परिवर्तन को जालिमसिंह ने अपना अपमान समझा और कोटा छोड़ कर अन्यत्र जाने का फैसला किया।

कुछ वर्षों पहले वह जयपुर को हरा चुका था अतः जयपुर के द्वार उसके लिये बन्द थे। मारवाड़ के दुर्बल शासक आपसी फूट और मराठों की लूट से प्रभावहीन युग से गुजर रहे थे। मारवाड़ के लोग उसे बहुत चतुर समझते थे और उससे दूर ही रहना ठीक समझते थे। अब संगठित राजस्थानी राज्यों में केवल मेवाड़ ही ऐसा स्थान था जहाँ जालिमसिंह सम्मान सहित श्री

1 गहलोत—राजपूताने का इतिहास—भाग दो—पृष्ठ 67
2 टाड—राजस्थान भाग

मरता था। उस-समय (1765 ई० मे) भाला वंश का ही एक सरदार राघादेव भाला मेवाड़ मे रहता था। मेवाड़ राज्य के उत्तराधिकार प्रश्न में राघादेव ने तत्कालीन महाराणा अरिसिंह की सहायता कर उसे मेवाड़ का राणा बनाया था। महाराणा अरिसिंह ने उसे प्रधान सामन्त का पद दिया और राघादेव को देलवाड़ा की जागीर भी दी। इसी भाला सरदार से सम्पर्क स्थापित कर जालिमसिंह 1765 में कोटा छोड़कर मेवाड चला गया। राघादेव ने जालिमसिंह का परिचय महाराणा से कराया। महाराणा अरिसिंह ने जालिमसिंह को अपने दरबार में स्थान दिया। अब जालिमसिंह मेवाड़ मे रहने लगा। वह 1765 से 1770 ई० तक पांच साल मेवाड़ मे रहा। उसके इस पांच वर्ष के समय में दो महत्वपूर्ण बातें हुई—

(1) राघादेव भाला का वध और

(2) राणा अरिसिंह के लिये मराठो से युद्ध।

मेवाड़ मे आकर जालिमसिंह को अनुभव हुआ कि उसी का वंशज राघादेव भाला धीरे-धीरे मेवाड़ मे अपना प्रभुत्व बढ़ा रहा है। राणा तो उसके अहसानो से दबे हुए थे अत कुछ वह नहीं सकते थे पर मन ही मन उसके चंगुल से मुक्त होना चाहते थे। जालिमसिंह ने स्थिति को समझकर राणा का स्नेह प्राप्त किया और विश्वास पात्र बनने के लिये अपने ही शुभचिन्तक राघादेव का वध करवा दिया। भाला सामन्त राघादेव मेवाड़ मे मनमानी कर रहा था और अन्य सारे सामन्त उसके विरुद्ध थे। जालिमसिंह ने सारी परिस्थितियों का अध्ययन कर के ही यह कदम उठाया था। उसके इस काम से राणा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने जालिमसिंह का 'राज राणा' की उपाधी दी और चीतावेड़ा की बड़ी जागीर भी। इस स्थान को अन्य इतिहासकार चित्र खाड़िया[1] भी कहते हैं। इस प्रकार जालिमसिंह ने मेवाड़ मे आते ही राणा को प्रभावित कर दरबार में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया और एक ही वर्ष मे उसकी गिनती मेवाड़ के दूसरी श्रेणी के सामन्तो मे होने लगी। महाराणा अरिसिंह ने उसे अपना राजनीतिक सलाहाकार नियुक्ति किया। यह राजनीतिक हत्या विश्वासघात का परिणाम थी।

मेवाड़ में जालिमसिंह की दूसरी प्राप्ति मराठो से सघर्ष था। यह प्रश्न मेवाड़ के उत्तराधिकार का था। राणा रतनसिंह अपने आप को मेवाड़ का राणा गिनता था। उसने सलूम्बर, बदनोर, कानोड और घाणेराव के जागीरदारों की सहायता से विद्रोह कर कुम्भलगढ़ पर अपना अधिकार जमा लिया और अपने आपको मेवाड़ का राणा घोषित कर दिया। वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए और उदयपुर व चित्तोड़ पर अधिकार जमाने के लिये मराठा

1 टाड—राजस्थान का इतिहास पृष्ठ—792

सरदार माधवराव सींधिया की शरण में जा पहुँचा। मेवाड़ की आन्तरिक फूट से लाभ उठाकर सींधिया ने मेवाड़ पर आक्रमण किया ताकि अरिसिंह को गद्दी से उतार कर रतनसिंह को राणा बना दे। जालिमसिंह का यह धर्म व कर्तव्य था कि अपने राणा की रक्षा करे। राणा की राय से जालिमसिंह ने एक सेना तैयार कर मराठों पर आक्रमण कर दिया। उज्जैन के पास उसका मराठों से युद्ध हुआ जिसमें मराठा आक्रमणकारियों ने जालिमसिंह को घायल कर बन्दी बना लिया। मराठों ने उदयपुर घेर लिया। राजपूत बड़ी वीरता से लड़े किन्तु मराठे संख्या में उनसे बहुत अधिक थे और राणा के जीतने की कोई सम्भावना नहीं थी अन्त में राणा ने मराठों से सन्धि कर ली। यह सन्धि जालिमसिंह के मित्र मराठा सरदार अम्बाजी इंगले ने करवाई थी। मराठा सेनापति त्र्यम्बक राव इसी मराठा सरदार अम्बाजी इंगले का पिता था जिसने साठ हजार रुपये लेकर जालिमसिंह को छोड़ दिया।[2] अपने घावों के ठीक होने पर जालिमसिंह अपने भविष्य पर फिर से सोचने लगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मेवाड़ की आन्तरिक फूट कभी समाप्त नहीं होगी। उसे मेवाड़ की दीन दुर्बल शक्ति में अन्धकार ही नजर आया और उसने पण्डित लालजी बेताल के साथ 1770 में वापस मेवाड़ छोड़कर कोटा जाने का निश्चय किया।

4 मराठे और जालिमसिंह—जालिमसिंह के कोटा छोड़कर चले जाने के बाद मराठों के निरन्तर आक्रमणों ने कोटा की राजनीतिक और आर्थिक दशा को अत्यन्त दुर्बल बना दिया था और महाराव गुमानसिंह को हर अवसर पर जालिमसिंह की याद आती थी। अन्त में सारे आग्रह को त्याग कर 1770 ई० में उन्होंने जालिमसिंह को वापस कोटा बुला लिया। इधर जालिमसिंह स्वयं वापस कोटा जाने की योजना बना चुका था। अतः बिना किसी आपत्ति के फौरन कोटा चला आया। टाड महोदय इस वापसी यात्रा में विभिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि जालिमसिंह स्वयं पहले कोटा लौट आया और जब इंदौर के मराठा शासक मल्हार राव होल्कर ने कोटा पर आक्रमण किया तो महाराव गुमानसिंह ने अपने सेनापति को मराठों से संधि करने भेजा किन्तु वह असफल लौट आया तब महाराव ने अपने सेनापति माधवसिंह को दक्षिणी सीमा पर स्थित बुकायनी दुर्ग की रक्षा करने भेजा जहाँ दुर्ग की रक्षा करते करते सेनापति माधवसिंह वीर गति को प्राप्त हुआ और बुकायनी पर मल्हार राव होल्कर का अधिकार हो गया। कोटा के दक्षिण में 60 मील दूर घमासान लड़ाई में कोटा की हार हुई और अनेकों हाड़ा सरदार मारे गये। किले में लौटती हुई सेना को घेर कर रात्रि के समय मराठों ने कोटा की सेना को भारी क्षति पहुँचाई थी। ऐसी कठिन घड़ी में महाराव गुमानसिंह को जालिमसिंह की याद आई। टाड महोदय का कथन है कि—

2 वीर विनोद—भाग दो—पृष्ठ 1556-58

"कोटा का राजा गुमानसिंह इस समय बड़े संकटों में था। उसको अपनी रक्षा के लिये कोई उपाय नहीं मिल रहा था। इसलिये उसने बहुत कुछ सोचकर इस बात का निर्णय किया कि भटवाड़ा के युद्ध में जालिमसिंह के द्वारा हाड़ा राजपूतों ने सफलता पायी थी और इस समय भी जालिमसिंह के द्वारा ही कोटा राज्य की रक्षा का कोई उपाय निकल सकता है। इस प्रकार सोच समझकर उसने जालिमसिंह को बुलाया और होल्कर के साथ सन्धि करने का उत्तरदायित्व उसको सौंपा।"[1] बकानी या बुकायनी पर अधिकार करने के बाद मराठे आगे बढ़े और उन्होंने अनेक अत्याचार और लूटमार के बाद सुकेत नामक दुर्ग को भी जीत लिया। इस युद्ध में अनेकों मराठों के साथ चार सौ हाड़ा सरदार भी मारे गये। तब महाराव गुमानसिंह ने जालिमसिंह को होल्कर से सन्धि करने का अधिकार देकर भेजा। जालिमसिंह ने जल्दी ही मराठों के साथ सन्धि कर देश को अत्यधिक लूटमार और विनाश से बचा लिया। उसने स्वयं मल्हार राव की सेवा में उपस्थित होकर उसे छः लाख रुपये भेंट देकर सन्धि करली। "महाराव ने प्रसन्न होकर जालिमसिंह को पुनः मुसाहिब का पद और नानता की जागीर दे दी।"[2] जालिमसिंह को सेनापति तो बना दिया लेकिन डॉ० शर्मा का कहना है कि "जालिमसिंह को पुनः फौजदार बना कर भी महाराव ने स्वरूपसिंह को अपने पद से नहीं हटाया। वह भी जालिमसिंह के साथ राज्य प्रबन्ध करता रहा।"[3] और आगे चलकर वह जालिमसिंह का प्रबल विरोधी बन गया। इसी बीच महाराव गुमानसिंह सात वर्ष तक शासन करने के बाद सख्त बीमार पड़े और देहान्त से पहले दस वर्ष के पुत्र उम्मेदसिंह को जालिमसिंह झाला की गोदी में छोड़कर चल बसे। उम्मेदसिंह तो जालिमसिंह का भानजा था। उसके 50 वर्ष के शासन काल में जालिमसिंह कोटा राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। सन् 1770 से 1820 ई० तक वह महाराव उम्मेदसिंह को कठपुतली बनाकर बड़ी कुशलता से राज्य करता रहा। महाराव का अधिकांश समय परिवार या ईश्वर भक्ति में बीतने लगा।

अपने इस 50 वर्ष के एक छत्र आधिपत्य काल में जालिमसिंह ने सुधार किये, मराठों और अंग्रेजों से जो सम्बन्ध स्थापित किये तथा आन्तरिक विद्रोहों का जिस प्रकार नीतिनिपुणता से दमन किया वे वास्तव में सराहनीय हैं। सबसे पहले हम जालिमसिंह के मराठों से सबंध देखें कि किस प्रकार उसने समय की सबसे प्रबल और खुँखार शक्ति को कोटा राज्य हड़पने से रोका।

1 टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ—794

2 गहलोत—राजपूताने का इतिहास—भाग 2 पृष्ठ 70

3 डा० मथुरालाल शर्मा—कोटा राज्य का इतिहास—भाग 2, पृष्ठ

अन्यथा कोटा जैसे छोटे से राज्य मे इतनी शक्ति कहाँ थी जो मराठो के आगे टिक सकती। राजस्थान के अन्य राज्यो मे मराठो का आतंक व लूटमार सदा होती रही किन्तु नीति निपुण जालिमसिंह के शासन काल मे मराठे धन सम्पन्न कोटा को नही लूट सके। टाड महोदय का कहना है कि "जालिमसिंह ने कोटा राज्य मे इस प्रकार का शासन आरम्भ किया कि आधी शताब्दी तक लुटेरे मराठों को उसके राज्य की तरफ आगे बढने का साहस न हुआ। यद्यपि इस दीर्घकाल मे राजस्थान के लगभग सभी राज्य लूटे गये, उनका विनाश हुआ और अनेक प्रकार की विपदाओं का उनको सामना करना पड़ा। परन्तु कोटा का राज्य उस प्रकार के विनाश से बचा रहा। उसका कारण जालिमसिंह का शासन था, जिसको उसने अपनी पच्चीस वर्ष की अवस्था से आरम्भ किया था और बयासी वर्ष की आयु तक सफलतापूर्वक चलाया।"● कोटा राज्य वैसे भारत के मध्य भाग मे है और मराठो से उसकी सीमा टकराती थी। उसने देश मे शान्ति बनाये रखने के लिये मराठो को वार्षिक भेंट या 'ट्री ब्यूट' देकर तथा मराठा सरदारो से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य को शान्ति प्रदान की। मराठो के अधीन काम करने वाले खूंखार पिण्डारियो को भी कोटा के दक्षिणी भाग मे कई छोटी छोटी जागीरें देकर हमेशा के लिये अपना स्वामीभक्त नौकर बना लिया। उसने अनेको पिण्डारियो को झालरा, पाटन और गागरोन के बीच बसा दिया जो अन्य पिण्डारी व मराठो के आक्रमण के समय अपनी जागीरो की रक्षा के चक्कर मे उन आक्रमणकारियो को आगे नहीं बढ़ने देते। इस प्रकार सबसे पहले जालिमसिंह ने मराठो के सेनापतियो को अपनी तरफ मिलाकर, उन्हें जागीरें देकर अपने राज्य को सुरक्षित बनाया और लोहे से लोहे को काटने की नीति को अपनाया। इन्ही पिण्डारियो की सहायता से उसने नये परगने जीते और कोटा का राज्य विस्तार भी किया। इस नीति के फलस्वरूप राजपूत तो क्या मराठो मे भी उसका इतना प्रभाव बढ़ गया था कि वे अपने आन्तरिक मामलो को भी जालिमसिंह की राय से सुलझाया करते थे।

उसकी विदेश नीति या दूसरे राज्यों से सम्बन्ध, शान्ति और मित्रता पर आधारित थे। जहाँ वह कठोर और क्रोधी था वहाँ अवसर आने पर अति-विनम्र बनकर अपना काम निकालना जानता था किन्तु विनम्र होकर भी वह स्वाभिमान से काम लेता था। उसकी सफलता का मूल कारण यह है कि वह अपने निर्णय पर दृढ़ रहकर निडरता से काम करता था। यहाँ यदि हम यह कहें कि उसमें श्रेष्ठ कोटि के राजनीतिज्ञ के सभी गुणों का समावेश [illegible], तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वैसे वह मराठो का मित्र था किन्तु जब [illegible] [illegible] मॉनसन एक विशाल सेना लेकर होल्कर पर आक्रमण करने [illegible]

● टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ—812

में आया तो जालिमसिंह ने भविष्य को सही समझकर मराठों का साथ छोड़ दिया और आगे बढ़कर जनरल मॉनसन का स्वागत किया लेकिन जब मॉनसन होल्कर से हार कर भाग रहा था तो जालिमसिंह ने उसे तुरत कोटा राज्य से निकल जाने का आग्रह किया और अपने राज्य में ठहरने की अनुमति नहीं दी। साधारणतः किसी राजपूत राजनीतिज्ञ से इस प्रकार की दल बदलू नीति के अनुसरण की आशा नहीं की जाती थी। राज्य में सहारा न देकर भी जालिमसिंह ने मॉनसन की प्राण रक्षा में पूरी मदद की थी। उसका प्रिय सरदार जो कोइला का जागीरदार था मॉनसन की रक्षा करता हुआ मराठों के हाथ से मारा गया था। इस प्रकार की श्रेष्ठ समयानुकूल नीति का पालन करके ही जालिमसिंह भारत के उस अनिश्चितता के तूफानी युग में 50 वर्ष तक कोटा को सुरक्षित रख सका।

जालिमसिंह की विदेश नीति का एक मात्र उद्देश्य शक्ति सतुलन बनाये रखना था ताकि कोई शक्ति अधिक शक्तिशाली बनकर पड़ोसी राज्यों को तंग न कर सके। वह उसी शक्ति की सहायता करता था जो कोटा की सहायता पाकर दूसरी शक्तियों से अधिक शक्तिशाली हो जाती। उद्देश्य से वह हर पड़ोसी शक्ति से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखता था। अब हम विशेष रूप से मराठों के साथ उसका आदान प्रदान देखें। सन् 1737 ई० में पेशवा ने सिंधिया और होल्कर को कोटा राज्य की सीमा पर इन्द्रगढ़ और पीपल्दा आदि की जागीरें दे दी थी। तब से लगा कर मराठों के पतन तक अर्थात् 1818 ई० तक ये मराठा सरदार निरंतर कोटा के लिये एक आतंक व भय का कारण बने रहते थे। इन जागीरों की देख भाल के लिये मराठों की तरफ से कोटा में एक वकील रहता था जो मराठा जागीरों से लगान वसूल कर अपने सरदारों को बांट देता था। लगान वसूल करते समय ये मराठे सरदार कोटा राज्य में भी घुस जाते थे और लूट मार करते थे किन्तु कोटा राज्य को यह सब सहन करना पड़ता था। मराठे शासन व्यवस्था की तरफ कम ध्यान देते थे और कठोरता से लगान वसूली करते थे। कोटा में रहने वाले मराठा वकील को 38,000 रु० सालाना वेतन मिलता था। मराठा सरदार कोटा के आसपास की जागीरों को बड़ा महत्व देते थे। कुशासन के कारण इन रियासतों में आन्तरिक विद्रोह सदा होते रहते। मराठा वकील इन विद्रोहों का दमन करने के लिये हमेशा कोटा राज्य से सैनिक सहायता लेता था। अपने राज्य में शान्ति बनाये रखने के लिये जालिमसिंह मराठों की जागीरों में शान्ति बनाये रखता था। मराठा वकील के अधीन एक दीवान भी रहता था तथा हर जागीर में एक कमविसदार, जो आजकल के तहसीलदार के बराबर का था। स्पष्ट है कि मराठों के भय से जालिमसिंह इन्हें हर प्रकार से खुश रखना चाहता था। वह समय समय पर होल्कर को भेंट व उपहार आदि देता रहता था। होल्कर

के पुत्र के विवाह के समय उसने कोटा की तरफ से 7000 न्योते भेजे। मल्हार राव होल्कर के बाद तुकोजी होल्कर विस्तार वादी था कि जालिमसिंह की नीति निपुणता से वह भी कोटा में कभी लूट मार नहीं सका। अपने देश में शान्ति बनाये रखने के लिये जालिमसिंह मराठों को प्र वर्ष कई लाख रुपये भेंट स्वरूप देता था। यही कारण है कि मराठों ने जय, जोधपुर और मेवाड में अपनी लूटमार का आतंक जमा रखा था उस स कोटा की जनता निर्भय जीवन व्यतीत कर रही थी।

जालिमसिंह की मराठा नीति के आधार इस प्रकार निम्नांकित लि जा सकते हैं —

1. मराठों के खुखार सेनापति पिंडारियों को मराठा और को राज्य के बीच में झालरा, पाटन और गागरोन आदि में जागीरें देकर स्वामि भक्त सेवकों में बदल लिया जिससे दो बड़ी शक्तियों के बीच एक तटस्थ शक्ति बन गयी।

2 मराठा वकील की लगान वसूली व शान्ति स्थापना में सहायता कर मराठों का कृपा पात्र बना रहा।

3 मराठों को वार्षिक नियमित भेंट, जो लाखों रुपयों की होती थी, देकर अपने राज्य की शान्ति खरीद लेना।

4 मराठा सरदारों के आपसी आन्तरिक मामलों में सदा शक्तिशाली को मदद करना।

5 इतने पर भी यदि होल्कर कोटा राज्य पर चढ़ आता तो जालिमसिंह स्वयं आगे बढ़कर उसका स्वागत करता और उसे बहुत फुसलाकर कुछ भेंट देकर सकुशल वापस लौटा देता जैसा उसने जनरल मानसन की सहायता करने पर किया था। होल्कर को मानसन का कोटा राज्य से गुजरना बुरा लगा और जब उसे ज्ञात हुआ कि मानसन की सहायता व रक्षा करते समय जालिमसिंह का प्रिय सामन्त आपा अमरसिंह भी अंग्रेजी सेनापति कप्तान लुकर के साथ मारा गया तो वह एक विशाल सेना लेकर जालिमसिंह पर चढ़ आया। जालिमसिंह को इस आक्रमण का भास पहले ही हो गया था। अतः उसने जनरल मानसन को कोटा में रुकने नहीं दिया और आगरा भेज दिया। फिर भी जब होल्कर सेना लेकर कोटा पर चढ़ आया तो जालिमसिंह ने कोटा गढ़ के बाहर उसे तीन लाख रुपये देकर विदा किया।* होल्कर ने पहले दस लाख रुपये की मांग की थी।

6. सन् 1817 ई० में होल्कर सींग के युद्ध में हार कर, बुरी तरह पराजित होकर भागा था। राजस्थान के अन्य राजपूत राजाओं ने विशेष तौर

*टाड-राजस्थान का इतिहास—भाग—3—पृष्ठ 1573

र जयपुर व जोधपुर ने तो होल्कर की कमजोरी से लाभ उठाकर उस पर आक्रमण की तैयारियाँ भी कर दी थी किन्तु जालिमसिंह ने अपनी मित्रता की नीति को नहीं छोड़ा। वह अपने अन्तिम समय तक होल्कर से मित्रता करते रहा।

इस प्रकार मराठों के प्रति वह आदर और मित्रता के भाव रखता था जिसे उसने होल्कर के साथ सदा निभाया। मराठों की आतंकवादी नीति जालिमसिंह की उदारता और चातुर्य के आगे झुक गयी थी।

5. जालिमसिंह और अंग्रेज—भारत का राजनीतिक भविष्य करवट ले रहा था। सन् 1740 में नादिरशाह के भयानक आक्रमण ने मुगल साम्राज्य की कमर तोड़ दी थी। मुगलों के बाद कौन? यह प्रश्न सजीव और सक्रिय था कि सन् 1757 में प्लासी की लड़ाई जीतकर अंग्रेजों ने मराठों के बढ़ते कदम को चुनौती दी। इस घटना के चार वर्ष बाद ही पानीपत की तीसरी लड़ाई में 1761 ई० में मराठों के सपने चूर चूर हो गये। यद्यपि मराठों ने केवल दस वर्ष के छोटे से समय में अपनी शक्ति का संगठन कर दिल्ली के बादशाह को अपना पालतू पक्षी बना लिया फिर भी वे समस्त उत्तर भारत को अधीन न कर सके। अंग्रेजों ने बंगाल, बिहार व उड़ीसा को निगलने के बाद अवध के हरे भरे प्रदेश पर दाँत गड़ा दिये थे। विलासी नवाबों की मित्रता का झुनझुना देकर वारेन हैस्टिंग्ज ने रुहेलखण्ड का नाम मिटा दिया। और मराठों के आक्रमण के समय अवध की रक्षा का वचन दिया। दोनों शक्तियों का आमना सामना तब हुआ जब बम्बई सरकार के छेड़छाड़ पर मराठा तलवार म्यान से निकल पड़ी किन्तु प्रारम्भिक सफलताओं के बाद प्रथम मराठा युद्ध में सलबाई की सन्धि ने मराठों का मान मर्दन कर उनकी महत्वाकांक्षाओं को असमर्थता की सीमा में बाँध दिया। यह महत्वपूर्ण सन्धि वारेन हेस्टिंग्ज और मराठों के बीच 20 फरवरी 1783 ई० को हुई थी। यह सन्धि भारत के इतिहास में अपना विशेष महत्व रखती है। भारत के विभिन्न शासक जो अब तक मराठों के डर से अंग्रेजों से कतराते थे अब आगे बढ़कर अंग्रेजों से मित्रता की चेष्टा करने लगे। प्रथम मराठा युद्ध ने स्पष्ट संकेत दिया था कि मुगलों के बाद भारत के शासक अंग्रेज होंगे, मराठा नहीं। भारत के अन्य शासक जिनमें निजाम हैदराबाद, अवध के नवाब, दिल्ली के बादशाह, पंजाब के सिक्ख, सिन्ध के अमीर, मराठा सामन्त और राजस्थान के राजपूत राजा सभी अब अंग्रेजों से मित्रता स्थापित करना चाहते थे। इस मित्रता के चार स्पष्ट कारण नजर आते हैं और इन्हीं चार स्पष्ट कारणों से प्रेरित होकर अन्य भारतीय राजाओं की तरह जालिमसिंह व कोटा राज्य भी अंग्रेजों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में था।

1. मित्रता के कारण—राजपूत राजा मराठों के आतंक से पीड़ित और धन जन की रक्षा के लिये किसी संगठित शक्ति का संरक्षण चाहते थे।

2 पिण्डारियों का भय—15 से 20 हजार तक के घुड़सवारों के गिरोह म य राजस्थान में लूट मार तो करते ही थे अब आन्तरिक मामलों मे भी हस्तक्षेप करने लगे थे। उन्ही के दबाव से मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा को विष का प्याला पीना पड़ा था। इन शत्रुओं से मुक्ति पाने का एक मात्र इलाज अंग्रेज थे। क्योंकि ये पिंडारी मराठों की शह पर अंग्रेजी राज्य में भी लूट मार करते थे। जैसा कि लार्ड हैस्टिग्ज की डायरी से भी ज्ञात होता है। उसने जनवरी 31 सन् 1817 को लिखा—"पिण्डारी साढ़े ग्यारह दिन कम्पनी के राज्य में रहे। कुल मिलाकर उन्होंने 339 गावों को लूटा, 182 आदमियों को मार डाला, 505 व्यक्ति घायल हुए और तीन हजार छः सौ तीन लोगों को भयानक यन्त्रनाएँ भोगनी पड़ी।" इस अवस्था में उसने गृह सरकार की स्वीकृति लेकर इन लुटेरों का दमन करने का निश्चय किया। वह इस काम में उन सभी राज्यों की सहायता चाहता था जिसमें ये लुटेरे शरण पाते थे ताकि अंग्रेजों के आक्रमण के समय ये लोग दूसरे देशी राजाओं के यहाँ शरण न ले लें। इस क्षेत्र में देशी शासक भी अंग्रेजों की मदद किये बिना नहीं रह सके। यहाँ तक कि जिन मराठों की कृपा के ये पिंडारी पात्र थे वे अब इनके दबावों से तंग आ गये थे और अवसर आने पर सारे मराठा सरदारों ने एक एक कर इनके दमन के लिये अंग्रेजों से सन्धि कर ली। "यहाँ तक कि सिंधिया ने अपनी शरण में आये वसील मुहम्मद को अंग्रेजों को सौंप दिया जिसने गाजीपुर की जेल में आत्म हत्या कर ली।"* स्पष्ट है कि परिस्थितियों ने राजपूतों को भी पिण्डारियों के आतंक से छुटकारा पाने के लिये अंग्रेजों से मित्रता के लिए प्रेरित किया।

3. तत्कालिक राजनीतिक स्थिति को देखकर स्पष्ट था कि सारे भारत पर अंग्रेजी प्रभाव स्थापित हो रहा है। पंजाब, सिन्ध और राजस्थान को छोड़कर अन्य सभी राज्य अंग्रेजों के चुंगल में फंस गये थे। इच्छा या अनिच्छा इस 'रिंग फैन्स' घेरा डालो और अधीन रखो की अंग्रेजी नीति के आगे एक एक कर कई बड़े 2 राजा घुटने टेक चुके थे। राजस्थान के छोटे छोटे राजा इस 'घेरे की नीति'* से कैसे बच सकते थे। वे भी इस प्रकार स्वयं आ फंसे। जालिमसिंह भी अपने सत्तारूढ़ होने के समय से निरंतर अंग्रेजों का विस्तार देख रहा था। उसने समझ लिया था कि अंग्रेजों का साम्राज्य बन ही चुका है और भारत का राजनीतिक भाग्य अब उनके इशारों पर चलता है। मराठा दरबार में भी जब अंग्रेजी रेजीडेन्ट रहने लग गया तो फिर कोटा जैसे राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व कब तक संभव था। इस दशा में पहले ही अंग्रेज

* देखें—मेरी ही पुस्तक भारत में कम्पनी राज्य के कारनामे—पृष्ठ 315

* एम० आर० शर्मा आधुनिक भारत का निर्माण—पृष्ठ—176

और मैसार अंग्रेजों से सन्धि कर चुके थे अतः जालिमसिंह ने अंग्रेजों से मित्रता स्थापित करना ही लाभदायक समझा।

4. हेस्टिंग्ज की नीति:—सन् 1813 में 59 वर्ष की अवस्था का अनुभवी अंग्रेज सेनानी लार्ड हेस्टिंग्ज भारत का गवर्नर जनरल बन कर आया। वह इंगलैण्ड के युवराज जार्ज चतुर्थ का मित्र था, अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम में सेनापति रह चुका था और संसद का सदस्य भी रह चुका था। वह भारत में शांति और सुरक्षा स्थापित करने का उद्देश्य लेकर आया था किन्तु भारत आकर उसने अनुभव किया कि तटस्थ रह कर तो कठिनाइयों को निमन्त्रण देना है और यदि विस्तारवादी नीति को अपना लिया जाय तो अंग्रेजों का प्रभुत्व सारे भारत पर आसानी से स्थापित हो सकता है। उसने चारों तरफ शत्रु भाव देखा। सात बड़ी समस्याएँ उसके सामने थीं जो विस्तारवादी नीति से ही हल हो सकती थी। अपनी परिवर्तित नीति का समाधान करने तथा गृह सरकार की इस हेतु स्वीकृति पाने लार्ड हेस्टिंग्ज ने कंपनी के डायरेक्टरों से जो पत्र व्यवहार किया उसमें इन बातों को अपनी नई नीति का कारण बताते हुए देशी राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप की स्वीकृति माँगी। ये सभी तर्क डॉ॰मोहनसिंह मेहता ने अपने ग्रन्थ 'लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इण्डियन स्टेट्स' में दिये हैं। इन तर्कों से हेस्टिंग्ज की नीति स्पष्ट हो जाती है। ये तर्क निम्नांकित हैं—

1. सिंधिया और होलकर के अत्याचारों से देशी रियासतों में अत्यधिक अराजकता व्याप्त है।

2. भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी व सुदृढ़ बनाने के लिये मराठों की शक्ति का अन्त अत्यन्त आवश्यक है। और मराठों को समाप्त करने के लिये उसने दो मार्ग सुझाये। एक तो यह कि देशी राज्यों का एक संघटन या मित्र मंडल बना लिया जाय जिनकी आन्तरिक सुरक्षा और बाह्य नीति पूर्ण रूप से अंग्रेजों के हाथ में हो और दूसरा यह कि प्रत्येक देशी राजा के साथ वेलेजली की सहायक प्रथा की तरह अलग अलग सन्धि कर ली जाय ताकि मराठे मित्र विहीन हो जायें और उनको चारों तरफ से घेर कर पूर्ण रूप से पराजित किया जा सके।

3. देशी राजाओं के राज्यों में भी कई स्थानों पर तो सामन्त ही राज्य के सर्वेसर्वा बने हुए हैं जिनसे उनके राज्य में गुटबन्दी और आपसी फूट के कारण अराजकता फैली हुई है। उसने इस दिशा में जालिमसिंह का उदाहरण दिया था जो कोटा राज्य का सर्वेसर्वा बन बैठा था और उसका मानजा उम्मेद सिंह केवल कठपुतली मात्र था।

4. स्थायी शांति के लिये पिण्डारियों का दमन आवश्यक बताया गया और इनके पूर्ण दमन के लिये देशी रियासतों से मित्रता आवश्यक थी अन्यथा ये पिण्डारी भाग कर देशी राज्यों में शरण ले लेते थे।

5. पंजाब और अंग्रेजी राज्य के बीच में तटस्थ सीमा स्थापित करने के लिये देशी राज्यों को मित्र बनाना आवश्यक था ताकि सिक्ख विस्तार के आगे ये देशी राज्य बाड़ बन सकें और सिक्ख अंग्रेजी राज्य को न छू सकें।

6. व्यापार की उन्नति, प्रशासन के बढ़ते व्यय और सेना खर्च कम करने के लिये देशी राज्यों से सम्पर्क व सन्धि लाभदायक थी।

7. हेस्टिंग्ज मराठा शक्ति को राजपूतों की शक्ति से ही समाप्त करना चाहता था वह जानता था कि मराठों ने राजपूत राज्यों का काफी शोषण किया है और वे मराठों से पीछा छुड़ाने के लिये फौरन अंग्रेजों से संधि कर लेंगे और तब पंजाब व सिन्ध को छोड़ कर सारे भारत पर अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित हो जायेगा।

लार्ड हेस्टिंग्ज को पूर्ण विश्वास था कि गृह सरकार उसके विचारों का समर्थन करेगी इसीलिये बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये उसने अपना कार्य शुरू कर दिया। किन्तु हम एकदम से हेस्टिंग्ज और कोटा राज्य के सम्बन्धों पर नहीं आ सकते। इससे पहले भी दोनों शक्तियों में विचारों का आदान प्रदान व औपचारिक बातचीत चल चुकी थी। जालिमसिंह के अंग्रेजों से सम्बन्ध दो भागों में बांटे जा सकते हैं। एक असफल प्रयत्न जो द्वितीय मराठा युद्ध तक किये गये और दूसरा वह काल जिसमें मित्रता की भावना बढ़ती गयी और अन्त में मित्रता हो गयी। यह काल 1806 से 1817 का है।

2 असफल प्रयत्न — साधारणतः यह माना जाता है कि लार्ड हेस्टिंग्ज के समय में जालिमसिंह ने अंग्रेजों से मित्रता शुरू की किन्तु कोटा राज्य के कागजात से ज्ञात हो चुका है कि इससे पहले भी कोटा की सेना में जालिमसिंह ने यूरोप और वाटरलैंड सामरू दो अंग्रेजों को रख लिया था जो उसे पाश्चात्य सभ्यता और रहन सहन से परिचित करवाते थे। प्रथम मराठा युद्ध के समय ही वह समझ गया था कि जल्दी ही सारे देश पर अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हो जायगा। सद्भाव की भावना सबसे पहले तब प्रदर्शित हुई जब कर्नल मानसन की अधीनता में अंग्रेजी सेना ने कोटा राज्य से होकर होल्कर पर आक्रमण किया। जालिमसिंह ने स्वयं अमरसिंह की अधीनता में होल्कर की सेना ... भी भेजी थी जिसने पराजित हो जाने पर मानसन को सुरक्षित भागने का अवसर दिया। मानसन कोटा में रह कर होल्कर का फिर मुकाबला करना चाहता था जिसके लिये जालिमसिंह तैयार नहीं था

क्योंकि वह अपने राज्य को युद्ध का मैदान नहीं बनाना चाहता था। अतः मॉनसन को प्राण रक्षा के लिये आगरा लौटना पड़ा। वहाँ जाकर उसने अपनी हार का उत्तरदायित्व जालिमसिंह पर डाल दिया। सच तो यह था कि कोटा के कारण ही वह जीवित बच निकला था किन्तु इस पराजय से कोटा—अंग्रेज मित्रता खटाई में पड़ गयी। अतः यह पहला प्रयास असफल गया। वैसे मराठों का दमन करने के लिये लार्ड वेलेजली ने 1803 में भरतपुर, अलवर, जयपुर आदि राजपूत राज्यों से सन्धि कर ली थी और जोधपुर व मेवाड़ के पास भी सन्धि के प्रस्ताव भेजे गये थे किन्तु कोटा को छोटा या सामन्तों द्वारा प्रशासित राज्य मान कर जब अंग्रेजों ने कोई प्रस्ताव नहीं भेजा तो जालिमसिंह ने स्वयं सन्धि का प्रस्ताव रखा।

दोनों राज्यों की मित्रता में दूसरी बड़ी बाधा सिंधिया के साथ चल रही अंग्रेजों की सन्धि वार्ता थी। अंग्रेज इस सन्धि में कोटा को सिंधिया का प्रभाव क्षेत्र मानने को तैयार थे। मराठा—आँग्ल वार्ता का नायक लार्ड लेक था और वह नहीं चाहता था कि सन्धि के बाद मराठों के प्रभाव क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाय। फिर भी जालिमसिंह अपने स्तर पर चेष्टा करता रहा। उसका निजी मित्र मेटकाफ उसका यह संदेश वेलेजली तक ले गया और वेलेजली ने लार्डलेक को कोटा से सन्धि करने का भी आदेश दे दिया था किन्तु इन प्रयत्नों का कोई फल नहीं निकला। 30 दिसम्बर, 1803 को सुर्जी अर्जुन गाँव में अंग्रेजों की सिंधिया से सन्धि हो गयी जिसमें कोटा राज्य को सिंधिया का प्रभाव क्षेत्र मान कर अंग्रेजों ने फिलहाल कोटा से मित्रता का विचार त्याग दिया। हाँ राजस्थान के अन्य राज्य जयपुर, जोधपुर, अलवर व भरतपुर आदि सिंधिया ने अपने प्रभाव के बाहर मान लिये थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों और सिंधिया के बीच सुर्जी अर्जुन गाँव की सन्धि और मॉनसन को सहायता न देने की दो घटनाएँ कोटा अंग्रेज सम्बन्धों के बीच दीवार बन गयी। टाड महोदय इस विलम्ब में जालिमसिंह को दोषी नहीं ठहराते उनका कहना है कि जालिमसिंह ने "परिस्थितियों के अनुकूल" ही काम किया। डॉ० मथुरालाल शर्मा भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि—"ऐसी परिस्थिति में जब उसे अंग्रेज सरकार का संरक्षण प्राप्त नहीं था तथा होल्कर कोटा में बढ़ा चला आ रहा था, तो जालिमसिंह का पराजित मॉनसन को कोटा राज्य से विदा करना एक दूरदर्शिता पूर्ण कार्य था।" इसके बाद द्वितीय मराठा युद्ध समाप्त होने पर 1805 व 1806 में सिंधिया और होल्कर से जो सन्धियाँ की गईं उनमें कोटा को मराठों का प्रभाव क्षेत्र मानकर जालिमसिंह को मराठों से मित्रता बनाये रखने पर बाध्य किया गया। अंग्रेजों की इस उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि जालिमसिंह ने तीन लाख रुपये

देकर होल्कर से पीछा छुड़ाया। पिण्डारियों को खुश रखने के लिये अमीर खाँ के परिवार को शेरगढ़ और दिलन्ध्री के दुर्ग दिये जिन्में केन्द्र बनाकर अमीर खाँ अन्य राज्यों पर आक्रमण करता रहा। यहाँ यह कहना उचित होगा कि अंग्रेजों से सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहने के कारण जालिमसिंह के स्थानीय सम्मान को भारी आघात पहुँचा और कोटा के अनेक हाड़ा सामन्त उसके विरोधी व समालोचक बन गये जिन्होंने जालिमसिंह के विरुद्ध अनेकों षडयन्त्र रचे। उन षडयन्त्रो का हम आगे अलग से वर्णन करेंगे किन्तु यह सब आँग्ल-कोटा सम्बन्धो की असफलता का प्रत्यक्ष परिणाम बन गये। पिण्डारियो ने भी थोड़े समय बाद कोटा को लूटना शुरू कर दिया और चार फरवरी, 1814 को तो ये पिण्डारी कोटा नगर में आ धमके। मराठा सरदार भी धन प्राप्ति के लिये आये दिन कोटा पर आक्रमण की धमकी देते थे। वार्षिक लगान के अतिरिक्त होल्कर ने 1804 में सूकेत में तीन लाख रुपये जुर्माना या भेंट लिये और 1809 में साँगानेर में होल्कर के वकील रामदीन ने कोटा के परगने में लूटमार करना चाहा किन्तु जालिमसिंह ने उसे रोक कर लौटा दिया किन्तु तीसरी बार 1817 में फिर होल्कर की सेना ने कोटा राज्य के रामपुरा क्षेत्र को लूटा।

इसी प्रकार सिंधिया ने भी तीन बार कोटा में लूटमार करने की चेष्टा की। ये प्रयत्न 1806, 1808 और 1809, ई० में किये गये। इन आक्रमणों को रोकने के लिये जालिमसिंह को सेना का सहारा लेना पड़ा। जालिमसिंह चाहते हुए भी मराठों से मित्रता नहीं रख सका और उसे अपने राज्य की सुरक्षा के लिये अंग्रेजो से मित्रता करने हेतु फिर प्रयत्न करने पड़े।

3. जालिमसिंह का संकल्प—चारों तरफ अशांति का वातावरण व्याप्त था और कोटा का छोटा सा राज्य होल्कर, सिंधिया और पिण्डारियों की शक्ति का सामना करने में असमर्थ था। समय के साथ जालिमसिंह का आंतरिक विरोध भी बढ़ता जा रहा था। कोटा के हाड़ा सरदार इस भारी सरदार से मुक्त होना चाहते थे। अब जालिमसिंह 70 वर्ष से भी अधिक आयु का हो गया था, उसका शारीरिक बल क्षीण होता जा रहा था और नेत्र ज्योति भी क्षीण हो चली थी किन्तु वह स्थान छोड़ने से पहले कोटा राज्य की सुरक्षा को स्थाई रूप और नीति देना चाहता था। उसका यही संकल्प उसे बार बार अंग्रेजो से मित्रता करने की प्रेरणा देता था। सन् 1803 से 1817 के बीच जालिमसिंह निरन्तर यही प्रयत्न करता रहा और अन्त में सन्धि करके ही माना। मूल रूप से यह जालिमसिंह का ही संकल्प व लगन थी जिसने आखिरकार जालिमसिंह के 15 वर्षों के प्रयत्नों को सफल बना दिया। वह दिल्ली में स्थित अंग्रेजी रेजीडेन्ट कर्नल ब्लाक से समय समय पर

हर मेजकर सलाह लेता रहता था और कलाज उसे यही राय देता था कि सार के अनुकूल व्यवहार करो। वैसे तो अन्य राजा भी अंग्रेजों से सन्धि करने को तैयार थे किन्तु अंग्रेजों ने राजस्थान में सबसे पहले कोटा के जालिमसिंह से ही स्थाई सन्धि की जबकि मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर जैसे बड़े राज्य इस कार्य में पहल पाने का श्रेय प्राप्त नहीं कर सके। टाड महोदय और डॉ० मोहनसिंह मेहता की यह मान्यता है कि यदि पिण्डारियों व मराठा के प्रपंच ने कोटा को क्षुब्ध नहीं किया होता तो कदाचित जालिमसिंह अंग्रेजों के चंगुल में नहीं फंसता। अपने देश की सुरक्षा के विचार ने उसे अंग्रेजों से सन्धि करने के लिये विवश कर दिया। कलकत्ता स्थित अंग्रेजी सचिवालय का उच्च अधिकारी सर चार्ल्स मेटकाफ भी जालिमसिंह का हितैषी और मित्र था। जालिमसिंह और मेटकाफ के पत्र व्यवहार का विस्तृत उल्लेख पहले डॉ० कुमारी रामप्यारी शास्त्री ने अपने अप्रकाशित अनुसंधान ग्रन्थ—'राज राणा जालिमसिंह ऑफ, भालावाड' में किया है जिन्हें 15 वर्ष बाद में डॉ० देवेन्द्र पत्नीगढ़ी ने, अपने अनुसंधान लेख 'सरचार्ल्स मेंटकाफ' में फिर से दिया है। इस आधार पर डॉ० वी० एस० भार्गव का कहना है कि—"जालिमसिंह के प्रतिनिधि ने कंपनी के साथ 26 दिसम्बर, 1817 के दिन जो सन्धि की थी वह एक ऐसा आदर्श समझौता था जिसे अन्य राजपूत राजाओं के साथ होने वाले समझौतों का आधार बनाया गया था।"* अपने इसी संकल्प की पूर्ति के लिये वह अंग्रेजों की गति विधि पर नजर रखने लगा और जब जब जैसे अवसर मिले तब तब उसने अंग्रेजों की विशेष रूप से सहायता की। हम ऊपर देख चुके हैं कि अंग्रेज मराठों और पिण्डारियों की शक्ति समाप्त करने पर तुले हुए थे अतः जालिमसिंह ने भी उन्हें सहायता देना शुरू किया।

4. पिण्डारी अभियान—लार्ड हेस्टिंग्ज ने 1817 ई० में पिण्डारियों के दमन की महान संघर्षपूर्ण योजना की घोषणा की और राजस्थान के राजाओं को इस सामाजिक कार्य में सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया और साथ ही यह घोषणा भी कर दी कि जो नरेश इस काम में अंग्रेजी सरकार की सहायता नहीं करेंगे और पिण्डारियों को अपने यहाँ शरण देंगे उन्हें कम्पनी राज्य का शत्रु समझा जायेगा। पिण्डारियों के दमन के लिये लार्ड हेस्टिंग्ज ने कर्नल जेम्स टाड को नियुक्त किया। इससे पूर्व टाड महोदय सिंधिया के दरबार में राजनीतिक एजेन्ट थे। दूरदर्शी जालिमसिंह ने अंग्रेजी घोषणा का सबसे पहले स्वागत किया और दूत भेज कर राजस्थान में आ रहे टाड महोदय को कोटा में निमंत्रित किया। टाड ने 23 नवम्बर, 1817 को कोटा से सिर्फ 25 मील दूर रौंवटा नामक गाँव में जालिमसिंह से भेंट की। यही रौंवटा आगे

* डॉ वी० एस० भार्गव - राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण—पृष्ठ 211.

चल कर पिण्डारी दमन का केन्द्र बन गया जहाँ रह कर टाड ने सेनापति जॉन मॉल्काम से पूर्ण सपर्क बनाये रखा। मॉल्काम भी यह समझ गया कि जालिमसिंह राजस्थान का एक बुद्धिमान शासक है। उसने आगे चल कर इस झाला सरदार के पिण्डारी अभियान में सहयोग की सराहना करते हुए उसे एक "महत्वपूर्ण व्यक्ति" कह कर संबोधित किया। टाड महोदय के निजी शब्दों मे—"दूरदर्शी जालिमसिंह ने समझ लिया कि अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग करना आवश्यक है। इस सहयोग और मित्रता का सूत्रपात कोटा राज्य से हुआ और उसके बाद राजस्थान के सभी राजाओ ने उसे स्वीकार करके लुटेरों को सदा के लिये नष्ट कर देने का निश्चय किया।"[1] इसी प्रकार श्री गहलोत का कहना है कि—"टाड और जालिमसिंह ने पिण्डारियों का दमन करने की योजना बनाई।"[2] इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के राजाओं मे टाड ने सबसे अधिक महत्व जालिमसिंह को दिया। टाड के कहने पर जालिमसिंह ने युद्ध की तैयारी शुरू कर दी और पाँच ही दिन मे इतनी तैयारी हो गयी कि यदि शत्रु आक्रमण करे तो उसे भगाया जा सकता था। टाड ने जालिमसिंह का संदेह दूर करने को स्पष्ट किया कि कंपनी पिण्डारियो का दमन देश मे शान्ति स्थापित करने के लिये कर रही है, राज्य विस्तार के लिये नहीं। इस पर जालिमसिंह ने उत्तर दिया कि—"मुझे आप लोगों पर पूर्ण विश्वास है, जो कुछ आप कहते हैं, मैं उस पर संदेह नही करता। वह दिन दूर नहीं है, जब समस्त भारतवर्ष में एक ही राजनीतिक शक्ति काम करेगी।"[3] टाड महोदय जालिमसिंह की दूरदर्शिता की सराहना करते हुए आगे कहते हैं कि—"दस वर्षो मे ही इस भविष्यवाणी की सच्चाई का प्रमाण मिल गया ...... देश की समस्त विरोधी शक्तियों को नष्ट कर दिया गया।"[4]

पिण्डारियों के दमन मे जालिमसिंह ने कंपनी को एक सैनिक टुकड़ी भी दी जिसमें चार तोपें और 15 सैनिक थे। इस टुकड़ी ने नर्बदा के पार जाकर जॉन माल्कम के साथ पिण्डारियों का दमन किया। दमन के समय पिण्डारियों और मराठों को जालिमसिंह और कोटा पर क्रोध आना स्वाभाविक था किन्तु अंग्रेजों ने हर कठिनाई के समय कोटा राज्य की रक्षा की। आखिरकार दो महिने के कठोर दबाव के बाद जनवरी 1818 में पिण्डारियों का पूर्ण रूप से दमन हो गया। जालिमसिंह ने जो जागीरें पिण्डारियों को दी थी वे वापस छीन ली। मराठो ने उसे अनेक प्रकार के भय दिखाये किन्तु जालिमसिंह

---

1. टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 818.
2. गहलोत—राजपूताने का इतिहास—भाग 2, पृष्ठ 78.
3. टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 819.
4. टाड—राजस्थान का इतिहास—पृष्ठ 819.

ों का साथ नहीं छोड़ा। उसकी दृष्टि में अंग्रेजों की मित्रता में जो अधीनता थी वह पिण्डारियों की लूटमार और विनाश से कहीं अधिक अच्छी थी इसी पिण्डारी दमन के बीच जालिमसिंह टाड और जॉनमाल्कम का परम् मित्र बन गया और यह व्यक्तिगत मित्रता 26 दिसम्बर 1817 को अंग्रेजों और कोटा के बीच स्थापित राजनीतिक सन्धि का मूल आधार बन गई और जालिमसिंह जाते-जाते कोटा को मराठों व पिण्डारियों के भय से मुक्त कर गया। पिण्डारी अभियान कोटा अंग्रेज सन्धि का आधार बन गया।

5 आंग्ल कोटा सन्धि – 26 दिसम्बर 1817 यह सन्धि दिल्ली में हुई जिसमें अंग्रेजों की तरफ से मेटकाफ और कोटा राज्य की तरफ से जालिमसिंह मंत्री के हस्ताक्षर हुए और जनवरी 1818 में लार्ड हेस्टिंग्ज और कोटा महाराव उम्मेदसिंह ने भी सन्धि पर अपनी अपनी मोहर लगाकर हस्ताक्षर कर दिये। सारी सन्धि में जालिमसिंह और उसके अधिकारों का कहीं वर्णन नहीं था। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए मार्च 1818 में इसी सन्धि में दो नई धाराएँ और जोड़ दी गई जिनमें जालिमसिंह के वंशजों को उसका पद देने का वर्णन था। इस प्रकार कुल मिलाकर इस सन्धि में बारह धाराएँ थीं जो निम्नांकित हैं—

(1) कोटा और अंग्रेज शासकों के बीच आपसी हित और मित्रता सदा बनी रहेगी।

(2) एक पक्ष का मित्र या शत्रु दूसरे मित्र का भी मित्र या शत्रु होगा। यह नहीं कि मराठे अंग्रेजों के तो शत्रु और कोटा के मित्र बने रहें।

(3) अंग्रेजी सरकार ने कोटा को अपने संरक्षण में लिया तथा उसकी रक्षा का वचन दिया।

(4) महाराव और उसके उत्तराधिकारियों ने अंग्रेजी सरकार की अधीनता स्वीकार की और सदा सहयोग देने का वचन दिया।

(5) अंग्रेजों की अनुमति के बिना कोटा राज्य किसी अन्य शक्ति से है वह राजस्थानी ही क्यों न हो सन्धि या मित्रता नहीं करेगा।

(6) किसी राज्य पर आक्रमण करने से पहले कोटा नरेश अंग्रेजों से स्वीकृति प्राप्त करेंगे।

(7) कोटा जो कर अब तक मराठों को देता था वह अब अंग्रेजों को देगा।

(8) अंग्रेजों के अतिरिक्त कोटा और किसी राज्य को कर नहीं देगा। कोई राज्य ऐसा दावा करेगा तो अंग्रेज उससे निपटेंगे।

(9) आवश्यकता पड़ने पर कोटा अंग्रेजों की सैनिक सहायता करेगा।

(10) कोटा राज्य पर महाराव उम्मेदसिंह और उनके उत्तराधिकारियों का पूर्ण शासन रहेगा और उसके राज्य मे अंग्रेज दीवानी या फौजदारी हस्तक्षेप नहीं करेंगे ।

20 फरवरी 1818 को इसमे एक सहायक लेख के द्वारा दो धाराएँ और जोड़ी गई ।

(11) महाराव उम्मेदसिंह व उनके उत्तराधिकारियो को कोटा का राजा माना गया ।

(12) जालिमसिंह और उसके वंशजों को शासन प्रबन्ध का अधिकार दिया गया कि उसके वंशज सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त राज मंत्री बने रहेंगे ।‡

इस प्रकार कोटा अंग्रेजो का मित्र बन गया ।

4. सन्धि की आलोचना—राजस्थान के राजाओं के लिए यह सन्धि अत्याधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई और एक के बाद एक सभी राजस्थानी राजाओं ने कोटा का अनुकरण कर अंग्रेजों से सन्धि कर ली । सन्, 1817 मे ही बूंदी ने, 1819 मे जोधपुर व मेवाड़ ने, और इस बीच डूंगरपुर, बांसवाड़ा व प्रतापगढ़ मे भी अंग्रेजो से सन्धि कर ली । फिर 1821 मे जयपुर ने भी सन्धि की । बीकानेर, अलवर और जैसलमेर भी अंग्रेजो के मित्र बन गये । इस प्रकार 1817 से 1857 का समय तो अंग्रेजों के साथ राजस्थानी राजाओं के सहयोग का समय बन गया । जिसका श्रेय जालिमसिंह को दिया जाता है । डॉ० मोहनसिंह मेहता का कहना है कि—"कोटा महाराव ने अंग्रेजों के साथ अधीनस्थ सहयोगी के रूप मे कार्य करना स्वीकार कर लिया ।"● सुरक्षा के बदले मे जालिमसिंह ने उस आजादी को बेच दिया जो मुगलो के समय राजस्थान के राजा जान तक देकर भी बनाये हुए थे । डॉ० कुमारी रामप्यारी शास्त्री ने जालिमसिंह पर आरोप लगाते हुए पूरक सन्धि की दो धाराओं को 'कपटपूर्ण' कहा है कि—"वह अंग्रेजो से मिल कर महाराव के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध षडयन्त्र करना चाहता था ।"○ डॉ० वशिष्ठ की राय है कि यह आरोप—"सत्य की परिधि पर ठीक नहीं उतरता क्योंकि पूरक सन्धि को महाराव उम्मेदसिंह ने जालिमसिंह की कोटा राज्य को दी गई मूल्यवान सेवाओं को ध्यान मे रखते हुए निर्विरोध अपनी स्वीकृति प्रदान की थी ।"

डॉ० मथुरालाल शर्मा भी अपनी पुस्तक 'कोटा राज्य का इतिहास' भाग दो मे जालिमसिंह पर यह आरोप लगाते हैं कि—"उसने इस गुप्त सन्धि

‡ एचिसन—"ट्रिटीज सनद एण्ड एनगेजमेंट—भाग3, पृष्ठ—357

● डॉ० मोहनसिंह मेहता—लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इंडियन स्टेट्स ।

○ डॉ० बी. के. वशिष्ठ—स्नातकोत्तर पत्राचार अध्ययन—पाठ पृष्ठ 11

द्वारा कोटा राज्य को हानि पहुँचाई।" यह बात भी आधुनिक विद्वानों को न्याय सगत नहीं लगती। वैसे यह तो स्पष्ट ही है कि पूरक सन्धि ने कोटा महाराव के अधिकारों को सीमित कर दिया था। डॉ० मेहता का कहना है कि—"आश्चर्य है कि इस विषैले वातावरण के बाद भी कोटा महारावल व अंग्रेजों के बीच सद्भावनापूर्ण सबंध बने रहे।"‡

टाड महोदय इन पूरक धाराओं के लिए जालिमसिंह को दोष नहीं देते वरन् उसे पूर्ण स्वामीभक्त मंत्री मानते है और विश्वासपात्र भी। जब जालिमसिंह को अंग्रेजों ने चार परगनों की जागीर दी तो उसने ये चारों जागीरें कोटा नरेश को दे दी। ऐसे व्यक्ति पर कपटपूर्ण व्यवहार का दोष लगाना उचित नहीं।

7 सन्धि के बाद—जालिमसिंह और अंग्रेजों के बीच सन्धि और पूरक सन्धि तो दिसम्बर 1817 और फरवरी 1818 में हो गई। सामान्य रूप से इस सन्धि के बाद कोटा में सुख-शान्ति और अमन-चैन स्थापित हो जाना चाहिये था किन्तु ऐसा नहीं हो सका। जहाँ बाहरी आक्रमणों का भय पूर्णरूप से समाप्त हो गया वहाँ आन्तरिक विद्रोहों ने तथा शक्ति प्राप्ति के लिए कोटा महाराव ने एक प्रामरण संघर्ष शुरू कर दिया और मराठों के आतंक से मुक्त कोटा अब आन्तरिक अशान्ति का केन्द्र बन गया। वैसे तो हाड़ा सरदार जालिमसिंह झाला को राजमंत्री और सेनापति के रूप में देख-देखकर जलते थे तथा समय-समय पर उसके विरुद्ध विद्रोह खड़े करते रहते थे। इस प्रकार के 19 विद्रोह जालिमसिंह के दीर्घकालीन शासन में हुए जिनमें उसे मार डालने की चेष्टा की गई। किन्तु उसकी दूरदर्शिता से जालिमसिंह का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सका। महाराव उम्मेदसिंह ने अपने शासन के 50 वर्षों में कभी जालिमसिंह की अवहेलना नहीं की और जब पूरक संधि में जालिमसिंह के उत्तराधिकारियों को कोटा के महामंत्री पद का स्थाई अधिकार दिया तब भी महाराव उम्मेदसिंह को कोई आपत्ति नहीं हुई। आन्तरिक समस्या तब खड़ी हुई जब 1819 में महाराव उम्मेदसिंह का देहान्त हो गया और उनका पुत्र किशोरसिंह कोटा का महाराव बना। अगले पाँच वर्ष का समय झाला जालिमसिंह और भावी किशोरसिंह के बीच संघर्ष का समय है जबकि महाराव और महामंत्री के बीच राज्य की वास्तविक शक्ति अपने हाथ में लेने के लिए युद्ध होते रहे। इस आन्तरिक क्लेश ने आखिरकार कोटा राज्य का विभाजन

‡ उद्धृत डॉ० बी. एल. भार्गव—राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, पृष्ठ—212.

करवा दिया और अंग्रेजों ने जालिमसिंह के उत्तराधिकारी राजराणा माधवसिंह को 1838 में कोटा का एक तिहाई राज्य दिलवाकर इस आन्तरिक कलह का अन्त किया। कोटा राज्य में ही झालावाड़ नामक नये राज्य की स्थापना हो गई। पचास वर्ष के कटु आन्तरिक मतभेदों के समय अंग्रेजों ने जालिमसिंह के साथ पूर्ण सहयोग बनाये रखा और अंग्रेजों की सहायता से ही राजराणा कोटा में अपना अधिकार बनाये रख सका। महाराव किशोरसिंह का स्वतन्त्रता प्राप्ति प्रयास उन्हें महंगा पड़ा और कोटा राज्य में एक नये झालावाड़ राज्य का उदय हो गया। हम यहां सिर्फ 1824 तक के संबंधों को ही लेंगे जब [illegible] में जालिमसिंह का देहान्त हो गया था।

कठिनाइयों का आरम्भ दोनों तरफ से हुआ। इधर तो महाराव उम्मेद सिंह का देहान्त और उधर जालिमसिंह को लकवा हो जाना। ये दोनों बातें नये शासक किशोरसिंह की महत्वाकांक्षा के कारण बन गईं। इसके अतिरिक्त जालिमसिंह का अवैध पुत्र (जो उसकी अविवाहित पत्नी का पुत्र था) गोवर्धन-दास भी अपने बड़े भाई और जालिमसिंह के उत्तराधिकारी माधवसिंह या माधोसिंह को अपने मार्ग से हटाकर स्वयं राज्य का सेनापति व मुख्यमंत्री बनना चाहता था। माधोसिंह भी अयोग्य, आलसी और अफीम के नशे में व्यस्त रहता था। उसका छोटा भाई गोवर्धनदास उसकी अयोग्यता को लखकर स्वयं जालिमसिंह का उत्तराधिकारी बनना चाहता था। इसके विपरीत जालिमसिंह अपने जीवन काल में ही माधोसिंह को अपना पूर्ण उत्तराधिकारी बना देना चाहता था। एक तरफ नये महाराव की नियन्त्रण मुक्त होने की इच्छा और दूसरी तरफ जालिमसिंह के छोटे बेटे की शक्ति हड़पने की ... ने आन्तरिक
अशान्ति की ज्वाला में विस्फोटक आहुति का काम ... ये महा...
जालिमसिंह का आदर करते थे और उसके जीते जी ... पर को...
प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते थे। किन्तु जब जालिमसिं... के लड़के
माधोसिंह को सेनापति बना दिया तो चारों तरफ ... । यदि
अंग्रेजी प्रतिनिधि टाड इस समय जालिमसिंह को स... कोटा
दरबार में झाला सरदारों का आधिपत्य समाप्त हो ... आंतरिक
उत्तराधिकार संघर्ष में अंग्रेजों ने जो समर्थन प्रदान किया, ...
में कोटा का विभाजन हुआ। अब हम इन आन्तरिक ...
जालिमसिंह व अंग्रेजों के मैत्रिक सम्बन्धों का अवलोकन करें।

महाराव किशोरसिंह और माधोसिंह आपस में
...त थे। जब जालिमसिंह को लकवा हो गया और उसका

सिंह जो पहले सेनापति था अब पूरक सन्धि के अनुसार राज्य के शासन प्रबंध की देखभाल भी करने लगा। महाराव किशोरसिंह स्वयं अपने सेनापति व राजमंत्री की नियुक्ति करना चाहते थे और इसे राजा होने के नाते अपना अधिकार समझते थे। उनकी नजर में माधोसिंह का छोटा भाई गोवर्धनदास अधिक योग्य व स्वामीभक्त था। महाराव ने मेवाड़ में स्थित अँग्रेजी प्रतिनिधि कर्नल जेम्स टाड को अपना विचार लिख भेजा। टाड महोदय ने जो इस समय कोटा, बूंदी और उदयपुर के लिए अंग्रेजी एजेन्ट का काम कर रहे थे दिनांक 11 मार्च 1820 को कोटा आकर महाराव से भेंट की और समस्या को सुलझाना चाहा किन्तु यह भी साफ बता दिया कि अंग्रेज पूरक सन्धि में कोई उलटफेर नहीं होने देंगे। महाराव इस बात के लिए तैयार नहीं थे। स्थिति इतनी बिगड़ी की महाराव ने किले में युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। टाड ने जालिमसिंह का साथ दिया और उसे किला घेर लेने का आदेश दिया। अंग्रेज स्वयं खुले आम महाराव का विरोध नहीं करना चाहते थे क्योंकि इससे अन्य राजपूत राजाओं में अशान्ति फैलने की संभावना थी। इसीलिए टाड महोदय ने थोड़ा ढीला व्यवहार रखा। उधर जालिमसिंह के मन में भी एक संघर्ष चल रहा था। उसने आजीवन नि:स्वार्थ भाव से कोटा राजघराने की सेवा की थी और अन्तिम दिनों में वह अपने चरित्र पर विश्वासघाती या विद्रोही का दाग नहीं लगवाना चाहता था। अतः वह महाराव के विरुद्ध शस्त्र उठाने में हिचकिचाता रहा। इस ढीलमढाल नीति से महाराव को शक्ति संगठन का अवसर मिल गया और अनेक हाड़ा सरदार माधोसिंह को छोड़ कर महाराव किशोरसिंह के पास चले गये। अंग्रेजों की केन्द्रीय सरकार ने इसे टाड की लापरवाही समझ कर उसका स्वतन्त्र स्थान छीनकर अब उसे मालवा के एजेन्ट के अधीन कर दिया। इस झटके ने टाड महोदय को सक्रिय कर दिया और उसने जालिमसिंह को गढ़ पर आक्रमण करने का आदेश दिया। जालिमसिंह ने गढ़ को घेर लिया। महाराव ने सेना और खाद्य पदार्थों के अभाव में कोटा छोड़ कर जाना उचित समझा। टाड व जालिमसिंह ने उन्हें जाने दिया। यह उनकी भूल थी जिसके फलस्वरूप टाड को दिल्ली की सरकार से फिर चेतावनी मिली। टाड ने यह मांग रखी थी कि गोवर्धनदास को राज्य से निकाल दिया जाय। लाचार होकर महाराव को पहले दिल्ली और फिर बूंदी में शरण लेनी पड़ी। दिल्ली में अंग्रेजी एजेन्ट ने सन्धि में परिवर्तन करने से साफ मनाकर दिया। और जब महाराव ने बूंदी में शरण ली तो टाड ने बूंदी नरेश को सहायता न देने की चेतावनी दे दी। विवश होकर महाराव ने अपनी शक्ति इकट्ठी कर चम्बल पार करने की चेष्टा की। टाड ने नीमच से अंग्रेजी सेना मंगा ली। बहुत चेष्टा करने पर भी जब महाराव नहीं माने और चम्बल नदी पार कर कोटा राज्य में बढ़े तो अँग्रेजी सेना ने 1 अक्टूबर 1821 ई० को महाराव पर आक्रमण कर

लिया। महाराव का छोटा भाई पृथ्वीसिंह युद्ध में मारा गया और स्वयं महाराव को मैदान छोड़कर भागना पड़ा। घूम घामकर महाराव नाथद्वारा जा पहुँचा और अंग्रेजी एजेन्ट के माध्यम से 22 नवम्बर 1821 को नाथद्वारा मे महाराव और अंग्रेजो मे संधि हो गई। चारो तरफ असफलता देखकर महाराव ने नाम मात्र का राजा रहना स्वीकार कर लिया। एक महीने बाद महाराव किशोरसिंह कोटा लौट आये और 21 दिसम्बर 1821 को बड़ी धूमधाम से उनका राज्याभिषेक हुआ। गोवर्धनदास को दिल्ली भेज दिया गया। माधोसिंह को शासन व सेना पर पूर्ण अधिकार दिया गया। जालिमसिंह अंग्रेजों की सहायता से महाराव के स्वतन्त्रता आन्दोलन को दबाने मे सफल रहा। कोटा नरेश एक पेंशन प्राप्त अफसर मात्र रह गए। राजमहलों के बाहर उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं रहा। इस संधि के बदले में महाराव के प्रति स्वामीभक्ति व आस्था की शपथ माधोसिंह ने 7 फरवरी 1822 को लिखित रूप मे दरबार मे पेश की जिसमे महाराव के राजकीय सम्मान को परम्पराओ के अनुसार बनाये रखने का वचन दिया। इस प्रकार अंग्रेजों ने अपने मित्र जालिमसिंह का उसके बुढ़ापे मे भी साथ दिया और उसके अधिकारों की रक्षा की। अंग्रेजों ने आगे चलकर जालिमसिंह के उत्तराधिकारियो को कोटा राज्य का एक तिहाई भाग दिलाकर 1838 मे झालावाड़ राज्य की नींव डालकर झाला व हाड़ा वंश के वैमनस्य को समाप्त कर दिया। जालिमसिंह स्वामीभक्त भी बना रहा और अपने परिवार का भी भविष्य उज्वल बना गया। कोटा के झाला मंत्री जालिमसिंह ने झालावाड़ राज्य की स्थापना करवा दी।

अध्याय 27

धार्मिक दशा

धार्मिक दशा

1. पृष्ठभूमि—युग युगान्तर से राजस्थान धर्म और भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है। सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेष यहां भी प्राप्त हुए हैं। हाल ही में पूना विश्वविद्यालय के डॉ॰ मिश्र ने बागौर मे जिस सभ्यता के अवशेष खोज निकाले हैं वे इस बात के प्रतीक हैं कि राजस्थान धर्म और सभ्यता के मामले में आर्य तो क्या सिन्धु निवासियों से भी प्राचीन है। भारत की विभिन्नता यहाँ एकता का रूप धारण कर अमर हो गयी है। इस भाग के निवासी यहाँ शिव और विष्णु की उपासना को परलोक सुधारने का साधन मानते हैं वहाँ शक्ति की उपासना में लीन क्षत्री बली और युद्ध को ही जीवन का आधार मानते चले आये हैं। स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने वाले निर्भीक राजपूतों मे यहाँ प्राचीन शैव और शक्ति धर्म का बाहुल्य है वहाँ व्यापारी वर्ग जैन धर्म के प्रभाव मे आकर अहिंसा के अतिशयोक्ति पूर्ण स्वरूप को ही निर्वाण का एक मात्र साधन मान बैठा है। आर्यों की यज्ञ प्रथा मे अन्धविश्वासों का ऐसा समावेश हुआ है कि दयानन्द सरस्वती जैसे योगी भी उनके मिश्रण की नीव नहीं हिला सके। यहां के राजा अपने आपको राम और लक्ष्मण का वंशज मान कर यज्ञ आदि को महत्व देते रहे हैं। यज्ञ द्वारा ही राजपूतों की शुद्धि का सिद्धान्त इस बात का उदाहरण है कि ये लोग आर्य धर्म को प्राथमिकता देते थे। ईसा से 200 वर्ष पूर्व मौर्य वंश के समकालीन राजस्थानी राजा अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। कोटा, मेवाड और जयपुर के राजा भी सदा यज्ञ द्वारा ही विभिन्न संस्कारों का पालन करते रहे हैं। अश्वमेध यज्ञ तो सवाई जयसिंह के समय तक होते रहे हैं। राजा लोग जहाँ यज्ञ और शक्ति मां की पूजा में लीन थे वहां जन साधारण शिव और विष्णु की सरल उपासना से सन्तुष्ट था। व्यापारी वर्ग अहिंसा और जैन धर्म से प्रभावित रहा तो देहाती लोग स्थानीय सम्प्रदायों और सनातनी अन्ध विश्वासों के सहारे जीते रहे। राजस्थान जो अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये सजग था वह धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में भी देश के अन्य भागों से आगे निकल गया था। देश के सभी प्रमुख धर्म यहाँ लोकप्रिय थे, अनेकों सम्प्रदायों का उदय और अमरसत्तो की लम्बी तालिका इस बात का प्रमाण है कि राजस्थान की धार्मिक जागरूकता एक आन्दोलन थी। अब हम उन विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों का अध्ययन करें जिन्होंने मध्य व आधुनिक राजस्थान में एक धार्मिक आन्दोलन को बल प्रदान किया।

2. शैव धर्म—पशुपति शिव, प्रजननशक्ति का प्रतीक शिव, वेदों रुद्रदेव और भोले उपासकों का आशुतोष, प्राचीनतम काल से भारतीय ध का आधार है फिर भला राजस्थान किस प्रकार इस देवातिदेव की पूजा विमुख रह सकता था। भगवान शिव के अनेकों नाम थे। पशुपति, अघोरेश चन्द्र चूडामणि, पिनाकिन, शम्भू, गौरी पति, सोमेश्वर, भवानीपति, एकलि महादेव आदि नामों से राजस्थान में शंकर की उपासना की जाती थी। मेवा राज्य पर तो शिव की असीम कृपा समझी जाती थी और मेवाड़ के महारा अपने आप को श्री एकलिंग जी का दीवान मात्र मान कर राज्य करते थे यहाँ पर लकुलीश सम्प्रदाय के साधुओं का बड़ा प्रभाव रहा है। ये साधु ए लिंग भगवान की दिन में तीन बार पूजा करते थे। शौच और विसाव आदि निवृत होने के बाद दिन में अनेकों बार स्नान करते थे। लिंग पूजा पर ही ब देते थे और शिवलिंग पर जल चढ़ाना श्रेष्ठ पूजा व सफलता का साधन मान थे। मेवाड़ में आज दिन तक यह धारणा पूर्ण विश्वास रखती है कि मेवा राज्य महाराज श्री एकलिंग जी की कृपा से ही आज दिन तक चला आ रहा है। हाल ही में सम्पन्न लोक सभा के चुनावों में अनेक महाराज के विजयी होने पर उदयपुर के राणाजी ने श्री एकलिंग जी की पद यात्रा की थी। स्प है मेवाड़ का राजवंश शंकर का परम भक्त रहा है। यहाँ के लकुलीश साधु सम्प्रदाय का जीवन भी प्रभावशाली है। ये लोग जीवन भर ब्रह्मचारी रह कर शिव की उपासना करते हैं। सिर्फ लंगोटी और खड़ाऊँ धारण कर कड़ी सर्दी में भी नंगे रह कर जन साधारण को प्रभावित करते हैं। श्री एकलिंग जी के पुजारियों में कुछ महन्त अत्याधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली हुए हैं जिनमें हारीत, वेदांग मुनि, महेश्वर ऋषि, गुण ऋषि, तथा नरहरि आदि आचार्यों के नाम आज भी मेवाड़ में अपना सम्मान व स्थान रखते हैं। महत्व की बात यह है कि 17 वीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय के शिष्यों में से एक स्वामी ब्रह्मानन्द, बनारस के विख्यात सन्यासी ब्रह्म के नाम से जाने गये।[1]

जोधपुर में भी शिव का उतना ही महत्व था जितना मेवाड़ में। मारवाड़ में शिव के उपासक 'नाथों' के नाम से विख्यात रहे हैं। जोधपुर में शिव का महा मंदिर है और वहीं नाथों की गद्दी भी है। मारवाड़ के शासन में नाथों का बड़ा हाथ रहा है। इन नाथों को जोधपुर राज्य की ओर से बड़ा सम्मान और जागीरें भी दी जाती थीं। साधारणतः हर राजा से इन्हें बहुत सी जमीन प्राप्त थी जहाँ पुजारी खेती करवा कर स्वयं जीवन निर्वाह करते थे। नाथों की विभिन्नता यह है कि ये लोग अपना सब काम करते हैं, ...

1 डॉ० गोपीनाथ शर्मा—सोशल लाइफ इन मिडिवियल राजस्थान पृ० 183।

...नों पर ऊँची कानी टोपी लगाते थे, कानों में छेद कर बड़े बड़े कुंडल पहनते थे, मस्तक पर भभूती लगाते और जनता में शिवलिंग की उपासना का प्रचार करते थे।

इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त नागा, खाकी व सिद्ध लोग भी शिवधर्म के अनुयाई थे। नागा लोग अखाड़े बनाकर रहते थे, राज्य की तरफ से इन्हें जागीरें प्राप्त थीं। इनके महन्तों की सवारी हाथियों पर निकला करती थी और ये लोग आतंक स्थापित कर जनता से धन वसूल करते थे। नंगे रहना, शरीर पर भस्म लगाना बड़े बड़े लक्कड़ जलाकर अग्नि प्रज्वलित रखना, तथा अनेक शारीरिक कष्ट सह कर लोगों को अचरज में डालना इनका सामान्य काम था। ये लोग कठोर तपस्या करते थे, जो लोग दिखावा भी था और शारीरिक वासनामय इच्छाओं पर नियंत्रण रखने के लिये भी आवश्यक समझा जाता था। खाकी लोग भी इन्हीं की तरह जमात बना कर चलते थे। इनमें विद्वान व तपस्वी लोग भी होते थे किन्तु इनका जीवन बड़े ठाट बाट का होता था। सिद्ध लोगों का तरीका तो अलग ही था ये तांत्रिक विद्या व तपस्या के माध्यम से सिद्धि प्राप्त करना ही जीवन का ध्येय समझते थे और शिव के रुद्र रूप को मान्यता देते थे। श्मशानों में कठोर तपस्या और शिव मंत्रों का उच्चारण इन्हें सिद्धि दिलाता था और ये जीते जी अपने आप को शिव का अंग मानने लगते थे। इस प्रकार, लकुलीश, नाथ, नागा खाकी व सिद्ध, अनेक सम्प्रदाय राजस्थान में अपने अपने तरीकों से भगवान शिव की पूजा व प्रचार में लीन थे। राजस्थान में शिवलिंग व चतुर्मुख शिव की अधिक पूजा होती रही है। कदाचित ही कोई गाँव या कस्बा ऐसा हो जिसकी प्रत्येक बस्ती में एक, दो शिव मन्दिर नहीं हों। राजाओं ने भी इस प्रकार के मन्दिरों के निर्माण में [illegible] रानी नानिक देवी ने अचलेश्वर [illegible] कर दिया। उदयपुर में महा- [illegible] ...ीर देकर इस स्थान का महत्व [illegible] ...ा के पहाड़ पर महाकाल का [illegible] ...ण में भी शैव धर्म सबसे लोक [illegible] ...र सोमवार पर लगन से शिव [illegible] सोमवार के दिन गाँव गाँव में [illegible] ...र का सब वर्गों में लोकप्रिय होना [illegible] अनुयायी सदा बहुसंख्य रहे हैं।

3. वैष्णव धर्म—शैव धर्म की तरह वैष्णव धर्म भी राजस्थान के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। सामान्यतः राजपूत राजा अपने आप को राम या लक्ष्मण का वंशज मानते हैं इसलिये विष्णु की उपासना परम व प्रधान

2. शैव धर्म—पशुपति शिव, प्रजननशक्ति का प्रतीक शिव, वेदों का रुद्रदेव और भोले उपासकों का आशुतोष, प्राचीनतम काल से भारतीय का आधार है फिर भला राजस्थान किस प्रकार इस देवातिदेव की पू विमुख रह सकता था। भगवान शिव के अनेकों नाम थे। पशुपति, अचले चन्द्र चूडामणि, पिनाकिन, शम्भु, गौरी पति, सोमेश्वर, भवानीपति, एवं महादेव आदि नामों से राजस्थान में शंकर की उपासना की जाती थी। मे राज्य पर तो शिव की असीम कृपा समझी जाती थी और मेवाड़ के महार अपने आप को श्री एकलिंग जी का दीवान मात्र मान कर राज्य करते यहाँ पर लकुलीश सम्प्रदाय के साधुओं का बड़ा प्रभाव रहा है। ये साधु ए लिंग भगवान की दिन में तीन बार पूजा करते थे। शौच और पिशाब आदि निवृत होने के बाद दिन में अनेकों बार स्नान करते थे। लिंग पूजा पर ही ब देते थे और शिवलिंग पर जल चढ़ाना येष्ठ पूजा व सफलता का साधन मान थे। मेवाड़ में आज दिन तक यह धारणा पूर्ण विश्वास रखती है कि मेवा राज्य महाराज श्री एकलिंग जी की कृपा से ही आज दिन तक चला आ रह है। हाल ही में सम्पन्न लोक सभा के चुनावों में बनेड़ा महाराज के विजय होने पर उदयपुर के राणाजी ने श्री एकलिंग जी की पद यात्रा की थी। स्प है मेवाड़ का राजवंश शंकर का परम भक्त रहा है। यहाँ के लकुलीश साधु सम्प्रदाय का जीवन भी प्रभावशाली है। ये लोग जीवन भर ब्रह्मचारी रह कर शिव की उपासना करते हैं। सिर्फ लंगोटी और खड़ाऊँ धारण कर कड़ी सर्दी में भी नगे रह कर जन साधारण को प्रभावित करते हैं। श्री एकलिंग जी के पुजारियों में कुछ महन्त अत्याधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली हुए हैं जिनमें हारीत, वेदाग मुनि, महेश्वर ऋषि, गुण ऋषि, तथा नरहरि आदि आचार्यों के नाम आज भी मेवाड़ में अपना सम्मान व स्थान रखते हैं। महत्व की बात यह है कि 17 वीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय के शिष्यों में से एक स्वामी र नन्द, बनारस के विख्यात सन्यासी सन्त के नाम से जाने गये।[1]

जोधपुर में भी शिव का उतना ही महत्व था जितना मेवाड़ वाड़ में शिव के उपासक 'नाथों' के नाम से विख्यात रहे हैं। का महा मंदिर है और वहीं नाथों की गद्दी भी है। मार नाथों का बड़ा हाथ रहा है। इन नाथों को जो सम्मान और जागीरें भी दी जाती थी। मा माफी की जमीन प्राप्त थी जहाँ पुजारी थे। नाथों की विशेषता यह है कि

1 डॉ० गोपी
पृष्ठ ।

ार्मिक सहिष्णुता मे पूर्ण विश्वास रखते थे और
तलवार के धनी राजपूतो के इस देश मे अहिंसा
न्ति सरोवर समान इस भूमि पर हिलोरे मारता
प्रदेशो मे विशेष लोकप्रिय है। एक मैसूर और
के आक्रमणो के साथ बौद्ध धर्म तो भारत मे
। धर्म सुदूर दक्षिण और राजस्थान के सुरक्षित
हैं कि मध्यकालीन और आधुनिक युग मे राज-
ो के ही आधीन रहा। अत जैन धर्म को यहाँ
प्रसार का अवसर मिलता रहा। राजस्थान मे श्वेताम्बर शाखा का
प्रचार हुआ। इनमें भी मन्दिरमार्गी और मुमती धारी अधिक लोक
। श्वेत वस्त्र धारण किये ये जैनी साधु अपनी सादगी, विद्वता और
कार्य के लिये आज भी प्रसिद्ध है। वैश्य लोगो मे जो दिन भर धन
में व्यस्त रहते थे, रात्री मे उपासरों मे आकर धर्म की कथाओ का
करना बहुत लोकप्रिय था। यही कारण है कि राजस्थान का धनीवैश्य
धर्म का अनुयायी होता गया। समृद्धि और अपरिग्रह का सयोग जो
ान के जैन धर्म में देखने को मिलता है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

जैन धर्म के अन्तर्गत समृद्ध जैनी ऐसे उपासरों का निर्माण कराते थे
साधु रहते थे और समय समय पर भक्तो मे से एक दो वृद्ध या युवा,
पुरुष बडी धूम धाम से साधु वृत ग्रहण कर जनता मे उत्साह भरते
। ये उपासरे प्रचार के साथ साथ शिक्षा के भी केन्द्र थे जहाँ साधु
शिक्षा सम्बन्धी चर्चा, व्याख्यान और वृत आदि दिया करते थे। यहाँ
मे अणु वृतों का प्रचार भी किया जाता था। कोई यौवन मे भरपूर
में शील वृत ग्रहण करता तो कोई अपनी प्रिय वस्तु का प्रयोग कुछ
के लिये छोड़कर सयम का अभ्यास करता। इन्ही उपासरों मे बडी बडी
का सग्रह किया जाता। समृद्ध जैनी अपनी धार्मिक पुस्तकों को अन्य
से लिखवा कर इन उपासरो मे सग्रह करते थे जो कालान्तर मे जाकर
सग्रहालयों में परिणत हो गये। जैन धर्म ग्रन्थ 12 अगो पर आधा-
जो पाँचवी शताब्दी मे जैन साहित्य राजस्थान मे उपलब्ध होने लगा
वेताम्बरो को दो वस्त्र धारण करने की स्वीकृति है और इनके ग्रन्थ
गधी मे हैं जो 'अग' कहलाते हैं। इनका सकलन लिखित रूप में पाँचवीं
ी मे हुआ था। इनके ग्रन्थ गृहस्थ स्त्री पुरुषो के लिये अलग-अलग
। भद्रबाहु द्वारा रचित 'कल्पसूत्र' जहाँ अपनी कथाओं के लिये लोक
है वहाँ एक आदर्श गृहणी व गुण सम्पन्न नारी के लिये 'गुण सुन्दरी' भी
महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह सभी साहित्य अब राजस्थान की
भाषाओ मे उपलब्ध हैं। दिगम्बरो का साहित्य चार भागों में 'वेद'

सी बन गयी। राम भी भगवान विष्णु के अवतारों मे से एक गिने जा[illegible] अतः विष्णु की उपासना के प्रति राजा व प्रजा दोनों की बशागत रुचि [illegible] आ रही है। इसी प्रकार कृष्ण के रूप मे भी विष्णु की उपासना ईसा लगभग दो शताब्दी पूर्व से चली आ रही है। विभिन्न शिलालेखो पर जो जय[illegible] उदयपुर आदि राज्यों में प्राप्त हुए हैं 'श्री राम जी' शब्द का प्रयोग सबसे प[illegible] व ऊपर किया गया है जो वैष्णव धर्म की लोकप्रियता का प्रतीक बन गया है [illegible] विष्णु की पूजा अनेक रूपो मे की जाती थी। राम, कृष्ण, बलराम-वासु[illegible] कृष्ण लीला, राधा-कृष्ण की कथाएँ, जन साधारण मे बहुत लोकप्रिय थी।

गाँव गाँव मे कृष्ण व राम के मन्दिर इस बात के प्रमाण हैं कि रा[illegible] स्थान की जनता वैष्णव धर्म मे कितना विश्वास रखती थी। मोखम [illegible] का बनवाया हुआ द्वारकाधीश का मन्दिर, कुम्भा द्वारा निर्मित चित्तौड़[illegible] कुंभलगढ़ का कुम्भश्याम मन्दिर, नाथ द्वारा का श्रीनाथ जी का मन्दिर, का[illegible] रोली का द्वारकाधीश का मन्दिर, पुष्कर का पुराना व नया रंगजी का मन्दिर जोधपुर मे घनश्याम जी का मन्दिर आज भी दूर दूर से भक्तो को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। भगवान कृष्ण की रासलीला और राधिका प्रेम तो मन्दिरों की सीमा पार कर कलाकारों की रूचो के माध्यम से राजप्रसादों, सग्रहालयों और आम जनता के घरों तक में लोक प्रिय हो गया। उदयपुर का सरस्वती भण्डार, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश और कोटा का सग्रहालय इस प्रकार के चित्रों मे आज धनी गिना जाता है। मन्दिरों की दीवारों पर भी कृष्ण लीला चित्रित की जाती थी। राम नवमी और जन्माष्टमी के त्योहार मन्दिरों मे बड़े के मुख्य त्योहार माने जाते हैं। रेवाड़ियों की सवारी निकालना तथा गणगौर का उत्सव मनाना सभी वैष्णव धर्म के प्रधान अग हैं।

राम भक्त हनुमान को जिस आस्था से इस भाग मे पूजा जाता है वह इस बात का प्रतीक है कि राम के प्रति राजस्थान में कितनी आस्था रही है। नवरात्रि मे राम की विजय पर हर्ष मनाना, व्रत रखना और रावण को जलाना आदि यहाँ के लोगों की राम भक्ति का प्रमाण है। पूरी रामलीला का नाटक और जन्माष्टमी पर कृष्ण की विभिन्न झाँकियों का प्रदर्शन इस देश में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता और गहरी जड़ों का प्रमाण है। यह गौरव की बात है कि विश्व विख्यात कृष्ण भक्त मीराबाई और [illegible] वे ही निवासी थे जिन्होंने कृष्ण प्रेम की महिमा को अपने [illegible] हमेशा के लिये अमर बना दिया। इसके अतिरिक्त जोधपुर के विजय सिंह और बीकानेर के पृथ्वीराज भी अपने युग के परम भक्त राजा थे जिनके कारण और सहयोग से वैष्णव धर्म राजस्थान मे और लोकप्रिय हो गया।

4 जैन धर्म—राजस्थान के राजा शैव या वैष्णव धर्म के अनुयायी

ते हुए भी राजधर्म या धार्मिक सहिष्णुता मे पूर्ण विश्वास रखते थे और
ही कारण है कि वीरों और तलवार के धनी राजपूतों के इस देश मे अहिंसा
प्रतीक जैन धर्म भी शान्ति सरोवर समान इस भूमि पर हिलोरे मारता
हा। जैन धर्म भारत के दो प्रदेशो मे विशेष लोकप्रिय है। एक मैसूर और
के आक्रमणों के साथ बौद्ध धर्म तो भारत से
धर्म सुदूर दक्षिण और राजस्थान के सुरक्षित
हैं कि मध्यकालीन और आधुनिक युग मे राज-
ो के ही आधीन रहा। अत जैन धर्म को यहाँ
रक्षा व प्रगति का अवसर मिलता रहा। राजस्थान मे श्वेताम्बर शाखा का
धिक प्रचार हुआ। इनमे भी मन्दिरमार्गी और मुखपट्टी धारी अधिक लोक
प्रिय थे। श्वेत वस्त्र धारण किये ये जैनी साधु अपनी सादगी, विद्वता और
चार कार्य के लिये आज भी प्रसिद्ध है। वैश्य लोगो मे जो दिन भर धन
मार्जन मे व्यस्त रहते थे, रात्रि मे उपासरों मे जाकर धर्म की कथाओं का
श्रवण करना बहुत लोकप्रिय था। यही कारण है कि राजस्थान का धनीवैश्य
र्ग इस धर्म का अनुयायी होता गया। समृद्धि और अपरिग्रह का सयोग जो
राजस्थान के जैन धर्म में देखने को मिलता है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

जैन धर्म के अन्तर्गत समृद्ध जैनी ऐसे उपासरों का निर्माण कराते थे
जनमें साधु रहते थे और समय समय पर भक्तो मे से एक दो वृद्ध या युवा,
स्त्री या पुरुष बड़ी धूम धाम से साधु व्रत ग्रहण कर जनता मे उत्साह भरते
रहते थे। ये उपासरे प्रचार के साथ साथ शिक्षा के भी केन्द्र थे जहाँ साधु
न्त शिक्षा सम्बन्धी चर्चा, व्याख्यान और व्रत आदि दिया करते थे। यहाँ
जनता मे अणु व्रतों का प्रचार भी किया जाता था। कोई यौवन से भरपूर
अवस्था मे शील व्रत ग्रहण करता तो कोई अपनी प्रिय वस्तु का प्रयोग कुछ
समय के लिये छोड़कर सयम का अभ्यास करता। इन्हीं उपासरों मे बड़ी बड़ी
पुस्तकों का सग्रह किया जाता। समृद्ध जैनी अपनी धार्मिक पुस्तकें को अन्य
लोगों से लिखवा कर इन उपासरो में सग्रह करते थे जो कालान्तर मे जाकर
बड़े बड़े सग्रहालयों मे परिणत हो गये। जैन धर्म ग्रन्थ 12 अगो पर आधा-
रित है जो पाँचवीं शताब्दी से जैन साहित्य राजस्थान मे उपलब्ध होने लगा
। श्वेताम्बरो को दो वस्त्र धारण करने की स्वीकृति है और इनके ग्रन्थ
अर्धमागधी मे है जो 'अग' कहलाते हैं। इनका सकलन लिखित रूप में पाँचवीं
शताब्दी में हुआ था। इनके ग्रन्थ गृहस्थ स्त्री पुरुषो के लिये अलग-अलग
होते है। भद्रबाहु द्वारा रचित 'कल्पसूत्र' जहाँ अपनी कथाओं के लिये लोक
प्रिय है वहाँ एक आदर्श गृहणी व गुण सम्पन्न नारी के लिये 'गुण सुन्दरी' भी
अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह सभी साहित्य अब राजस्थान की
प्रचलित भाषाओं मे उपलब्ध है। दिगम्बरो का साहित्य चार भागों में 'वेद'

के नाम से सकलित है किन्तु इसका अभी सभी भाषाओं में अनुवाद नहीं मिलता। अनेक आत्मवाद, स्याद्वाद और परलोक सुधारने की भावना इस धर्म ने जनसाधारण मे फैला दी है।

राजस्थान के जैनी अधिकतर मूर्तियों की स्थापना करते रहे हैं और महावीर स्वामी, पार्श्वनाथ और ऋषभदेव की मूर्तियाँ व मन्दिर बनवाते रहे हैं। जो आज भी जैन धर्म की लोकप्रियता का प्रमाण बन हमारे सामने खड़े हैं। चार हजार फुट की ऊँची पहाड़ी पर खड़े संगमरमर के देलवाड़ा मन्दिर अपनी छटा व सौन्दर्य के साथ जैन धर्म की समृद्धि व लोकप्रियता के गीत आज भी गाते हैं। इसी प्रकार कुम्भाकालीन राणकपुर के 85 शिखरों वा जैन मन्दिर जिसे मूर्तियों की भरपूर अश्लीलता के लिये वैश्या मन्दिर भी कहा गया है, देलवाड़ा का प्रतिबिम्ब और जैन धर्म के बढ़ते प्रभुत्व का प्रतीक है। अजमेर मे ढाईदिन का झोपड़ा और सोनी जी की नसियाँ भी प्राचीन व आधुनिक जैन परम्पराओ के मिलन का आधार है। यहाँ तक कि चित्तौड़गढ के हृदय मे आसित जैन मन्दिर इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि पराक्रमी क्षत्री राजा जहाँ रक्त की नदियाँ बहा सकते थे वहा अहिंसा के इस प्रतीक धर्म को भी पूरा सम्मान व स्नेह देते थे। राजस्थान के अनेकों स्थानों पर जैनियों के शिलालेख मिले हैं जिन पर मूर्ति स्थापना और वृत प्रगति अंकित है। राजस्थान मे जैन धर्म की सबसे बड़ी देन हस्तलिखित धर्म साहित्य की प्रतिलिपियाँ हैं जो जीवन के अनेक महत्वपूर्ण अगो पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। इसी साहित्य ने जैन धर्म को अमर बना दिया है।

5. **शक्ति पूजा**—कदाचित ही कोई राजस्थानी ऐसा हो जो राजपूतों के इस अभिवादन शब्द से परिचित न हो कि हर राजपूत नमस्ते या राम राम न कह कर 'जय माताजी री' कहता है। बलि देते समय, शत्रु पर आक्रमण करते समय या किसी भी कार्य का आरम्भ करते समय राजपूत मुख से इसी शब्द का आह्वान करते हैं। राजस्थान के उस युग का जीवन बलिदान, त्याग, युद्ध, भय और मृत्यु से अधिक जुड़ा हुआ है। राज्य शक्ति पर आधारित था, शौर्य मे जब आराधना जुड़ी तो शक्ति माँ का स्वरूप अधिक सबल हो गया। काली माँ, अम्बिका, दुर्गा, जोगमा, भगवती, योगेश्वरी, अरण्यवासिनी व अष्टमात्रिका आदि रूपो मे माता की पूजा होने लगी जिसमें वात्सल्य, शक्ति और विजय का समावेश देखा गया। स्थान स्थान पर शक्ति माँ की पूजा होने लगी और राजाओ ने स्वय माँ के विशाल व महत्वपूर्ण मंदिरो की स्थापना [illegible] चित्तौड का कालीमाँ का मंदिर, गोगुन्दा मे शीतला का मन्दिर, देशनोक [illegible] का मन्दिर इस बात के उदाहरण हैं कि शक्ति माँ की आराधना [illegible] मे लोकप्रिय थी। इसी माता मे जन साधारण ने लक्ष्मी, पार्वती, [illegible] सरस्वती, सावित्री और सतोपी माता का रूप देखा और थोड़े थोड़े

स्तोत्र के प्रस्तर पर यह शक्ति माँ विभिन्न नामों व रूपों में पूजी गयी। राजस्थान के स्त्री समाज की जितनी आस्था इन देवियों की पूजा में है उतनी देवताओं की आराधना में नहीं है। सन्तोषी माता में जन समुदाय ने दुर्गा पार्वती और लक्ष्मी का रूप पाया है। योग्यवर की प्राप्ति के लिए हर शुक्रवार को हजारों लोग चने व गुड लिये इस माता के मन्दिर में उमड पड़ती हैं और माता उनकी मनोकामना पूर्ण कर अपनी आस्था बनाये है। राजस्थान में जो रूप में देवी पूजा का जो विलक्षण प्रभाव देखने को मिलता है वह अन्यत्र नहीं है।

6. इस्लाम धर्म—महमूद गजनी के समय से राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश माना जाता है। वैसे 12 वीं शताब्दी से इस धर्म का राजस्थान में प्रचार शुरू हुआ। देश के अन्य भागों को जीतकर तो सुल्तानियत काल के शासकों ने शक्ति व तलवार के जोर से इस्लाम का प्रचार किया जिसमें कश्मीर, पंजाब, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, बिहार व बंगाल प्रमुख हैं किन्तु भारत के इस भाग पर उनका स्थाई अधिकार कभी नहीं रहा और उनके तूफानी व विनाशकारी आक्रमण राजस्थान के धार्मिक विश्वासो को शक्ति से नहीं डिगा सके। राजस्थान में इस्लाम का प्रचार सन्तों और फकीरों के माध्यम से हुआ। अजमेर के ख्वाजा मुइनउद्दीन चिश्ती का नाम कौन नहीं जानता। इनकी दरगाह पर हज करने के लिये दूर-दूर देशों से यात्री आते हैं। अकबर को भी ख्वाजा साहब की कृपा से ही जहाँगीर जैसा एक मात्र पुत्र प्राप्त हुआ था। ख्वाजा साहब ने अपनी सरल और सहज भावना से इस धर्म को लोकप्रिय बना दिया। उन्हीं के व्यक्तिगत प्रभाव से राजस्थान में इस्लाम का प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त नागौर, मेड़ता, जालौर, और मांडल में भी फकीरों की शक्ति द्वारा इस्लाम का प्रचार हुआ। आज दिन भी उन फकीरों व पीरों की दरगाह पर वार्षिक मेले होते हैं और जन साधारण की यह मान्यता है कि उनके संकट इन पीरों की आराधना से दूर हो जाते हैं। राजस्थान के राजा सदा सहिष्णुता का पालन करते थे। उन्होंने जहाँ जैन व अन्य धर्मों के मन्दिरों की स्थापना में खुले हाथ से दान दिया था वहाँ वे इस्लाम धर्म को भी पूर्ण संरक्षण प्रदान करते थे। महाराज अजीतसिंह और जगतसिंह ने ख्वाजा साहब की दरगाह के अजमेर के आसपास कई गाँवों की जागीर भी भेंट दी थी। अकबर के समय से तो मुगलों के अधीन आ जाने के कारण अजमेर में इस्लाम का केन्द्र ही बन गया और सभी बादशाहों ने दरगाह के गठन व विस्तार में पूरा योग दिया। किन्तु समय समय पर कट्टर शासकों की अधीनता में तोड़-फोड़ की नीति अपना कर शासकों ने इस्लाम के प्रति शत्रु भावना को दिया और इस क्षेत्र में इस्लाम की प्रगति को धक्का लगा। 20 मुसलमानों में कटुता बढ़ी किन्तु साथ साथ रहने के कारण ये एक दूसरे

प्रभावित करते रहे और सांस्कृतिक समन्वय ने एक नई सभ्यता को जन्म दिया। राजपूत राजाओं ने मुसलमान कलाकारों व शिल्पियों को अपने यहाँ स्थान देकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

7 विश्नोई सम्प्रदाय—विश्नोई धर्म के जन्मदाता जाम्भोजी का जन्म जोधपुर के पीपासर गाँव में सन् 1451 ई० में हुआ था। आप जन्म से राजपूत थे किन्तु मारवाड़ की मर्दमशुमारी के अनुसार जब ये 15 वर्ष के तो इनके माता-पिता का देहान्त हो गया और लोग इन्हें गूंगा कह कर पुकारते थे। 34 वर्ष की अवस्था तक इन्होंने अपनी जबान से एक शब्द भी नहीं बोला और 1485 ई० में अपने धार्मिक विचारों का प्रचार शुरू किया और 41 वर्ष तक प्रचार करने के बाद 1526 ई० में इनको स्वर्ग प्राप्त हुआ। कुछ हिन्दी शोध विद्यार्थियों की धारणा है कि ये विष्णु के अवतार थे और अपने अनुयाइयों से दिन में पाँचों वक्त विष्णु की पूजा करने को कहते थे। जाम्भोजी मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते थे और ईश्वर के निराकार रूप की आराधना करते थे। अग्नि में घी की आहुति देकर यज्ञ करने के पक्ष में थे जिससे इनके विचारों पर आर्य धर्म का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। इनमें धार्मिक सहिष्णुता भी बहुत थी किन्तु फिर भी अन्य धर्मों की आलोचना करते थे। खास तौर पर जैन धर्म इनकी आलोचना का केन्द्र रहता था। ईश्वर को निराकार मानते हुए भी उन्होंने उसे राम, कृष्ण, अल्ला आदि कई नामों से संबोधित किया है। इनका ग्रन्थ जम्भवाणी या शब्द वाणी राजस्थानी भाषा में लिखा गया है जो अपने साहित्य के लिये आज भी लोकप्रिय है। जाम्भोजी ने शिष्य प्रणाली को अपनाया जो आज भी प्रचलित है। इनके अनुयायियों को विश्नोई इसलिये कहा गया कि इनके उपदेश बीस और नौ थे। इस प्रकार इनको विश्नोई कहा गया। इनकी शिक्षाओं में वैष्णव, आर्य, जैन और इस्लाम धर्म की श्रेष्ठ बातों का समन्वय साफ झलकता है। इनके अनुयाई इन्हें विष्णु का अवतार समझ कर आज भी पूजते हैं। इनके उपदेशों का आधार या सार इस प्रकार है। ये गृहस्थ में भी संयम को महत्त्व देते हैं —

बच्चा होने पर स्त्री से 30 दिन तक काम न लें तथा रजस्वला स्त्री को पाँच दिन अलग रखें, एक औरत में सन्तुष्ट रहें। ये सब बातें गृहस्थ नियम से सम्बन्धित हैं। रोज स्नान करना, सन्तुष्ट रहना, साँझ की आरती करना, अग्नि में घी की आहुति देकर यज्ञ करना और पाँच बार विष्णु का नाम लेना आदि उपदेश वैष्णव धर्म का प्रभाव लगते हैं। चोरी न करना, झूठ न बोलना, हिंसा न करने देना, सोचकर बोलना, क्रोध न करना, पर निन्दा न करना, वृक्ष न काटना, क्षमाभाव को मन रखना आदि जैन धर्म के ही सिद्धान्तों ... रूप है। जाम्भोजी जानवरों की रक्षा पर भी जोर देते हैं भेड़, बकरी और बैल को बधिया न करने का आदेश देते हैं। इस प्रकार इनके बीस उपदेश

समान पुराने धर्मों के समान ही है। जाम्भोजी पर प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का भी प्रभाव था और वे नशीले पदार्थों के सेवन का विरोध करते हैं। अपने भी उपदेशों में वे तम्बाकू, शराब, अफीम और भंग का प्रयोग वर्जित करते हुए अधिक चमक-दमक के कपड़े न पहनने व संसार से अधिक मोह न करने का आदेश देते हैं। अन्त में वाद-विवाद से दूर रह कर सबके ऊपर दया रखने को कहते हैं। जाम्भोजी के उपदेशों में जानवरों को अमर कर देने व नशीले पदार्थों को त्यागने पर जो जोर दिया गया है वह उनकी अपनी मौलिकता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही जा रही है जो इसकी सरलता और लोकप्रियता का प्रतीक है।

8. भक्ति आन्दोलन—युग की प्रगति जिज्ञासु प्राणी के आध्यात्मिक उत्थान का आधार बन जाती है। साथ ही विभिन्न धर्मों की आपसी प्रतियोगिता नये मूल्यों को जन्म देती है और ऐसे समय में भक्तों की आराधना, विचारकों का चिन्तन और आडम्बरों पर प्रतिबन्ध शुरू हो जाते हैं जिसे विद्वान सहज ही धार्मिक आन्दोलन या भक्ति आन्दोलन का नाम दे देते है। आर्य धर्म के एकाधिकार और सर्वोतेपन को महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने चुनौती दी। पिछली कई शताब्दियों से देश धार्मिक कर्मकाण्ड व अन्ध-विश्वासों में डूबा जा रहा था। मुगलों के आगमन ने हिन्दू धर्म के अस्तित्व को एक बड़ी चुनौती दी थी। भारतीय और इस्लामी सभ्यता का समन्वय सागर के तूफान की तरह सब कुछ बदल देना चाहता था। जन-साधारण का विश्वास डांवाडोल और अस्थिर था ऐसी दशा में मन को शान्ति और विश्वासों को बल देने वाले भक्त ही होते हैं और मध्य व आधुनिक राजस्थान में भी इस प्रकार के भक्तों की विस्तृत कतार ने धर्म में सुधार और नये प्रवाह का संचार किया। रूढ़ीवाद का स्थान ईश्वर भक्ति ने ले लिया। मुसलमानों ने जब मन्दिरों को ढमाना और मूर्तियों को तोड़ना शुरू किया तो जन-साधारण बिना मूर्ति के अपने प्रभु का चिन्तन करने लगा। ठीक यही दशा राजस्थान की हुई, भजन, मनन, गायन और कीर्तनों पर लोगों ने अत्यधिक ध्यान दिया। सत्संग और हृदय के विचारों की शुद्धि पर ध्यान देकर सब धर्मों में समानता खोजी जाने लगी। ईश्वर और फादर, माँ और मदर में समानता देखी गयी। राम और रहीम को एक माना गया तो यही एक धार्मिक आन्दोलन बन गया। आन्दोलन के फल स्वरूप अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिनका संक्षिप्त [illegible] ही यहाँ हम आवश्यक समझते हैं। ये सम्प्रदाय निम्नांकित हैं।

9. मीरां सम्प्रदाय—मीरा प्रेम और भक्ति की दीवानी थी। [illegible]गिरी के प्रति आकुलता ने उसके गीतों को इतना सरस, मीठा और [illegible]ना दिया है कि वह कृष्ण भक्ति में यदि सूरदास जी की साहित्यिकता को

पा सकती तो भी काव्य के रस-दर्द और मिठास मे सूरदास से आगे निकल जाती है। अपने जोगी की दीवानी मीरा का आराध्य कोई साधु या योगी था अथवा वह कृष्ण की दीवानी थी इस विषय को लेकर समालोचकों ने साहित्य के क्षेत्र में मीरा के श्वेत वस्त्रों पर अपने कलुषित मन की कालिमा को पोतने की अनन्त चेष्टा की है किन्तु बादलों मे पूनम का चाँद नहीं छिपता, सत्य पर मिथ्या का परदा सदा नही रहता उसी प्रकार कृष्ण की दीवानी मीरा को यदि राजस्थान की राधा कहे तो भी कम होगा। साहित्यकारों का आधार लेकर इतिहासकार मीरा के प्रेम को लौकिक और राणा के सन्देह को सत्य मान लेते हैं वे धर्म-भक्ति और आराधना का ही मखौल नहीं उड़ाते वरन अपने असंतुष्ट मन की दुर्गन्ध से मीरा के अध्ययन को दूषित करना चाहते हैं। साहित्य वह चर्चित और मेवाड के राजकुमार की पत्नि मीरा का सारा जीवन दुःख, असफलता और विरोध से भरा पड़ा है। जीवन के कटु अनुभवों और सांसारिक ठोकरों ने मीरा के प्रेम को तपे सोने की तरह पवित्र बना दिया और मीरा के गीतों मे वासना की खोज करने वाले उसके वास्तविक स्वरूप के दर्शन से वंचित रह गये।

यहाँ मीरा के लौकिक जीवन का भी संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना उपयुक्त रहेगा। मीरा का जन्म मारवाड के एक गाँव कुड़की मे हुआ था। इसके पिता रतनसिंह, मेड़ता के शासक दूदाजी के चौथे पुत्र थे। मीरा अपने पिता की इकलौती बेटी थी। जब मीरा छोटी ही थी तभी उसकी माता का देहान्त हो गया था और मीरा का लालन-पालन उसकी दादी ने मेड़ता में किया था। मीरा के दादा-दादी कृष्ण के परम भक्त थे और मीरा बचपन से ही कृष्ण-भक्ति के गीत गाया करती थी। ओझा जी का कहना है कि एक बरात को देखकर मीरा ने अपनी दादी से पूछा कि 'मेरा दुल्हा कहाँ है ?' इस पर दादी ने कहा कि तुम्हारा दुल्हा गिरधर गोपाल है।[1] इस प्रकार के भक्ति वातावरण में पली मीरा विवाह से पहले ही कृष्ण को अपना दुल्हा मान चुकी थी। मीरा का जन्म लगभग 1499 ई० के माना जाता है। कर्नल टाड मीरा को राणा कुम्भा की पत्नी बताते हैं जो सत्य नहीं है। दोनों के विचारों का मेल शारीरिक गठबंधन का आधार नहीं हो सकता। कुम्भा भी कृष्ण भक्त था और मीरा भी। वास्तव मे युवा होने पर मीरा का विवाह राणा सांगा के पाटवी कुँवर भोजराज से किया गया। विवाह के समय मीरा की आयु 19 वर्ष थी किन्तु गोपीनाथ जी विवाह के समय मीरा की आयु काफी कम मानते हैं। उनके अनुसार 1519 में मीरा के पति का भी देहान्त हो गया और उनका पति ... से ही मर गया था।[2] गोपीनाथ जी स्वयं मीरा का जन्म 1498-99 ई०

1 ओझा— उदयपुर राज्य का इतिहास भाग I, पृष्ठ 359

2 डॉ॰ गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 513

में मानते हैं। इस दशा में विधवा होते समय मीरा की आयु 16 वर्ष से भी कम आती है। और डॉ० आसोपा के अनुसार "विवाह के दो तीन साल बाद ही भोजराज का देहान्त हो गया।"* इस प्रकार यदि मीरा के जन्म दिन पर दोनों विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मीरा 1499 में जनमी हो या इससे भी कुछ साल पहले इन तर्कों से यह स्पष्ट है कि युवा होते होते मीरा विधवा हो गयी। उसके रूप की सराहना करने वाला, उसे सांसारिक सुख देने वाला जीवन साथी उसकी नय्या को बीच मझधार में छोड़ कर चला गया और 1530 ई० में तो उसके ससुर राणा सांगा का भी देहान्त हो गया। उसका पिता रतनसिंह भी खानवा के युद्ध में बाबर के विरुद्ध लड़ता लड़ता मारा गया था। मीरा अनाथ और विधवा दोनों हो गयी। शेष जीवन को हरि चरणों में समर्पित कर वह जनम-मरण से छुटकारा पाना चाहती थी। उसे जीवन से बड़ी शिकायत थी। उसकी विरक्ति और प्रभु प्रेम को मेवाड़ के राजघराने में एक अभिशाप समझा गया। वह साधु सन्यासियों का आदर सत्कार करने लगी और युवती विधवा बहू पर राणाजी का सन्देह सहज और स्वाभाविक था। मीरा पर कई कहानियां घड़ ली गयी। मीरा का रवैया मेवाड़ के घराने की बहू बेटियों के रवैये से भिन्न था। इस असाधारण स्त्री को जहर पीने के लिये बाध्य किया गया, सांपों से कटवाया गया किन्तु गिरधर की प्रेयसी, कृष्ण की मीरा का [illegible] कोई नष्ट न कर सका। इन कहानियों में सत्य इतना ही है कि मीरा को [illegible] का विरोध सहना पड़ा। वह घर छोड़कर वृन्दावन चली गयी जहां [illegible] गोस्वामीजी को कृष्ण निर्गुण व सगुण रूप का बोध कराया। यहीं वृन्दावन में रहते रहते एक दिन रणछोड़ की मूर्ति के आगे नृत्य करती मीरा अपने [illegible] में लीन हो गयी। मीरा का निर्वाण 1540 में माना जाता है।

मीरा के नाम पर आज जो साहित्य सामने आता है वह छ पुस्तकों —(1) पदावली (2) नरसी रो मायरो (3) राग सोरठ (4) राग गोविन्द (5) सत्य भामाजी नु रूसणू और (6) गीत गोविन्द टीका।

किन्तु वास्तव में मीरा द्वारा रचित तो एक ही पदावली लगती है। 'गीत गोविन्द' की टीका तो कुम्भा ने मीरा से बहुत पहले लिख दी थी। 'सत्य भामाजी नु रूसणू' एक गुजराती भाषा की रचना है जिसके वास्तविक रचयिता वल्लभ हैं। 'राग सोरठ और राग गोविन्द' तो केवल राग रागनियां हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। 'नरसीजी रो मायरो' साफ सुथरी भाषा में है जिसका ज्ञान मीरा को हो गया होगा लेकिन इस ग्रन्थ का रचयिता रतना खाती को माना जाता है। इतने पर भी लगभग 250 पद मीरा के लिखे हैं जो उसे ईश्वर भक्त और अमर कवि बना देते हैं।

---

* डॉ० जयनारायण आसोपा—पत्राचार अध्ययन—पाठ 18 पृष्ठ 5.

, जातपांत, तीर्थयात्रा व जादू टोना में इन्हें विश्वास नहीं था। बिना गुरु ज्ञान नहीं मिलता तथा उपासना, अहिंसा, प्रेम भाव और भक्ति से ही मुक्ति व है। इन पर कबीर का भी प्रभाव था। उनके शब्द हृदय को स्पर्श के निकल जाते थे। ये कई भाषाओं के जानकार थे और इनकी सरल ा ही इनकी लोकप्रियता का मूल कारण थी। आज भी राजस्थान में के अनुयायी काफी हैं।

12. अन्य सन्त—राजस्थान की अधिकांश जनता अशिक्षित है और अन्य धर्मों के ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने में असमर्थ है। उन्हें के एक सूत्र में बांधने का कार्य लोकिय नायकों ने किया जिन्हें हम अन्य सन्त कह कर सम्बोधित कर रहे हैं। यह तो विश्वविख्यात ही के राजस्थान में जन सेवा पर प्राण दे देने वालों को देवता समझ कर पूजा ता है। जो लोग आदर्श जीवन बिताकर समाज के लिये मर जाते हैं उन्हें दिन भी पूजा जाता है। अन्य सन्तों में हम जिन महापुरुषों का वर्णन करेंगे गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी, देवजी, मेहजी, सूराजी आदि [illegible] के नायक है होंने धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राण दे दिये। गोगाजी [illegible] की रक्षा हुए अपने प्राण दे दिये थे। तेजाजी, पाबूजी आदि ने सादा [illegible] अपने सरल उपदेशों से अपना स्थान अमर कर लिया। आज भी [illegible] गावों में हर वर्ष इन महापुरुषों की याद में मेले लगते हैं। ऐसी मान्यता है ये पवित्र आत्माएँ अपने स्थानों पर आज भी उनके भोपों में आती रहती और आस पास के ग्रामीण निश्चित दिनों पर इन स्थानों में आकर ों के माध्यम से अपने कष्टों का निवारण करते रहते हैं। इन सन्तों के यम से यदि अन्ध विश्वास का प्रसार हुआ है फिर भी भक्ति और आस्ता सजीव रखने में ये सफल हुए हैं। जहाँ अशिक्षित लोग धर्म की गूढ़ता को समझते वहाँ ये स्थानीय देवता एकता और धर्म के प्राण बनकर जन-रण में सहयोग देते हैं।

सहायक ग्रन्थ

1. डॉ० दशरथ शर्मा	राजस्थान थ्रू दी एजेज
2 ,, ,,	दी अर्ली चौहान डाइनेस्टीज
3. डॉ. भण्डारकर	फौरन एलिमेण्ट्स इन हिन्दू पौप्युलेशन।
4 रैप्सन	भारतीय मुद्राएँ।
5. डॉ० रघुवीरसिंह	पूर्व आधुनिक राजस्थान
6. वी. ए. स्मिथ	ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया।
7 ,, ,,	महान मुगल अकबर
8 रायचौधरी	हिस्ट्री ऑफ मेवाड़।
9 सी वी. वैद्य	हिस्ट्री ऑफ मिडिवियल हिन्दू इंडिया।
10. डॉ डी बी. सिंह	हिस्ट्री आफ दी चौहान्स।
11. आर सी. मजूमदार	दी स्ट्रगल फार एम्पायर
12. ,, ,,	दी क्लासीकल एज।
13. डॉ. लाल	खिलजी वंश का इतिहास
14 डौडवैल	दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग 3
15 नीलकंठ शास्त्री	ए काम्प्रीहैन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग 5
16 डॉ० कानूनगो	स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री
17. ,, ,,	शेरशाह एण्ड हिज टाईम्स
18 रशब्रुक विलियम	एन एम्पायर बिल्डर ऑफ दी सिक्सटीन्थ सेन्चुरी।
19 सर विलियमली वारनर	दी नेटिव स्टेट्स ऑफ इंडिया।
20 डॉ ईश्वरी प्रसाद	हुमायूँ एण्ड हिज टाइम्स।
21. इलियट एण्ड डौसन	तारीख-ए-शेरशाही।
22 ,, ,,	दी हिस्ट्री ऑफ इंडिया, टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन।
23. डॉ बेनी प्रसाद	हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर।
24 डॉ. ए एल. श्रीवास्तव	अकबर महान।
25. ,, ,,	दिल्ली सल्तनत

26 अबुलफजल
27 निजामुद्दीन अहमद
28. इलियट
29 ग्राड डफ
30 डॉ यदुनाथ सरकार
31 ,, ,,
32 सरदेसाई
33 ,, ,,
34 डॉ एस आर शर्मा
35 डॉ सतीशचन्द्र
36 बर्नियर
37 मुंशी देवी प्रसाद
38 ,, ,,
39 डॉ दिघे

40 मिन्हा
41. डॉ. बयरा
42 पी. ई. राबर्ट्स
43 डॉ मोहनसिंह मेहता
44 परसी ब्राउन
45 परसी ब्राउन
46 रधावा
47 लादूराम व्यास
48. कुमार स्वामी
49 डॉ० ताराचन्द

50. विल्सन
51 डॉ० गोपीनाथ शर्मा
52. ,, ,,
53. ,, ,,
54 ,, ,,
55. ,, ,,
[illegible] ,, ,,
कवि श्यामलदास
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

अकबर नामा।
ताजु-के-अकबरी।
तबकात-ए-अकबरी।
हिस्ट्री ऑफ मराठाज।
औरंगजेब
फाल ऑफ मुगल एम्पायर
शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स।
मराठों का नवीन इतिहास भाग 2
भारत में मुगल साम्राज्य।
पार्टीज एण्ड पौलिटिक्स इन मुगल कोर्ट।
ट्रेवल्स इन दी मुगल एम्पायर।
शाहजहाँ नामा।
महाराणा संग्रामसिंह।
बाजीराव एण्ड दी नार्थ वर्ड एक्सपैंशन ऑफ दी मराठाज।
मिलट्री सिस्टम ऑफ द मराठाज
कंपनी और जयपुर राज्य के संबंध।
इंडिया अंडर वैलेजली।
लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड इंडियन स्टेट्स।
हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्कीटेक्चर।
इंडियन पेंटिंग्स
इंडियन पेन्टिंग
भारतीय चित्रकला
राजपूत पेंटिंग्स
इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर
रिलीजियस सैक्ट्स ऑफ दी हिन्दूज
राजस्थान का इतिहास
दी सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान
राजस्थान स्टेडीज
ऐतिहासिक निबन्ध संग्रह
मेवाड एण्ड दी मुगल एम्परर्स।
एविग्रसियो ग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान
वीर विनोद भाग 1 से 5
उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 व [illegible]

59. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा — जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2
60. " " — जयपुर राज्य का इतिहास।
61. " " — बीकानेर राज्य का इतिहास
62. " " — बाँसवाड़ा व डूंगरपुर राज्य का इतिहास
63. " " — राजपूताने का इतिहास, भाग 1 व 2
64. सुखवीरसिंह गहलोत — राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास
65. " " — राजपूताने का इतिहास (सभी भाग) या सम्पूर्ण खण्ड
66. जगदीशसिंह गहलोत — मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध
67. जेम्स टाड — राजस्थान का इतिहास (अनु० ईश्वरी प्रसाद)
68. मुहणोत नैणसी — नैणसी की ख्यात
69. चन्दबरदायी — पृथ्वीराज रासो
70. बाँकीदास — ऐतिहासिक बातें
71. पण्डित विश्वेश्वर नाथ रेऊ — मारवाड़ का इतिहास, भाग 1 व 2
72. " " — ग्लाईस ऑफ मारवाड़
73. पण्डित रामकरण आसोपा — मारवाड़ का मूल इतिहास
74. " " — हिस्ट्री ऑफ दी राठौर्स।
75. डॉ० मथुरालाल शर्मा — कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2
76. " " — जयपुर राज्य का इतिहास ,, ,,
77. डॉ. वी. एस. भार्गव — मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स
78. " " — राजस्थान का इतिहास
79. " " — राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
80. डॉ घासीराम परिहार — मारवाड़ मराठा रिलेशन्स
81. डॉ के. एस. गुप्ता — मेवाड़ मराठा रिलेशन्स
82. " " — बनेड़ा संग्रहालय अभिलेख, भाग 1 व 2
83. डॉ आर पी व्यास — रूल ऑफ नोबिलिटि इन मेवाड़
84. सी. यू. विल्स — ए रिपोर्ट ऑफ दी लैंड टेन्योर एण्ड स्पेशल पावर्स ऑफ सर्टेन ठिकाणा ऑफ दी जयपुर स्टेट
85. डॉ. हीरालाल माहेश्वरी — राजस्थानी भाषा और साहित्य
86. केरे — हिस्ट्री ऑफ गुजरात
87. हरविलास शारदा — महाराणा कुम्भा
88. " " — महाराणा सांगा

89 रामवल्लभ सोमानी
90 प्रो श्रीराम शर्मा
91. भूरसिंह शेखावत
92. अमर सार
93. डॉ. आर. एन प्रसाद
94. डॉ मिस रामप्यारी शास्त्री
55 इल्लू इल्लू वैद
96. प. जीवधर
97. मोहन भट्ट
98 सूर्यमल मिश्र
99. मुन्शी ज्वाला सहाय माथुर

महाराणा कुम्भा
महाराणा प्रताप
महाराणा यशप्रकाश
प्रताप वर्णन
राजा मानसिंह ऑफ आमेर
जालिमसिंह
करस्मीज आफ दी हिन्दु स्टेट्स
राजपूताना
अमर सार
जगतसिंह शास्त्र
वंश भास्कर
वकाये राजपूताना